१० - वा वर्ष 1954

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

वैशाख : २४८० ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक पहला

संपादक
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अपूर्व भावना

हे भाई! तू भावना तो स्वभाव की कर! स्वभाव की भावना करने के लिये प्रथम यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय कर। यथार्थ वस्तु को पहिचाने बिना मिथ्यात्वादिक भावों को ही अनादिकाल से भाया है, किन्तु चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि भावों का सेवन करे तो अल्पकाल में मोक्ष हुए बिना न रहे। परम चैतन्यस्वभाव की भावना से जो सम्यग्दर्शनादि पवित्र भाव प्रगट हों, वे ही धर्म और कल्याणरूप है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१०९]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

आत्मधर्म

वैशाख : २४८० ★ वर्ष दसवाँ ★ अंक पहला

अहो ! अपने पुनीत प्रभाव द्वारा जिन्होंने अनेक मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में प्रेरित किया है...और भ्रष्ट तथा अन्य अनेक जीवों को वात्सल्य पूर्वक पुनः सन्मार्ग में दृढ़रूप से स्थापित किया है ऐसे इन त्रिकाल मंगलस्वरूप पवित्र आत्मा परम पूज्य गुरुदेव की पुनीत शरण में रहकर अपूर्व आत्मकल्याण की उपासना करते हुए मुमुक्षुजनों के हृदय आनंद से अति उल्लसित होते हैं और उनके चरणों में मस्तक झुक जाता है।

हे कृपानिधि, पूज्य गुरुदेव ! आप आत्मार्थी जीवों के हृदय के आराम और जीवन के आधार हो...घोर अंधकार में भटकते हुए अनेक जिज्ञासु जीवों को कल्याण-मार्ग की पगडंडी आपके ही पुनीत प्रताप से प्राप्त हुई है...हम मुमुक्षुओं के जीवन में आपका महान उपकार है...सर्व मंगल प्रसंगों में आपका ही महान उपकार है...आप हमारे आत्मोद्धारक हैं...इसलिये हमारे अंतर में से ध्वनि उठती है कि:—

"स्वस्ति श्री सद्गुरवे"

* चैतन्यभानु का उदय *

[वैशाख शुक्ला-२]

(१) आज, भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(२) सूर्य उदित होकर रात्रि के अंधकार का नाश करे उससे पूर्व तो अज्ञान-अंधकार का नाश करने वाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(३) भव्यजीवों के संसार-समुद्र को सुखा देनेवाले उग्र चैतन्यभानु का उदय हुआ...

आत्मधर्म

वैशाख : २४८० ★ वर्ष दसवाँ ★ अंक पहला

अहो! अपने पुनीत प्रभाव द्वारा जिन्होंने अनेक मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में प्रेरित किया है... और भ्रष्ट तथा अन्य अनेक जीवों को वात्सल्य पूर्वक पुनः सन्मार्ग में लक्ष्य से स्थापित किया है ऐसे इन त्रिकाल मंगलस्वरूप पवित्र आत्मा परम पूज्य गुरुदेव की पुनीत शरण में रहकर अपूर्व आत्मकल्याण की उपासना करते हुए मुमुक्षुजनों के हृदय आनंद से अति उल्लसित होते हैं और उनके चरणों में मस्तक झुक जाता है।

हे कृपानिधि, पूज्य गुरुदेव! आप आत्मार्थी जीवों के हृदय के आराम और जीवन के आधार हो... घोर अंधकार में भटकते हुए अनेक जिज्ञासु जीवों को कल्याण-मार्ग की पगडंडी आपके ही पुनीत प्रताप से प्राप्त हुई है... हम मुमुक्षुओं के जीवन में आपका महान उपकार है... सर्व मंगल प्रसंगों में आपका ही महान उपकार है... आप हमारे आत्मोद्धारक हैं... इसलिये हमारे अंतर में से ध्वनि उठती है कि:—

"स्वस्ति श्री सद्गुरवे"

※ चैतन्यभानु का उदय ※

[वैशाख शुक्ला-२]

(१) आज, भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(२) सूर्य उदित होकर रात्रि के अंधकार का नाश करे उससे पूर्व तो अज्ञान-अंधकार का नाश करने वाले चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(३) भव्यजीवों के संसार-समुद्र को सुखा देनेवाले उग्र चैतन्यभानु का उदय हुआ...

(४) अज्ञान-अंधकार में भटकने वाले जीवों को मुक्तिमार्ग के प्रकाशक चैतन्य-भानु का उदय हुआ...

(५) जैनशासनरूपी आकाश में एक जगमगाते हुए चैतन्यभानु का उदय हुआ...

❀

हे साधर्मी बंधुओ....!

(१) चलो ! उस चैतन्यभानु की दिव्य किरणों को झेलकर आत्मकमल को विकसाएँ...

(२) चलो ! उस चैतन्यभानु के दिव्य तेज को झेलकर अज्ञान-अंधकार को मिटाएँ...

(३) चलो ! उस चैतन्यभानु के दिव्य प्रताप को 'झेलकर भव्यसमुद्र को सुखा दें...

(४) चलो ! उस चैतन्यभानु के दिव्यप्रकाश में मुक्तिमार्ग पर गमन करें...

(५) चलो ! उस चैतन्यभानु से जैनशासन को दीप्त करें...

पहले....

''ज्यां जोउं त्यां नजरे पडतां राग ने द्वेष हा ! हा !
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती पुण्य ने पाप गाथा।
जिज्ञासुने शरणस्थल क्यां ? तत्त्वनी वात क्यां छे ?
पूछे कोने पथ पथिक ज्यां आंधळा सर्व पासे।''

अब....

''ज्यां जोउं त्यां नजरे पडतो शुद्ध आत्मा ज आहा !
ज्यां जोउं त्यां श्रवणे पडती शुद्ध आत्मानी वार्ता।
जिज्ञासुने शरणस्थल अहीं; तत्त्वनी वात अहीं छे,
पूछे आवी पथपथिक सौ ज्ञानीओ छे ज पासे।''

✱

'जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, प्रगट है, उस पुरुष के बिना अन्य कोई उस आत्मस्वरूप का कथन करने योग्य नहीं है; और उस पुरुष से आत्मा जाने बिना

दूसरा कोई कल्याण का उपाय नहीं है; उस पुरुष से आत्मा जाने बिना "आत्मा जाना है"—ऐसी कल्पना मुमुक्षु जीव को सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।'

'आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग,
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।'

....परमश्रुत....

"सदा दृष्टि तारी विमल निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्ति मांही द्रव्य-गुण-पर्याय विलसे;
निजालम्बी भावे परिणति स्वरूपे जई भले,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मले।"

....अपूर्व वाणी....

"अहो वाणी तारी प्रशमरस भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विषतणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दौड़े परिणति।"

卐 जो जीव आत्मार्थी हो वह क्या करता है? 卐

'सेवे सद्गुरु चरणने, त्यागी दई निज पक्ष; पामे ते परमार्थने निजपदनो ले लक्ष।'
'प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार; त्रणे योग एकत्वथी वर्ते आज्ञाधार।'
'अहो अहो! श्रीसद्गुरु, करुणासिंधु अपार आ पामरपर प्रभु कियो अहो अहो उपकार।'
'शुं प्रभु चरण कने धरूं, आत्माथी सौ हीन; ते तो प्रभुने आपियो, वर्तुं चरणाधीन।'
'देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत; ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणीत।'

"जिन सत्पुरुषों ने जन्म, जरा, मरण का नाश करने वाला, स्व-स्वरूप में सहज अवस्थान होने का उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषों को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार हो। जिनकी निष्कारण करुणा का नित्यप्रति निरंतर स्तवन करने में भी आत्मस्वभाव प्रगट होता है ऐसे सर्व सत्पुरुष, उनके चरणारविंद सदैव हृदय में स्थापित रहें!'

पाव घंटा

[आत्मार्थी जीव प्रतिदिन स्वाध्याय-मनन अवश्य करें]

आत्महित के लिये प्रतिदिन स्वाध्याय और मनन करना चाहिए। जिसे आत्मा की लगन लगी हो वह स्वाध्याय और मनन के बिना एक दिन भी नहीं चला सकता। जिसप्रकार व्यसनी मनुष्य का अपनी व्यसन की वस्तु के बिना एक दिन भी नहीं चल सकता उसीप्रकार आत्मार्थी जीव को आत्मा के स्वाध्याय मनन का व्यसन लग जाता है। जैसे हो वैसे सद्गुरु के साक्षात् समागम में रहकर आत्मा का श्रवण-मनन करना चाहिए; और जब सद्गुरु के साक्षात् सत्समागम का योग न बन सके उस समय उनकी आज्ञानुसार शास्त्र-पठन और मंथन करना चाहिए। "प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहि, त्यां आधार सुपात्र।" प्रत्यक्ष सद्गुरु के योग मे रहकर श्रवण-मनन करना वह सुपात्र जीवों को आधार-रूप है। श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य छह कर्तव्यों में स्वाध्याय को भी एक कर्तव्य माना है। प्रतिदिन नये-नये प्रकार के पठन-मनन से आत्मार्थी जीव अपने ज्ञान की निर्मलता बढ़ाता जाता है। चाहे जैसे संयोग में और चाहे जैसी प्रवृत्ति में पड़ा हो तथापि प्रतिदिन चौबीस घंटे में से घंटे-दो घंटे का समय तो स्वाध्याय-मनन में लगाना ही चाहिए; अरे! अन्तिम से अन्तिम—कम से कम पाव घन्टा तो प्रतिदिन निवृत्ति लेकर एकान्त में शांतिपूर्वक आत्मा की स्वाध्याय और विचार तो करना ही चाहिए। प्रतिदिन पाव घन्टा पठन-मंथन में व्यतीत करे तो भी महीने में साढ़े सात घन्टे होते हैं; तथा प्रतिदिन सत् स्वाध्याय मनन करने से अंतर में उसके संस्कार सदा बने रहते हैं और दृढ़ता होती जाती है। यदि स्वाध्याय मनन बिलकुल छोड़ दे तो उसके संस्कार भी छूट जायेंगे। निवृत्ति लेकर आत्मा का विचार करने के लिये भी जिसे अवकाश नहीं है, तो फिर विकल्प तोड़कर आत्मा के अनुभव का अवसर उसे कहाँ से प्राप्त होगा? इसलिये आत्मार्थी जीवों को चाहे जैसे क्षेत्र में या प्रवृत्ति में भी निरंतर अमुक समय तो अवश्य ही सत् की स्वाध्याय और मनन करना चाहिए। "मैं तो जगत से भिन्न हूँ, मेरा जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है, जगत के किसी भी कार्य का भार मुझपर नहीं है; मैं तो असंग चैतन्यतत्त्व हूँ"—इसप्रकार निवृत्त होकर घड़ी-दो घड़ी भी आत्मा का चिंतन-मनन करना चाहिए। सत्पुरुषों की वाणी का अंतर में बारबार चिंतन-मनन करना अनुभव का उपाय है।

[—रात्रिचर्चा से]

उपादान की योग्यता

(उपादानविधि निरवचन है निमित्त उपदेश)

समय-समय का उपादान स्वाधीन-स्वयंसिद्ध है। अहो ! ऐसी स्वतंत्रता की बात लोगों को अनंतकाल से नहीं जमी है, और पराश्रय को मानकर भटक रहे हैं। जिसे उपादान की स्वाधीनता का निर्णय नहीं है उस जीव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

उपदेश में तो अनेक प्रकार से कथन आता है; वहाँ अज्ञानी निमित्त के और व्यवहार के कथन को ही पकड़ लेता है; परन्तु उस कथन का परमार्थ आशय क्या है उसे वह नहीं समझता। क्या किया जाये ! स्वयं अंतर में पात्र होकर वस्तुस्थिति समझे तो समझ में आये; उसकी पात्रता के बिना ज्ञानी क्या करें ? उसकी अपनी पात्रता के बिना साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी उसे नहीं समझा सकते। उपादान की योग्यता के बिना दूसरा क्या करे ? उपादान में योग्यता हो तो दूसरे में निमित्तरूप उपचार आता है।

अहो ! जहाँ देखो वहां उपादान की विधि का एक ही प्रकार है। अमुक समय अमुक प्रकार की पर्याय क्यों हुई ?—तो कहते हैं कि ऐसी ही उस उपादान की योग्यता। सम्यग्दर्शन क्यों हुआ ?—तो कहते कि पर्याय की वैसी योग्यता से। इस प्रकार उपादान निरवचन है अर्थात् उसमें एक ही प्रकार है, एक ही उत्तर है, 'ऐसा क्यों ?'—तो कहते हैं—'ऐसी ही उपादान की योग्यता।'

यह मुख्य ध्यान रखना चाहिए कि—'उपादान की योग्यता'—ऐसा जो बारम्बार कहा जाता है वह त्रिकाली शक्तिरूप नहीं है, परन्तु एक समय की पर्याय रूप है; प्रति-समय की पर्याय में अपनी स्वतंत्र शक्ति है उसे उपादान की योग्यता कही जाती है। समय-समय की पर्याय के स्वतंत्र उपादान की लोगों को खबर नहीं है, इसलिये निमित्त आये तो पर्याय हो—ऐसा भ्रम से मानते हैं; उसमें अकेली संयोगी—पराधीन दृष्टि है। एक-एक

समय की पर्याय का स्वतंत्र उपादान!—उसका निर्णय करने में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। वस्तुस्वरूप ही यह है; परन्तु इस समय तो लोगों को यह बात कठिन हो रही है।

उपादान की योग्यता कहो, पर्याय की शक्ति कहो, अवस्था की योग्यता कहो, स्वकाल कहो, काललब्धि कहो, अपना उत्पाद कहो, अपना अंश कहो, क्रमबद्ध पर्याय कहो, नियत कहो या उसप्रकार का पुरुषार्थ कहो—यह सब एक ही हैं; इन में से यदि एक भी बोल का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें सब आजाता है। निमित्त के कारण कुछ परिवर्तन या विलक्षणता हो—यह बात तो कहीं रहती ही नहीं।

उपदेश में तो अनेक प्रकार से निमित्त से कथन आता है, परन्तु वहाँ सर्वत्र उपादान की स्वतंत्रता को दृष्टि में रखकर उस कथन का आशय समझना चाहिए। मूल दृष्टि ही जहाँ विपरीत हो, वहाँ शास्त्रों के अर्थ भी विपरीत ही भासित होते हैं। कुछ लोग बड़े त्यागी या विद्वान माने जाते हों तथापि उपादान-निमित्त संबंधी उन्हें भी विपरीत दृष्टि होती है; उनके साथ इस बात का मेल नहीं बैठ सकता। यथार्थ तत्व की दृष्टि बिना लोगों ने यों ही त्याग की गाड़ियाँ हाँक दी हैं। अरे, तत्त्वनिर्णय की दरकार भी नहीं करते! परन्तु तत्त्वनिर्णय के बिना सच्चा त्याग नहीं होता, इसलिये वह त्याग भी भाररूप है।

उपादान की विधि निरवचन कही, उसका अर्थ यह है कि उसमें एक ही प्रकार है; जितने प्रश्न पूछो उन सबका एक ही उत्तर है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है वहाँ-वहाँ उपादान की योग्यता से ही होता है; निमित्त मात्र अपनी योग्यता से उपस्थित रहते हैं।

❀ ज्ञानावरण के कारण ज्ञान अटका?—नहीं; अपनी योग्यता के कारण ही ज्ञान अटका है।

❀ गुरु के कारण ज्ञान हुआ?—नहीं; अपनी योग्यता से ही ज्ञान हुआ है।

❀ कुंभार ने घड़ा बनाया?—नहीं; मिट्टी की योग्यता से ही घड़ा बना है।

❀ अग्नि से पानी गर्म हुआ?

—नहीं; अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है।

❀ आटे में से स्त्री ने रोटी बनाई ?—नहीं, आटे की योग्यता से ही रोटी बनी है।

❀ कर्म के उदय के कारण जीव को विकार हुआ ?—नहीं; जीव की पर्याय में वैसी योग्यता के कारण ही विकार हुआ है।

—इसप्रकार सर्वत्र एक ही उत्तर है कि उपादान की वैसी योग्यता से ही कार्य होता है। निमित्त भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के भले हों, परन्तु उन निमित्तों ने उपादान में कुछ नहीं किया है, और निमित्त तथा उपादान एकत्रित होकर कोई एक तीसरी अवस्था होती है—ऐसा नहीं है। उपादान की अवस्था पृथक् और निमित्त की अवस्था पृथक्। निमित्त के कारण उपादान में कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उपादान में उसका अभाव है। समय-समय का उपादान स्वाधीन-स्वयंसिद्ध है। अहो! ऐसी स्वतंत्रता की बात लोगों को अनंतकाल से नहीं जमी है, और पराधीनता मानकर भटक रहे हैं। उपादान की स्वाधीनता का जिसे निर्णय नहीं है उसमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसप्रकार उपादान में निमित्त का अभाव है उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानानंदस्वभाव की अभेददृष्टि में सारा व्यवहार अभूतार्थ है; शुद्धदृष्टि का विषय एकाकार शुद्धआत्मा है, उसमें भेद या राग नहीं है। जिसप्रकार उपादान में 'पर्याय की योग्यता'—ऐसा एक ही प्रकार है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन में 'आत्मा के अभेदस्वभाव का आश्रय'—ऐसा एक ही प्रकार है। देव-गुरु-शास्त्रादि परनिमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है—यह बात तो दूर रही, परन्तु अपने आत्मा में गुण-गुणी के भेद करके आत्मा को लक्ष में लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; भेद के आश्रय से अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। यदि भेद के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। 'मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं चारित्र हूँ, अथवा मैं अनंत गुणों का पिण्ड अखण्ड आत्मा हूँ'—इसप्रकार शुभ विकल्प करके उस विकल्परूप व्यव-

भार का ही जो अनुभवन करता है, परन्तु विकल्प तोड़कर अभेद आत्मा का अनुभवन नहीं करता वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। सम्यक्त्वी को वैसा विकल्प आता है, परन्तु उनकी दृष्टि अपने भूतार्थस्वभाव पर है, विकल्प और स्वभाव के बीच उसे भेद होगया है, भूतार्थ स्वभाव की निर्विकल्प दृष्टि (-निर्विकल्प प्रतीति) उसके सदैव प्रवर्तमान रहती है। देखो, यह धर्मात्मा की अन्तर्दृष्टि! ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना किसीके धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

—(मानस्तंभ-प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रवचन से)

शांति का स्थान

देखो भाई! शांति आत्मा के स्वभाव में है; आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शांति से भरपूर है, उसकी प्रतीति करके उसके अवलम्बन से ही शांति का अनुभव होता है, इसके अतिरिक्त बाह्य में लाखों प्रयत्न करने पर भी जीव को सच्ची शांति नहीं मिलती, क्योंकि आत्मा की शांति आत्मा से दूर नहीं है; शांति का स्थान आत्मा में ही है। ज्ञानी तो ऐसा जानते हैं इसलिये निज स्वभाव का बहुमान चूककर उन्हें पर का बहुमान नहीं आता। और अज्ञानी स्वभाव की शांति को नहीं जानता इसलिये बाह्य पदार्थों की महिमा में वह ऐसा एकाकार हो जाता है कि मानों वहीं आत्मा की शांति भरी हो, और आत्मा में तो मानो कुछ हो ही नहीं! किन्तु भाई! तेरी शांति तो यहाँ है या वहाँ? जहाँ शांति का समुद्र भरा है—ऐसे अपने स्वरूप को भूलकर मात्र पर के बहुमान में रुक जाये और उसी में संतोष मान ले तो उसे आत्मा की शांति का किंचित्मात्र लाभ नहीं होगा, और उसका संसार-परिभ्रमण दूर नहीं होगा। इसलिये यहाँ तो आत्मा की अपूर्व समझ की बात को मुख्य रखकर ही सारी बात कही है। आत्मा की समझ ही शांति का मूल है।

[—मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

साधक के आँगन में मोक्ष का मंडप
और
सिद्धों की स्थापना

[अपूर्व सम्यग्दर्शन की रीति]

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय, चैत्र शुक्ला १ के दिन दोपहर के प्रवचन से]

सिद्ध दशा की साधना के लिये निकले हुए साधक जीव अपने मोक्ष के मण्डप में भगवान को उतारते हुए कहते हैं कि—हे सिद्ध भगवान! मेरे आत्मा में विराजो!.. मैं अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ...द्रव्यदृष्टि से जिसने अपने आत्मा को सिद्धसमान प्रतीत में लिया उसीने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की...उसके आँगन में मोक्ष का मण्डप लग गया...अब अल्पकाल में उसे सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी!

❀ ❀ ❀

अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व-अचिंत्य-महिमावंत वस्तु है; सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन बदल जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ उसके चैतन्य-आँगन में मुक्ति का मंडप लग गया, उसके आत्मा में सिद्ध भगवान के संदेश आ गये.. उसे अनंतभव में परिभ्रमण करने की शंका दूर हो गई और अल्पकाल में मुक्ति होने का निःशंक विश्वास प्रगट हुआ।—ऐसा अपूर्व-परम-अचिंत्य सम्यग्दर्शन प्रगट करने का क्या उपाय है वह इस लेख में पढ़े!

यह भगवान की प्रतिष्ठा का महोत्सव है। आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना करके ही आचार्यदेव ने समयसार का प्रारम्भ किया है। जिसप्रकार पुत्र के विवाहोत्सव प्रसंग पर बारात में बड़े-बड़े श्रीमंतों को साथ रखता है कि जिससे पुत्रवधू को लिये बिना वापिस न आना पड़े। उसीप्रकार यहाँ साधक जीव अपने मोक्ष के मण्डप में भगवान को उतारता है। सिद्ध दशा की साधना के लिये निकले हुए साधक कहते हैं कि हे सिद्ध भगवान! मेरे आत्मा में विराजो; मैं अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ। आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की, इसलिये अब मेरी

सिद्धदशा लौट नहीं सकती, अल्पकाल में वह दशा प्रगट होकर ही रहेगी। जिसने अपने आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना की वह जीव व्यवहार के आश्रय से लाभ नहीं मानता, किन्तु सिद्ध जैसे अपने भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करके मोक्ष का महोत्सव मनाने की यह बात है। वास्तव में द्रव्यदृष्टि के बिना आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना नहीं होती। पर्यायदृष्टि से देखें तो आत्मा में विकार है; उस विकार की दृष्टि छोड़कर, द्रव्य-दृष्टि से जिसने अपने आत्मा को सिद्ध-समान प्रतीति में लिया उसी ने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की...उसके आँगन में मोक्ष का मण्डप लग गया... अब अल्पकाल में उसे सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

देखो, यह पंचकल्याणक का महान् महोत्सव है और सम्यग्दर्शन की अपूर्व बात आई है। सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म का प्रारम्भ कैसे होता है? चौथा गुण-स्थान कैसे प्रगट होता?—उसकी यह बात है। आत्मा के भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा का धर्म शरीर–मन–वाणी में, मकान में या तीर्थक्षेत्र के पर्वत पर नहीं है, धर्म तो जीव की अपनी पर्याय में है; और जीव का अधर्म भी बाह्य में नहीं है, अधर्म भी अपनी पर्याय में है। जो जीव अपने चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर पर से धर्म मानता है उसके पर्याय में मिथ्याश्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप अधर्म है। यह अधर्म दूर करके धर्म प्रगट करना चाहता है। यह धर्म होने की शक्ति वस्तु में है। आत्मा के स्व-भाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्म होता है। यदि वस्तु में धर्म होने की शक्ति न हो तो वह कहाँ से आयेगा? जिसे सम्यग्दर्शन की—शांति की—आनन्द की—धर्म की आवश्यकता हो उसे कहाँ देखना चाहिए? सुख–शांति का धाम कहाँ है?—शरीरादि पर में तो शांति या सुख नहीं है, राग में भी सुख या शांति नहीं है; जो सम्यग्दर्शन और शांति प्रगट करना चाहता हो उसकी वर्तमान पर्याय में सम्यग्दर्शन—शांति नहीं है; पर्याय का आश्रय करने से भी सुख या शांति नहीं होते; परन्तु आत्मा के ध्रुव चैतन्य-स्वभाव में सुख-शांति का सामर्थ्य है; उस भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही वर्तमान पर्याय में सुख–शांति–सम्यग्दर्शन–धर्म होते हैं। भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण है, इसलिये उसी का आश्रय करने योग्य है; व्यव-हार तो अभूतार्थ है इसलिये वह आश्रय करने योग्य नहीं है—उसके आश्रय से कल्याण नहीं होता। अभेद वस्तु का प्रतिपादन करते हुए बीच में भेद आता

अवश्य है, परन्तु वह भेदरूप व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है। अपने में अभेद स्वभाव का अवलम्बन करते हुए भेद का विकल्प आता अवश्य है, किन्तु वह आश्रय करने योग्य नहीं है; भेद या विकल्प के अवलम्बन में रुके तो सम्यग्दर्शन नहीं होता—अभेदरूप भूतार्थ स्वभाव की सन्मुखता से ही सम्यग्दर्शन होता है।

अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि जीव व्यवहार के आश्रय से धर्म मानते हैं; उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे मूढ़! व्यवहार के आश्रय से लाभ नहीं है; तेरा एकरूप चैतन्यस्वभाव भूतार्थ है, उसकी दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है, इसलिये भूतार्थ स्वभाव ही आश्रय करने योग्य है—ऐसा तू समझ! व्यवहार के अवलम्बन से आत्मा का परमार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं होता, शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा के परमार्थ स्वरूप को जानना वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन कतकफल के स्थान पर है यह बात दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। जैसे: पानी और कीचड़ एकमेक हों वहाँ मूर्ख लोग तो कीचड़ और पानी के विवेक बिना उस पानी को गंदा मानकर मैले पानी का ही अनुभव करते हैं, और पानी के स्वच्छ स्वभाव को जाननेवाले कुछ विवेकी-जन अपने हाथ से उस पानी में कतकफल डालकर पानी और कादव के विवेक द्वारा निर्मल जल का अनुभव करते हैं।—इसप्रकार पानी का दृष्टान्त है। उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में प्रबल कर्मों के संयोग से मलिनता हुई है; वहाँ जिन्हें आत्मा के शुद्ध स्वभाव और विकार के बीच का भेदज्ञान नहीं है—ऐसे अज्ञानी जीव तो आत्मा का मलिनता रूप ही अनुभव करते हैं। उन्हें यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि हे जीव! यह जो मलिनता दिखाई देती है वह तो क्षणिक अभूतार्थ है, वह तेरा चिरस्थायी स्वभाव नहीं है; तेरा असली—भूतार्थ स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यरूप है, उसे तू शुद्धनय द्वारा देख; शुद्ध नय द्वारा अपने आत्मा को कर्म और विकार से पृथक् जान। संयोगी दृष्टि से न देखकर शुद्धनय का अवलंबन लेकर आत्मा के भूतार्थ स्वभाव की पवित्रता का अनुभव करना वह सम्यग्दर्शन है। "भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो"—अर्थात् भूतार्थ-स्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है,—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का महान सिद्धान्त बतलाया है।

आत्मा के परमार्थ शुद्ध स्वभाव पर तो अज्ञानी की दृष्टि नहीं है, इसलिये कर्म के संयोग की और अशुद्धता की दृष्टि करने से उसको दृष्टि में अपना ज्ञायक एकाकार स्वभाव तिरोभूत हो गया है—ढँक गया है; कर्मों ने नहीं

ढँका परन्तु अपनी विपरीत दृष्टि से वह ढँक गया है। अज्ञानी जीव अंतर में अपने ज्ञायक स्वभाव को तो नहीं देखता और कर्म को ही देखता है, उसे 'पुद्गल कर्म के प्रदेश में स्थित' कहा है। कर्म के कारण विकार हुआ—ऐसा जो मानता है, अथवा तो आत्मा का मात्र विकारी-रूप से ही अनुभव करता है किन्तु शुद्धरूप से अनुभवन नहीं करता वह भी पुद्गल-कर्म में ही स्थित है, उसकी दृष्टि आत्मा की ओर उन्मुख नहीं हुई है।

ज्ञानावरणीय कर्म ने ज्ञान को रोका है—यह निमित्त का कथन है; वास्तव में कर्म ने ज्ञान को नहीं रोका है, परन्तु ज्ञानपर्याय अपनी योग्यता से हीन परिणमित हुई है और उसमें ज्ञाना-वरणीय कर्म निमित्त है—ऐसा बतलाने के लिये गोम्मटसार आदि में निमित्त से कथन किया है। यदि वास्तव में जड़ को जीव की पर्याय का कर्ता मानें तो वह ईश्वर को जगत्-कर्ता मानने जैसा ही हुआ। जिसप्रकार ईश्वर जीवों को स्वर्ग-नरकादि गतियों में ले जाने-वाला नहीं है, उसीप्रकार कर्म के कारण जीव को स्वर्ग-नरकादि कहना भी उप-चार से ही है, वास्तव में चारों गतियाँ तो जीव का औदयिक भाव है, वह जीव का स्वतत्त्व है—जड़ के कारण नहीं है। यहाँ तो उन औदयिक भावों से भी पार ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव को स्वतत्त्वरूप से बतलाया है; उसे जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। अभी तो जो जीव पर्याय का भी पर से होना मानता है, वह पर का लक्ष छोड़कर त्रिकाली निरपेक्ष तत्त्व को कहाँ से दृष्टि में लेगा? अज्ञानी जीव शुद्ध ज्ञानानंद जल का तो अनुभव नहीं करता, किन्तु आत्मा का अशुद्धरूप से ही अनुभव करता है, इसलिये उसकी दृष्टि कर्मों पर ही रहती है; इसीलिये उसे "पुद्गल-कर्म के प्रदेश में स्थित" कहा है।
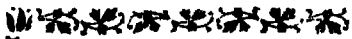
क्षणिक विकारी भावों को ही आत्मा मानकर जो अटक जाता है वह जीव व्यवहारमग्न है; "व्यवहार में मग्न" कहो या "पुद्गलकर्म के प्रदेश में स्थित" कहो—दोनों समान ही हैं। यहाँ आचार्य-भगवान समझाते हैं कि—भाई! तेरा त्रिकाल विद्यमान स्वरूप क्या है उसे पहिचान; उसे पहिचानने से ही सम्य-ग्दर्शन होकर तेरे भवभ्रमण का अंत आयेगा। इसके अतिरिक्त बाह्य ज्ञातृत्व कहीं सच्ची विद्या नहीं है—उससे कल्याण नहीं है; त्रिकाली विद्यमान ऐसे आत्मतत्त्व को जानना ही सच्ची विद्या है; उस विद्या से मुक्ति होती है। शुद्ध-नय कतकफल के स्थान पर है, इस-लिये जो शुद्धनय का आश्रय करके आत्मा के परमार्थ स्वरूप को देखते हैं वे ही आत्मस्वभाव का सम्यक् अव-लोकन करनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं; जो आत्मा के परमार्थ स्वरूप को नहीं देखते वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व–अचिंत्य–महिमावंत वस्तु है; सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन पलट जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ उसके चैतन्य-आँगन में मुक्ति का मण्डप लग गया, उसके आत्मा में सिद्ध भगवान का संदेश आ गया...उसकी अनंत भव में परिभ्रमण करने की शंका दूर हो गई और अल्पकाल में मुक्ति होने का निःशंक विश्वास प्रगट हुआ।—ऐसा अपूर्व–परम–अचिंत्य सम्यग्दर्शन प्रगट होने के लिए अंतर के चिदानंद परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन है ही नहीं। स्थूल दृष्टिवान जीवों ने सम्यग्दर्शन को पहिचाने बिना बाह्य से सम्यग्दर्शन मान लिया है; यहाँ आचार्यदेव ने शुद्धनय से भूतार्थ-स्वभाव का अवलम्बन कराके सम्यग्दर्शन का यथार्थ उपाय बतलाया है। इस उपाय से जो सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसके अल्पकाल में भव का अभाव हो जाता है।

आत्मा की समझ

सर्व प्रथम सत्समागम से आत्मा की सच्ची समझ करना वह भव-भ्रमण से छूटने का कारण है। अनंतकाल में जीव ने सबकुछ किया है परन्तु आत्मा की सत्य प्रतीति कभी नहीं की। आत्मा की सच्ची समझ अपूर्व है। यदि एक समय भी आत्मा को पहिचाने तो मुक्ति का मार्ग हुए बिना न रहे। आज समझे....कल समझे या दो-चार भव के बाद समझे...परन्तु आत्मा को समझने पर ही भव का अन्त हो सकता है, आत्मा को समझे बिना कभी भव का अन्त नहीं आयेगा।

—प्रवचन से

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

लेखांक १५] [अंक १०८ से आगे

❀ "प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है?"—ऐसा प्रश्न जिज्ञासु शिष्य करता है।

❀ उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि "आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंत नयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।

❀ ऐसे आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है; उसमें से २३ नयों के प्रवचन अभीतक दिये जा चुके हैं आगे यहां दिये जा रहे हैं।

(२४) ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से आत्मा का वर्णन

आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है; ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से देखने पर वह आत्मद्रव्य, भारी ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है।

जिज्ञासु शिष्य ने पूछा था कि प्रभो! यह आत्मा कैसा है? इसका स्वरूप क्या है? उसका यह उत्तर चल रहा है। आत्मा चैतन्यवस्तु है, उसमें अनंत धर्म हैं। वास्तव में आत्मा स्वयं अपने में है और पर पर में है; पर पदार्थ आत्मा में नहीं आजाते; परन्तु आत्मा का ज्ञानस्वभाव इतना विशाल है कि उसमें समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं। जिसप्रकार अग्नि के भारी समूह में अनेक जाति की लकड़ियाँ आदि जल रहे हों, वहाँ अग्नि की एक भारी ज्वाला ही दिखाई देती है; उसीप्रकार आत्मा की ज्ञानज्योति का ऐसा सामर्थ्य है कि वह समस्त ज्ञेयों को जान लेती है; उस अपेक्षा से ज्ञान मानों समस्त ज्ञेयों के साथ

अद्वैत हो !—ऐसा कहा है। अकेला ज्ञान मानों स्वयं अनंत पदार्थों रूप होता हो—ऐसा उसका समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव है। यह स्वभाव किन्हीं निमित्तों के या राग के कारण नहीं है; जगत में केवली भगवान आदि हैं इसलिये इस आत्मा में उनका ज्ञान करने का धर्म है—ऐसा नहीं है। ज्ञान करने का धर्म तो अपने कारण से ही है और ज्ञेय उनके अपने कारण से हैं; कोई किसी के कारण नहीं है।

ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ कभी एकमेक नहीं हो जाते; परन्तु ज्ञान-स्वभावी आत्मा में एक ऐसा स्व-पर प्रकाशक धर्म है कि लोकालोक के समस्त ज्ञेय मानों ज्ञान में अंकित हो गये हों- ऐसा ज्ञात होता है। पहले २००वीं गाथा में भी कहा था कि 'एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनंत, भूत-वर्तमान-भविष्य के विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाध स्वभावी और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्य मात्र को शुद्ध आत्मा एक क्षण में इसप्रकार प्रत्यक्ष करता है मानों वे द्रव्य ज्ञायक में अंकित हो गये हों...चित्रित हो गये हों...दब गये हों....खच गये हों....डूब गये हों...प्रतिबिम्बित हो गये हों!"—ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध के कारण ज्ञान और ज्ञेय मानों एकमेक हों—ऐसे प्रतिभासित होते हैं; तथापि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव की एकता को छोड़कर परज्ञेयों के साथ एक-मेक नहीं हो गया है। ज्ञान की ही ऐसी विशेषता है कि ज्ञेय उसमें ज्ञात होते हैं; परन्तु कहीं ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता। भगवान की वाणी थी इसलिये उसके कारण आत्मा को ज्ञान हुआ ऐसा नहीं है; सामने साक्षात तीर्थंकर भगवान या उनकी प्रतिमा विराजमान थी इसलिये उस ज्ञेय के कारण ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है; सम्मेदशिखर या गिरनारजी तीर्थ थे इसलिये उन ज्ञेयों के कारण उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है; और उन-उन प्रकार के ज्ञेयों का ज्ञान आत्मा में नहीं होता—ऐसा भी नहीं है। आत्मा का ही अपना जानने का स्वभाव है इसलिये वह जानने रूप

परिणमित होता है; वहाँ स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के कारण पर ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होने से, आत्मा मानों उन ज्ञेयों के साथ एकमेक हो गया हो—ऐसा ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैत-नय से भासित होता है; ऐसा भी आत्मा का एक धर्म है। इस धर्म से देखें तो भी अनंत धर्मवाला शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही अंतर में दिखाई देता है। ऐसा चैतन्य-स्वभाव ख्याल में लिये बिना श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते, और सच्चे श्रद्धा-ज्ञान के बिना चाहे जितने व्रत, तप, आदि के शुभभाव करे तथापि उससे जीव का किंचित हित नहीं होता। शुभभावों से सांसारिक संयोगों की प्राप्ति होती है, परन्तु स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति नहीं होती।

आत्मा का स्वभाव क्या?—ज्ञान। ज्ञान के अतिरिक्त इस जड़ शरीर-मन-वाणी को लक्ष में से छोड़ दो और अंतर की शुभ-अशुभ वृत्तियों को भी लक्ष में से छोड़ दो; उन सबसे पार अंतर में अकेले ज्ञान को लक्ष में लो; वह ज्ञानस्वभावी आत्मा है। ऐसा आत्मा वास्तव में पर ज्ञेयों से पृथक् है, परन्तु उसके ज्ञान में परज्ञेय ज्ञात होते हैं इस-लिये ज्ञान और ज्ञेय का अद्वैत हो ऐसा कहा जाता है। जिसप्रकार कंडे-लकड़ी इत्यादि अनेकप्रकार के ईंधन को जलानेवाली अग्नि एक ही मालूम होती है; उसमें लकड़ी-कंडे अलग-अलग दिखाई नहीं देते; उसीप्रकार ज्ञाता स्वभाव द्वारा आत्मा स्वयं अपने ज्ञान में परिणत होकर अनंत ज्ञेय पदार्थों के ज्ञानरूप परिणमित होता है, वहाँ मानों समस्त ज्ञेय-पदार्थोंरूप से एक ज्ञान ही परिणमित हो गया हो—ऐसा ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से प्रतिभासित होता है। देखो, यहाँ ज्ञान और ज्ञेय का एकत्व सिद्ध नहीं करना है, परन्तु ज्ञान-सामर्थ्य में समस्त ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं—ऐसा सिद्ध करके आत्मा का ज्ञानस्वभाव बतलाना है। पर-ज्ञेय तो त्रिकाल पर में ही रहते हैं; परन्तु ज्ञान में ज्ञात होने की अपेक्षा से उन्हें ज्ञान के साथ अद्वैत कह-

कर ज्ञान का सामर्थ्य बतलाया है। अनंत सिद्ध आदि ज्ञेय हैं उनके कारण उनका ज्ञान होता है ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञान का ही ऐसा दिव्य सामर्थ्य है इसलिये ज्ञान स्वयं ही वैसे ज्ञेयों के प्रतिभासरूप से परिणमित होता है, ज्ञान की ही इतनी विशालता है कि समस्त ज्ञेयों के ज्ञानरूप से स्वयं एक ही भासित होता है।

जिसप्रकार अग्नि का ऐसा स्वभाव है कि रुई की हजारों गांठों को और लकड़ियों के ढेरों को जलाकर स्वयं एक ज्वालारूप परिणमित हो जाती है; उसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि एक क्षण में समस्त द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव को जाननेरूप परिणमित होजाता है। दर्पण तो स्थूल वस्तु है; उसमें अधिक दूर की, भूत-भविष्य की या पीछे की वस्तुएँ ज्ञात नहीं होतीं; दर्पण तो जड़ वस्तु है वह कुछ नहीं जानता; परन्तु ज्ञान का स्वभाव तो सबकुछ जानने का है; दूर का और भूत-भविष्य का सब कुछ ज्ञान जानता ही है। ज्ञान अपने सन्मुख रहकर सर्व को जान लेने के स्वभाव-वाला है।

वस्तु का स्वभाव क्या है उसे पहिचानना चाहिए। देखो, विशाल लहराते हुए समुद्र में लाखों मन के जहाज तैरते हैं और लकड़ी का एक छोटे से छोटा टुकड़ा भी तैरता है। लकड़ी लाख मन वजन की होने पर भी पानी में तैरती है और एक रत्तीभर लोहा भी पानी में डूब जाता है; उसका कारण?—ऐसा ही उन पदार्थों का स्वभाव है। उनके उस स्वभाव को किसने जाना?—किन्हीं इन्द्रियों से वह स्वभाव ज्ञात नहीं होता, परन्तु ज्ञान से ही ज्ञात होता है। दूसरों के स्वभाव को भी ज्ञान जानता है इसलिये ज्ञान का जानने का स्वभाव है। परन्तु अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है; उसे पर की महिमा भासित होती है, परन्तु पर को जाननेवाला अपना ज्ञान है उसकी महिमा उसे भासित नहीं होती। यदि ज्ञान की महत्ता भासित हो तो संसार-समुद्र से पार होजाए, क्योंकि ज्ञान का तैरने का स्वभाव है। अनंत ज्ञेयों से परिपूर्ण विश्व-समुद्र के बीच में गिरने पर भी मेरे ज्ञान का स्वभाव उनसे

पृथक् रहकर तैरने का है; मेरे ज्ञान का स्वभाव जानने का है, परन्तु कहीं पर मैं अहंपना करके अटकने का मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है। समस्त ज्ञेयों के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी उन ज्ञेयों से पृथक् का पृथक् रहे—ऐसा मेरा स्वभाव है। —इसप्रकार यदि अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन हो, और भव समुद्र में पार हो जाये।

आत्मा का जानने का स्वभाव है तो वह किसे न जानेगा ? जिसका स्वभाव जानने का हो वह परिपूर्ण ही जानता है; उसके ज्ञानसामर्थ्य में मर्यादा नहीं होती। अपूर्ण जाने तो उसके परिणमन में कचाश है; परन्तु स्वभावसामर्थ्य में कचास नहीं है। यह बात साधक जीव के लिये है; क्योंकि नय साधक के ही होते हैं। अपनी पर्याय में कचास होने पर भी साधक जीव अंतर्मुख दृष्टि द्वारा अपने परिपूर्ण स्वभाव का प्रतीति में लेता है।

आत्मा का स्वभाव सर्व को जानने का है; परन्तु किसी पर को अपना बनाए ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जगत में नरकादि गति के दूसरे जीवों के दुःख की उसे खबर पड़ती है परन्तु अपने ज्ञान के साथ कहीं उन जीवों के दुःख का वेदन उसे नहीं होता। जैसे—किसी को बिच्छू ने काटा हो तो उसे कैसा दुःख होता है वह दूसरे लोग जानते हैं; परन्तु उन देखने वाले मनुष्यों को कहीं वैसे दुःख का वेदन नहीं होता। उसीप्रकार समस्त पदार्थों को जानने में कहीं भी राग-द्वेष करने का आत्मा का स्वरूप नहीं है।

अज्ञानी मानते हैं कि हमारा अमुक वस्तु के बिना नहीं चल सकता; परन्तु ज्ञानी उन्हें समझाते हैं कि अरे भाई ! तू तो ज्ञान है; तूने अपने ज्ञान के अतिरिक्त अनादिकाल से पर पदार्थों के बिना ही चलाया है; समस्त आत्माओं का परवस्तु के बिना ही चल रहा है, परन्तु ज्ञान के बिना एक क्षण भी नहीं चलता। यदि ज्ञान न हो तो आत्मा का ही अभाव हो जाए। पर्याय में अल्प राग-द्वेष होने पर भी "मैं तो ज्ञान हूँ"—ऐसा जिसने निर्णय किया वह जीव आराधक हुआ; अब, ज्ञान में एकाग्रता के

बल से बीच में से बाधकभाव तो निकल जायेगा और ज्ञान परिपूर्ण विकसित हो जायेगा।

अज्ञानी लोग तो बाह्य में ही "मुझे यह खपेगा (काम में आयगा) और यह नहीं खप सकता"—इस-प्रकार पर द्रव्य के अभिमान में रुक गये हैं; परन्तु अंतर में "मैं ज्ञान हूँ"—इसकी उन्हें खबर नहीं है। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं ज्ञान-स्वभाव हूँ; मुझे ज्ञान करने के लिये सर्व पदार्थ ज्ञेयरूप से खपते हैं; परन्तु कोई भी पर ज्ञेय (-ज्ञान में ज्ञात होने योग्य होने पर भी) मुझ में नहीं खपता मेरे। ज्ञानसामर्थ्य में समस्त पदार्थ ज्ञेयरूप से भले ज्ञात हों, परन्तु किसी भी पर ज्ञेय को मैं अपने रूपसे स्वीकार नहीं करता। अरे जीव ! एकबार प्रतीति तो कर कि मेरा ज्ञानस्वभाव है; मुझमें सर्व को जान लेने का सामर्थ्य है; पर ज्ञेयों के अवलम्बन बिना अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही मैं समस्त लोकालोक का ज्ञाता हूँ।—ऐसे ज्ञायकपने की प्रतीति करे तो सारे जगत से उदासीन होकर ज्ञान अंतर में स्थिर हो जाए।

लोकालोक के कारण जीव को उसका ज्ञान होता है ऐसा नहीं है; यदि लोकालोक के कारण उसका ज्ञान होता हो तो समस्त जीवों को लोकालोक का ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि लोकालोक तो सदैव हैं; इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य से ही ज्ञान होता है। ऐसे निज स्वभाव की प्रतीति करके उस एक ज्ञानस्वभाव की भावना में ही अनादि सबका समावेश होजाता है। बारह भावनाएँ तो व्यवहार से हैं; वास्तव में उन बारह भावनाओं का आधार तो आत्मा है; आत्मा के आश्रय से ही सच्ची बारह भावनाएँ हैं; बारह प्रकार के भेद के लक्ष से तो विकल्पों की उत्पत्ति होती है। इसलिये किसी भी नय से आत्मा के धर्म का वर्णन किया हो, परन्तु उस धर्म द्वारा धर्मी ऐसे अखण्ड आत्मा को दृष्टि में लेकर उसके अवलम्बन का ही तात्पर्य है।

यहाँ २४वें ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

केवलज्ञान का स्वीकार करने वाले जीव को
अनंत भव की शंका नहीं रहती

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय चैत्र शुक्ला १ के दिन दोपहर के प्रवचन से (२)]

अहो! केवलज्ञान क्या है उसकी महिमा की जगत को खबर नहीं है; और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आजाता है उसको भी अज्ञानी को खबर नहीं है...जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है उसे अनंत भव की शंका नहीं है, और जिसे अनंत भव की शंका है उसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार नहीं हुआ है। जिसप्रकार केवली भगवान को भव नहीं है, उसीप्रकार केवलज्ञान का स्वीकार करनेवाले को भव की शंका नहीं रहती। केवलज्ञान की प्रतीति और भव की शंका—यह दोनों एक-साथ नहीं रह सकते...ज्ञानी निःशंकतापूर्वक कहते हैं कि—जिसने भवरहित ऐसे केवलज्ञान का निर्णय किया, उसके अनंत भव होते ही नहीं; केवली भगवान ने उसके अनंत भव देखे ही नहीं।

श्री सीमंधर भगवान वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में केवलज्ञानसहित विराजमान हैं; वहाँ दूसरे भी अनेक केवली भगवन्त विचर रहे हैं। केवली भगवान का आत्मा राग-द्वेष रहित मात्र ज्ञायकबिम्ब हो गया है।—ऐसे केवली भगवान को जिसने अपने ज्ञान में स्वीकार किया उसे ज्ञायकभाव प्रतीति में आ-गया; अब मेरे अनंत भव होंगे—ऐसी शंका उसे होती ही नहीं, क्योंकि ज्ञानस्वभाव में भव नहीं हैं। अपने ज्ञान में केवली भगवान का स्वीकार करे और अनंत भव की शंका भी रहे—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का स्वीकार है उसे अनंतभव की शंका नहीं है, और जिसे अनंतभव की शंका है उसे केवलज्ञान

का स्वीकार नहीं हुआ है। जिस-प्रकार केवलज्ञानी भगवान के भव नहीं हैं उसी प्रकार उस केवलज्ञान की प्रतीति करनेवाले को भव की शंका नहीं रहती।

अहो! केवलज्ञान क्या है उसकी महिमा की जगत को खबर नहीं है और उस केवलज्ञान की प्रतीति करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ आजाता है उसकी भी अज्ञानी को खबर नहीं है। जैन सम्प्रदाय में जन्म लिया इसलिये साधारणतः तो 'केवली भगवान हैं'—ऐसा कहते हैं, परन्तु केवलज्ञानी कैसे होते हैं वह जानकर निर्णय नहीं करते। हे भाई! "केवलज्ञानी हैं"—ऐसा तू कहता है, परन्तु वे कहाँ हैं? सीमंधर भगवान महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं,

....वह जैन नहीं है

जो आत्मा के ज्ञानानंद स्वभाव का विकार से भिन्नरूप अनुभवन करता है वह सम्यग्दृष्टि ही सच्चा जैन है। और जो अपने आत्मा का रागयुक्त-अशुद्ध अनुभवन करता है तथा राग से धर्म होना मानता है उसे जैनधर्म की खबर नहीं है, इसलिये भगवान उसे जैन नहीं कहते। जो जीव शुद्धदृष्टि से अपने आत्मा को शुद्ध देखता है वह जैनशासन को देखता है इसलिये वही जैन है। जो जीव शुद्ध आत्मा को नहीं देखता और अकेले राग को ही देखता है—वह जैनशासन को नहीं देखता, इसलिये वह जैन नहीं है।

इसलिये उनका केवलज्ञान तो वहाँ रहा, परन्तु तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया है? यदि तेरी प्रतीति में केवलज्ञान आया हो तो तुझे अनंत भव की शंका हो ही नहीं सकती। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही केवलज्ञान का निर्णय होता है; राग के अवलम्बन से उसका निर्णय नहीं होता। कहीं शरीर में, राग में केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु मेरे ज्ञानस्वभाव में ही केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य है—ऐसी जिसने प्रतीति की उसे श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान हुआ और भव की शंका दूर हो गई। "केवली भगवान ने मेरे अनंत भव देखे होंगे"—ऐसी शंका मिथ्यादृष्टि को ही होती हैं, सम्यक्त्वी को कदापि ऐसी शंका नहीं होती। "मैं अनंत संसार में परिभ्रमण करूँगा"—ऐसी जिसे शंका है उसे ज्ञायक भाव की—केवलज्ञान की प्रतीति नहीं है; वह अनंतभव की शंकावाला जीव केवलज्ञान को नहीं देखता किन्तु कर्म को ही देखता है। जो भवरहित केवली भगवान को देखता है, उसे तो—जिसमें भव नहीं ऐसा—अपना ज्ञायकस्वभाव प्रतीति में आगया है, उसे अब अनंत भव होते ही नहीं और केवली भगवान ने उसके अनंत भव देखे ही नहीं; और उसे स्वयं को भी अनंतभव की शंका नहीं रहती।

साधु नाम धारण करके भी यदि कोई ऐसा कहे कि—"अभी हमें भव्य-अभव्य का निर्णय नहीं हो सकता और अनंतभव की शंका दूर नहीं होती"—तो वह जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है, उसने केवली भगवान को नहीं माना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले को ही केवलज्ञान का स्वीकार होता है, कर्म के ऊपर जिसकी दृष्टि है उसे केवलज्ञान का स्वीकार नहीं होता।—इस प्रकार भूतार्थ स्वभाव के आश्रय बिना केवली भगवान की प्रतीति नहीं होती। जगत में केवलज्ञानी भगवान हैं—ऐसा स्वीकार करने वाले ने आत्मा में केवलज्ञान के सामर्थ्य का स्वीकार किया है; केवलज्ञान होने का सामर्थ्य अपने में है उस सामर्थ्य के सन्मुख होकर केवलज्ञान का यथार्थ स्वीकार होता है, इसके अतिरिक्त केवलज्ञान की प्रतीति

नहीं होती।

कोई कुतर्की ऐसा कहे कि हम चाहे जितना पुरुषार्थ करें, परन्तु यदि केवली भगवान ने अनंतभव देखे होंगे तो उनमें से एक भी कम नहीं हो सकता;—तो ज्ञानी निःशंकतापूर्वक उसका अस्वीकार करके कहते हैं कि अरे मूढ़! जिसने केवलज्ञान का निर्णय किया है उसके अनंतभव होते ही नहीं; जिसने भव-रहित केवलज्ञान का निर्णय किया उसके अनंतभव केवली भगवान ने देखे ही नहीं हैं।

केवलज्ञान में सब प्रतिभासित है; तीनकाल में कब क्या हुआ और कब क्या होगा—वह सब केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है। जो केवलज्ञान में ज्ञात हुआ उसमें किंचित्मात्र फेरफार नहीं हो सकता; परन्तु जिसने केवलज्ञान के ऐसे अचिन्त्य सामर्थ्य का निर्णय किया उसकी अल्पकाल में ही मुक्ति होने वाली है ऐसा भगवान के केवलज्ञान में ज्ञात हो गया है।

जिसने केवलज्ञान का स्वीकार किया उसे आत्मा के परिपूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य की खबर है, इसलिये उसकी दृष्टि स्वभाव पर है; वह अपने को अल्पज्ञ या अशुद्धता जितना नहीं मानता, परन्तु पूर्ण ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर साधक भावरूप परिणमित होता है। केवली भगवान द्रव्य से और पर्याय से पूर्ण ज्ञायक हैं, और परमार्थ से मेरा स्वभाव भी वैसा ही ज्ञायक है; मुझ में भी केवलज्ञान का सामर्थ्य है—इसप्रकार अज्ञानी जीव प्रतीति नहीं करता; वह तो मात्र व्यवहार और राग को पकड़कर करके अशुद्धतारूप से ही अपना अनुभव करता है। जिसे अपने ज्ञायक भाव का भान नहीं है और अशुद्धरूप से ही अपना अनुभवन करता है, वह जीव वास्तव में केवलज्ञानी को नहीं देखता परन्तु कर्म और विकार को ही देखता है, उसे संसार की ही रुचि है।—ऐसे जीव को भव की शंका का वेदन दूर नहीं होता। भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन बिना केवलज्ञान की प्रतीति भी नहीं होती और भव की शंका दूर नहीं होती। भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन लेकर जहाँ केवलज्ञान का निर्णय किया वहाँ भव की शंका का स्वप्न में भी

वेदन नहीं होता; क्योंकि स्वभाव में भव नहीं हैं। जहाँ अनंत भव की शंका है वहाँ स्वभाव की ही शंका है। जहाँ स्वभाव की निःशंकता हुई वहाँ भव की शंका नहीं रहती। केवलज्ञान की प्रतीति और अनंतभव की शंका—यह दोनों एकसाथ नहीं रह सकते।

"अपना आत्मा भव्य है या अभव्य—यह तो भगवान जाने!"—ऐसा जो कहते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं; उन्होंने भगवान को माना ही नहीं; भगवान भी ऐसा ही देखते हैं कि यह जीव मिथ्यादृष्टि है। मैं तो अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करने वाला भव्य ही हूँ, अभव्य नहीं हूँ,—इतनी निःशंकता भी जिसे अभी नहीं हुई है, और अनंतानंतकाल में कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा—ऐसा अभव्य होने का जिसे संदेह वर्तता है वह जीव भवरहित केवली भगवान की प्रतीति का पुरुषार्थ कहाँ से लायेगा?—उसमें तो धर्म प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं है; भवरहित ऐसे केवली भगवान की वाणी कैसी होती है—उसका भी वह निर्णय नहीं कर सकेगा। कोई जीव ऐसा माने कि राग से धर्म होगा; अथवा देह की क्रिया से धर्म माने, और कहे कि मैं केवली भगवान का भक्त हूँ;—तो वास्तव में वह जीव केवली भगवान का भक्त नहीं है, वह केवली भगवान को मानता ही नहीं है, वह तो व्यवहारमूढ़ है; वह अज्ञानी जीव मात्र विकार और व्यवहार का ही अस्तित्व स्वीकार करता है, परन्तु परमार्थरूप ज्ञायकभाव के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता; इसलिये वह व्यवहार से ही विमोहित चित्तवाला मिथ्यादृष्टि है। भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा का शुद्धरूप से अनुभव करता है वही सम्यक्‌दृष्टि है; जिसने अपने भूतार्थ-स्वभाव का अवलंबन लेकर ज्ञान-स्वभाव का निर्णय किया उसीने वास्तव में केवली भगवान को माना है और वही भगवान का सच्चा भक्त है। भगवान के ऐसे भक्त को भव की शंका नहीं रहती, अल्पकाल में भव का नाश करके वह स्वयं भी भगवान हो जाता है।

करना क्या ?

❀ अनेक जीव ऐसा पूछते हैं कि हमें धर्म करने की जिज्ञासा तो है, हमें आत्म-कल्याण करने की भावना तो है; लेकिन उसके लिये करना क्या ?—इसकी कोई सूझ नहीं पड़ती।

—ऐसे जिज्ञासु जीवों को, "धर्म करने के लिये क्या करना" वह यहाँ पूज्य गुरुदेव सरल रीति से समझाते हैं—

❀ देखो भाई ! जगत में निम्नानुसार चार प्रकार की वस्तुएँ हैं—

(१) संयोगी परवस्तुएँ (आत्मा के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ)

(२) विकारी भाव (आत्मा को होने वाली शुभाशुभ वृत्तियाँ)

(३) क्षणिक पर्याय (परको तथा राग को जाननेवाला ज्ञान, इत्यादि)

(४) ध्रुव ज्ञानस्वभावी वस्तु (त्रिकालस्थायी शुद्ध आत्मा)

—इसप्रकार चार बोलों का अस्तित्व पहले निश्चित् करो कि जगत में यह चार प्रकार हैं या नहीं ? इन चार प्रकारों में सारा जगत आ जाता है।

❀ ज्ञान में उन चार प्रकारों का अस्तित्व भासित होने के पश्चात् अंतर में विचार करो कि उन चार प्रकार की वस्तुओं में से किसकी ओर देखने से कल्याण होगा ?—किसके अवलम्बन से शांति होगी ?—कौन-सी वस्तु आत्म-कल्याण का आधार हो सकती है ?

❀ उपरोक्तानुसार गंभीर विचार करके, फिर निर्णय करो कि उन चार प्रकार के पदार्थों में से त्रिकालस्थायी ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही कल्याण होगा, उसके सन्मुख देखने से ही शांति प्रगट होगी, वही आत्मकल्याण का आधार हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी के आश्रय से शांति या कल्याण नहीं हो सकता। क्योंकि—

(१) आत्मा के अतिरिक्त संयोगी परवस्तुएँ तो अपने से पृथक् हैं, इसलिये उनमें से आत्मा का कल्याण नहीं आ सकता;

(२) शुभ या अशुभ विकारी वृत्तियाँ क्षणिक और नाशवंत हैं, तथा वे स्वयं अशांतिरूप हैं, इसलिये आत्मा को शांति के लिये शरणभूत हो सकें ऐसा सामर्थ्य उनमें नहीं है;

(३) ज्ञानादि की क्षणिक पर्याय भी नवीन नवीन बदलती रहती है, वह स्वयं स्थिर नहीं रहती; इसलिये उस पर्याय की ओर देखने से भी दृष्टि स्थिर नहीं हो सकती;

(४) ध्रुव ज्ञानस्वभावी आत्मा सदैव ऐसे का ऐसा शक्तिरूप से परिपूर्ण विराजमान है; वही आश्रयभूत और शरणभूत हो सकता है; और ऐसा जो शुद्ध आत्मा

है वह अपने से कोई भिन्न वस्तु नहीं है, परन्तु स्वतः स्वयं ही है।

—इसप्रकार दृढ़ निर्णय करके उस त्रिकाली आत्मस्वभाव की ही अंतर में महिमा करो...उसकी रुचि करो...उसका मंथन करो...और उसके सन्मुख होकर उसका अवलम्बन करो। उस परम महिमावंत वस्तु के अवलम्बन से ही शांति है; उसीके अवलम्बन से धर्म है; उसीके अवलम्बन से कल्याण है, उसीके अवलम्बन से सुख है; उसीके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है; उसीके अवलम्बन से मोक्ष है; वही एक शरणभूत है।

—इसप्रकार धर्म करने के लिये जिज्ञासु को क्या करना चाहिए वह संक्षेप में और बिलकुल सरल रीति से बतलाया है।

अनिह्नव-विनय का स्वरूप

[ज्ञानविनय के आठ प्रकार हैं, उन में अनिह्नव नाम का एक प्रकार आता है। श्री मूलाचार ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में "अनिह्नव-विनय" की व्याख्या आती है, वह जिज्ञासुओं को उपयोगी होने से यहाँ दी गई है। मूलाचार की टीका श्री वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती ने की है।]

कुलवयसीलविहूणे,
सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं।
कुलवयसीलमहल्ले,
णिण्हवदोसो दु जप्पंतो॥

कुलव्रतशीलविहीना;
सूत्रार्थं सम्यगवगम्य।
कुलव्रतशीलमहतो,
निह्नवदोषस्तु जल्पतः॥

अर्थः—कुल = गुरुसंतति, गुरु परम्परा; व्रत = अहिंसा सत्यादिक पंचमहाव्रत; शील = जिससे व्रतों का रक्षण होता है ऐसे तपश्चरणादिक आचार। जिसके व्रतादि का अभाव है अर्थात् जो व्रतादि का पालन करने वाला नहीं है तथा उनमें दोष लगाने वाला है ऐसे साधु को कुल–व्रत–शीलविहीन समझना चाहिये। मठादिकों का पालन करने से अथवा अज्ञानादि से गुरु सदोष होते हैं; ऐसे गुरु के ज्ञानी तथा तपस्वी शिष्य को भी कुल हीन कहना चाहिए। अथवा (–उत्कृष्ट अपेक्षा से) तीर्थंकर गणधर तथा सात ऋद्धि सम्पन्न ऋषियों से भिन्न मुनियों को कुल–व्रत–शीलविहीन कहना चाहिए। ऐसे कुल–व्रत–शीलविहीन मुनियों के पास से सम्यक्-शास्त्र पढ़कर यदि कोई साधु कुल–व्रत–शील सम्पन्न मुनियों को बतलाता है—अर्थात् "मैंने कुल–व्रत–शीलवान महा मुनि के पास से सम्यक् शास्त्रज्ञान प्राप्त किया है"—ऐसा कहता है तो वह साधु निह्नव

दोष से दूषित है। जो साधु अपने में गर्व रखता है (गर्व युक्त होकर शास्त्र का और गुरुका लोप करता है), वह साधु शास्त्र का निह्नव तथा गुरु का निह्नव करता है; ऐसे अकार्य से उसे महान कर्मबंध होता है। "मैं जिनेन्द्र प्रणीत शास्त्र सुनकर या पढ़कर ज्ञानी नहीं हुआ परन्तु नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य मीमांसक—बौद्ध इत्यादि विद्वानों के पास से मुझे बोध प्राप्त हुआ है"—ऐसा जो लोकपूजादि के हेतु से कहता है, तथा निर्ग्रंथ यतियों के पास से अध्ययन करके लोकपूजादि हेतु से जो ऐसा कहता है कि 'मैं ब्राह्मणादिक मिथ्यात्वियों के पास पढ़ा हूँ"—वह सब मे निह्नवदोष के कारण मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना चाहिए। सामान्य यतियों के पास शास्त्र पढ़कर ऐसा कहना कि "मैं तीर्थंकरादि के पास पढ़ा हूँ"—यह भी निह्नव दोष है।

[जिनके पास से अपने को ज्ञान प्राप्त हुआ है उन गुरु की तथा शास्त्र की यथार्थ विनय करना, और उपरोक्त किसी भी प्रकार के निह्नव दोष न लगने देना उसका नाम अनिह्नव-विनय है।]

[—देखिये, मूलाचार: संस्कृत आवृत्ति गाथा ८७ तथा टीका पृष्ठ २३७; हिन्दी आवृत्ति गाथा १०५ तथा टीका पृष्ठ १७२]

—(०)—

* मा न स्तं भ *

(१) सोनगढ़ का मानस्तंभ

सोनगढ़ में जो मानस्तंभ है वह ६३ फुट ऊँचा है; यह पूरा मानस्तंभ संगमरमर का बना है; उसमें ऊपर और नीचे चारों दिशाओं में श्री सीमंधर भगवान विराजमान हैं, और नीचे की तीन पीठिकाओं में जैनधर्म के ऐतिहासिक चित्र अंकित हैं। इस मानस्तंभ में श्री सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के मंगलकारी हस्त से वीर सं २४७१ चैत्र शुक्ल १० को हुई थी।

(२) मानस्तंभ क्या है और कहां-कहां हैं?

मानस्तंभ कहीं कीर्तिस्तंभ नहीं है परन्तु जैनधर्म का स्तंभ है। कीर्तिस्तंभ तो लौकिक वस्तु है और मानस्तंभ जिनेन्द्रधर्म का वैभव बतलाने वाला धर्मस्तंभ है; उसे "धर्मवैभव" भी कहा जाता है, और इन्द्रादि जीव उसका सन्मान करते हैं, इसलिये उसे "इन्द्रध्वज" भी कहा जाता है।

इस मनुष्य-लोक में ही महाविदेह क्षेत्र है; वहाँ वर्तमान में सीमंधरादि

तीर्थंकर भगवन्त विचर रहे हैं; उनके समवशरण में चारों ओर चार मानस्तंभ हैं। मानस्तंभ को देखते ही मिथ्यादृष्टि जीवों का अभिमान गल जाता है।

इस मध्य-लोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं; उनमें यहाँ से आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है; वहां शाश्वत जिनमंदिर और मानस्तंभ हैं। त्रिलोकसार में उसका "धर्मवैभव" रूप से वर्णन किया है।

ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवलोक में भी शाश्वत मानस्तंभ हैं; उन मानस्तंभों में साँकलों द्वारा लटकते हुए पिटारों में तीर्थंकरों के आभूषण रहते हैं।

सौधर्म स्वर्ग के मानस्तंभ में भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

ईशान स्वर्ग के मानस्तंभ में ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

सनत्कुमार स्वर्ग के मानस्तंभ में पूर्व विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

माहेन्द्र स्वर्ग के मानस्तंभ में पश्चिम विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के आभरण रहते हैं।

—इन मानस्तभों में रहनेवाले आभरण लेकर इन्द्र तीर्थंकर भगवान को गृहस्थ दशा में भेजता है।

और इस पृथ्वी के नीचे भवनवासी और व्यंतर देवों के निवास हैं, वहाँ भी शाश्वत जिनमंदिर हैं और उनके सामने शाश्वत मानस्तंभ हैं।

इसके अतिरिक्त वर्तमान में भारत में भी श्री सम्मेदशिखर जी, महावीर जी, पावागढ़, अजमेर, जयपुर संग्रहस्थान, तारंगा, आरा, चित्तौड़, दक्षिण कन्नड़, मूलबिद्री, कारकल, श्रवणबेल गोला, मैसूर—आदि स्थानों पर भी मानस्तंभ हैं।

अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि पुण्यक्रिया करते-करते कल्याण हो जायेगा, लेकिन उनकी दृष्टि ही विपरीत है। शास्त्रकार कहते हैं कि—भाई! तुम्हारा शुभभाव तो ठंड-गरम बुखार की भाँति क्षणिक है, वह नित्यस्थायी नहीं रहेगा किन्तु शुभ बदलकर अशुभ हो जायेगा। पुण्य-पाप की वृत्ति रहित ज्ञानानन्द स्वरूप ध्रुव रहता है; उस ध्रुव चिदानन्द स्वरूप आत्मा की दृष्टि करना वह धर्म है।

कल्याण के लिये कहाँ जाना?

हे भाई! किसी पर के सन्मुख देखने से तो तेरा कल्याण नहीं हो सकता, क्योंकि तेरा कल्याण पर में नहीं है; और तेरे अपने आत्मा में भी राग के या भेद के सन्मुख देखने से तेरा कल्याण नहीं होगा। सारा आत्मा एक समय में जैसा परिपूर्ण है वैसा ही अखण्ड प्रतीति में लेकर उसके सन्मुख होना वही कल्याण का मूल है। अपनी शुद्धनयरूपी आँख से अन्तर में भगवान कारण-परमात्मा को देखना और उसके सन्मुख होकर एकाग्रता करना ही कल्याण है।

❀ ❀ ❀ ❀

अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व अचिंत्य महिमावंत वस्तु है; सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन बदल जाता है! जिसे सम्यग्दर्शन हुआ उसके चैतन्य-आँगन में मुक्ति का मंडप लग गया...उसके आत्मा में सिद्ध भगवान का सन्देश आ गया.... उसकी अनंत भव में परिभ्रमण करने की शंका दूर होगई...और अल्पकाल में मुक्ति होने का निःसन्देह विश्वास प्रगट हुआ।—ऐसा अपूर्व...परम...अचिंत्य सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये अंतर के चिदानन्द परमात्मतत्व के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन है ही नहीं। जो इस उपाय से सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसके अल्प-काल में भव का अभाव हो जाता है।

—ऐसे सम्यग्दर्शनधारी संतों को जगत में बलिहारी है!

मोरबी में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव प्रसंग पर

पू. गुरुदेव के मंगलहस्त से

प्रतिष्ठित जिनबिम्ब

(१) श्री महावीर भगवान (मूलनायक)	मोरबी
(२) श्री मल्लिनाथ भगवान	मोरबी
(३) श्री पार्श्वनाथ भगवान	मोरबी
(४) श्री सीमंधर भगवान	मोरबी
(५) श्री बाहु भगवान	मोरबी
(६) श्री चन्द्रबाहु भगवान	मोरबी
(७) श्री महावीर भगवान (विधिनायक)	मोरबी
(८) श्री महावीर भगवान	बम्बई
(९) श्री महावीर भगवान	मथुरा
(१०) श्री पार्श्वनाथ भगवान	बढिया

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर.
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी,

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४८० ॥ वर्ष दसवाँ ॥ अंक दूसरा

: संपादक :

रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अज्ञानी जीव क्या करता है ?

अज्ञानी जीव पर का भला-बुरा कर देने में मानता है, परन्तु अपने अज्ञानभाव और राग-द्वेष के अतिरिक्त पर में तो वह कभी कुछ कर ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ में अपनी-अपनी अनंती शक्ति होने पर भी पर का कुछ करने की शक्ति तो किसी द्रव्य में किंचित् भी नहीं है। तीनकाल—तीनलोक में एक तिनके को तोड़ने का भी सामर्थ्य किसी आत्मा में नहीं है; जड़ परमाणु की अवस्था में चेतन्य का अधिकार नहीं है।

[—प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[११०]

एक अंक चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर • सोनगढ़ सौराष्ट्र

— दया —

लोग कहते हैं कि दया पालो! किन्तु भाई! आत्मा के भान बिना तेरा आत्मा इस भवभ्रमण में भावमरण से मर रहा है और अनंत दुःख भोग रहा है उसकी दया तो पाल! अरे रे! अब मेरा आत्मा इस अवतार से कैसे छूटे?—इस भयंकर भावमरण के त्रास से कैसे छूटे? इसका अंतर में विचार तो कर। पाप के फल में दुःखी होते हुए पशु आदि को देखकर तो जगत के अनेक जीवों को दया आती है; परन्तु ज्ञानी को तो पुण्य का फल भोगने वाले देवों पर भी दया आती है; क्यों कि आत्मा के भान बिना देव भी दुःखी हैं। इसलिये हे भाई! अब अगर इस भवभ्रमण से थक गया हो और अपने आत्मा की दया आती हो तो अंतरमें विचार कर कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? इस देह से भिन्न मेरा आत्मा क्या वस्तु है?—ऐसा विचार करके सत्समागम से उसको पहिचान करना सो भवभ्रमण से छूटने का उपाय है।

— विश्रामस्थल —

जिसे इस चौरासी के अवतार का भय लगा हो ऐसा भयभीत जीव अंतर में आत्मा की शरण ढूंढता है। वह विचार करता है कि अरे रे! क्या यह भव करने का ही मेरा स्वभाव होगा, या भवरहित शांति भी कहीं होगी!! इस भवभ्रमण की थकावट दूर करने का विश्राम स्थल कहाँ होगा?—इसप्रकार जिसे अंतर में भव की थकान लगी हो वह विश्राम-स्थल की खोज करता है।

[—प्रवचन से]

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४८० 卐 वर्ष दसवाँ 卐 अंक दूसरा

शांतिनाथ भगवान का वैराग्य

चारित्र दशा का स्वरूप और मुनिपद की महिमा

अशरीरी चैतन्य की भावना भाने से भव का अभाव होजाता है। पर की भावना भाने में तो हे भाई! तेरा अनंतकाल व्यतीत हो गया... अब ऐसे चैतन्य की महिमा जानकर उसकी भावना कर! उसकी भावना से तेरे भव का अंत आयेगा। अहो! ऐसी आत्मभावना करके संत निज स्वरूप में स्थिर हों वहाँ जगत का देखने के लिये कहाँ रुकेंगे? संतों को तो आत्मा की ही धुन लगी है आत्मा के आनंद की ही लगन लगी है।

[दीक्षावन में पूज्य स्वामीजी का प्रवचन : अंक १०८ से आगे]

यह शांतिनाथ भगवान के दीक्षा प्रसंग का प्रवचन चल रहा है। शांतिनाथ भगवान को आत्मस्वभाव का ज्ञान तो था ही, और वैराग्य होने पर अंतर में से चारित्रदशा प्रगट करके मुनि हुए; यह बात अंक १०८ में आ गई है। अब उस चारित्रदशा का वर्णन तथा मुनिपद की महिमा कही जाती है।

× × ×

यहाँ श्री शांतिनाथ भगवान की दीक्षा का प्रसंग है और इस समय प्रवचन में प्रवचनसार की १६१वीं गाथा पढ़ी जा रही है; उसमें भी "श्रामण्य में परिणमित होने की" ही बात आई है; बराबर चारित्र के प्रसंग पर चारित्र की ही गाथा आई है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह क्षेत्र में जाकर श्री सीमन्धरनाथ परमात्मा के पास से जो ज्ञानभण्डार लाये थे, उसे अपने आत्मा में संग्रहित करके रखा और जगत के महाभाग्य से उनके द्वारा इन परमागमों की रचना हो गई। उनमें मुनिदशा के चारित्र का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि:—

जो णिहदमोहगंठी
रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो
सो मोक्खं अक्खयं लहदि ॥१९५॥

देखो, यह चारित्र के परिणमन की दशा! चारित्ररूप से परिणमित मुनियों की दशा ऐसी ही होती है। यहाँ शांतिनाथ भगवान की चारित्रदशा का प्रसंग है, और यहाँ चारित्र वह शांति का कारण है—ऐसा वर्णन है... तीर्थंकरों के क्षपकश्रेणी ही होती है उपशमश्रेणी नहीं होती; और इस गाथा में भी आचार्यदेव ने रागादि के क्षय की बात करके क्षायिक भाव ही लिया है।

मैं ज्ञानानन्द स्वभाव हूँ—ऐसे आत्मभानसहित तो भगवान अवतरित हुए थे, और अब वैसे स्वभाव में लीन होकर रागादि का क्षय करते हैं। भगवान को जैसा आत्मभान था वैसे आत्मभानपूर्वक ही चारित्रदशा होती है; इसके अतिरिक्त चारित्र दशा या मुनिपद नहीं होता। मुनि तो उन्हें कहा जाता है जिनके चरणों में गणधर का भी नमस्कार पहुँचे। अहो! गणधर से वंदनीय वह पद कैसा होगा? गणधर का नमस्कार झेलने की शक्ति जिसके प्रगट हुई है उस मुनिदशा की क्या बात कही जाये!! सन्तों के नेता गणधर जब नमस्कार मन्त्र बोलते हैं तब कहते हैं कि:—

णमो लोए सव्व अरिहंताणं।
णमो लोए सव्व सिद्धाणं।
णमो लोए सव्व आइरियाणं।
णमो लोए सव्व उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं।

[अन्तिम पद में जो "लोए सव्व" शब्द है वह पाँचों पदों में लागू होता है।]

आत्मस्वरूप की साधना करने वाले हे संतो! आपके चरणों में नमस्कार हो—इसप्रकार गणधरदेव भी विकल्प उठने पर जिस साधुपद को नमस्कार करते हैं उस साधुपद की महिमा कितनी होगी? भगवान ने आज अपने आत्मा में ऐसा साधुपद प्रगट किया। ज्ञानस्वभाव का भान तो पहले था ही, और अब ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करके आत्मध्यान में लीन हुए और तुरन्त ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ; अभी उनके केवलज्ञान नहीं हुआ था, तब भी उन्हें महाविदेह आदि क्षेत्र के गणधरों का नमस्कार "णमो लोए सव्व साहूणं"—ऐसे पद द्वारा पहुँच जाता था। भगवान की मुनिदशा कैसी थी और उन्होंने

कैसे चारित्र का पालन किया था, उसका भी अनेक जीवों को भान नहीं है और अपनी अपनी कल्पना से मुनिदशा मान बैठे हैं। भगवान की चारित्रदशा तो अंतर में आत्मा के आश्रित थी; उस चारित्रदशा में दुःख का वेदन नहीं था परन्तु आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव था।

चैतन्यस्वरूप में लीनता द्वारा वीतरागता होने पर, जिसप्रकार सर्प कँचुली उतारकर चला जाता है उसीप्रकार, भगवान ने ९६००० रानियों को और छह खण्ड के राज्य वैभव को छोड़ दिया। जिसप्रकार विष्टा का त्याग करने के पश्चात् कोई उसकी ओर देखता भी नहीं, उसीप्रकार भगवान ने राज्य और रानियों का राग छोड़ दिया, फिर उसके सामने भी नहीं देखा। हजारों रानियाँ रोती-बिलखती और हाहाकार करती रह गईं कि—अरे रे! हमें भोगों में साथ देने वाला आज अकेला वन में जा रहा है...उस समय इन्द्राणी उन्हें सान्त्वना देती हैं और कहती हैं कि अरे रानियो! शांत हो...शांत हो... उन्होंने तो राग की वृत्तियों को तोड़ दिया है, अब उन्हें तुम्हारे प्रति राग की वृत्ति नहीं है; वे तो "सम सुख-दुःख" हुए हैं, उन्हें किसी के प्रति राग नहीं है और न किसी के प्रति द्वेष... उनका अवतार भोगों के हेतु नहीं है वे तो तीर्थंकर होने को अवतरित हुए हैं। भगवान मिथ्यात्व का तो नाश करके ही अवतरित हुए थे और अब स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष का क्षय करके वे श्रामण्य में परिणमित होते हैं...ऐसे वीतरागी श्रामण्य द्वारा अब भगवान केवलज्ञान प्रगट करके अक्षय सुख को प्राप्त करेंगे।

देखो, यह चारित्रदशा की महिमा! इसका नाम मुनिदशा है। कोई निन्दा करे या स्तुति करे, कोई घोर उपसर्ग करे या इन्द्र आकर वंदना करें, तथापि अपने वीतरागभाव से च्युत होकर उसमें राग-द्वेष की वृत्ति ही न उठे—ऐसी वीतरागी मुनियों की दशा होती है।

मेरे आत्मा की निन्दा या प्रशंसा करनेवाला कोई नहीं है; सामने वाला जीव मात्र अपने भाव ही करता है;— ऐसी वीतरागी समझ के उपरांत, अब तो आत्मा के आनंद के अनुभव में लीनता से भगवान की ऐसी दशा हो गई है कि—

शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता...
मान-अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो...
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता...
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो...

यह मेरा शत्रु और यह मेरा मित्र, ऐसी वृत्ति ही जहाँ नहीं है वहाँ द्वेष या राग कहाँ से होंगे? दर्शनमोह का तो नाश होगया है और चारित्रमोह

भी मुर्दे के समान होगया है; ऐसी दशा में भगवान को मित्र या शत्रु, निन्दा या प्रशंसा, जीवन या मरण—इन दोनों दशाओं के प्रति वीतरागी समभाव है; यह अच्छा और यह बुरा, ऐसा विषमभाव भगवान के नहीं है। स्वयं को तो किसी के प्रति, यह मित्र और यह शत्रु ऐसी वृत्ति ही नहीं है, परन्तु सामनेवाले जीव कोई भक्ति करें अथवा कोई निंदा करें—तो उन दोनो के प्रति समभाव है, अर्थात् वास्तव में बाह्य में लक्ष ही नहीं है। अहा! आयु हो या न हो, देह लाखों वर्ष तक बनी रहे या आज ही वियोग हो जाये—इसका उन वीतरागी संतों को हर्ष या शोक नही है। अरे, अप्रमत्त योगियों को भव और मोक्ष के प्रति भी समभाव है, अर्थात् "भव का नाश करूँ और मोक्ष प्राप्त करूँ"—ऐसा राग-द्वेष का विकल्प भी नहीं है; वे तो स्वभाव के अनुभव में ही मग्न है। स्वभाव के अनुभव की लीनता से बाहर निकलकर मोक्ष की वृत्ति भी नहीं होती... स्वभाव के आनंद की लीनता में इतना स्वभाव प्रगट हो गया है कि "भव का नाश कब हो"—ऐसा विकल्प नहीं उठता और "अल्पकाल में ही मोक्ष होगा"—ऐसा भी विकल्प नहीं उठता। इन्द्रादि भक्त आकर पूजा करें तो उस ओर राग की वृत्ति नहीं है और कोई उपसर्ग करे तो वहाँ द्वेष नहीं है। संसार में हमारे कोई स्वजन या शत्रु नहीं है; हम तो अपने चिदानंद आत्मा में लीन होकर झूम रहे हैं; चैतन्य के आनंदसागर में झूलते हैं, हमारा लक्ष कहीं बाह्य में नही जाता।—ऐसी मुनिवरों की अनुभवदशा होती है। उन्होंने अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर जगत के साथ का सम्बन्ध तोड़ दिया है।

अहो जीवो! शांत हो...शांत हो...समभाव करो!—कैसा समभाव?—चैतन्य के अनुभव में एकाग्र होने से राग-द्वेष की वृत्ति ही उत्पन्न न हो—ऐसा वीतरागी समभाव। ऐसा वीतरागी समभाव मुनिदशा में सहज होता है। ऐसी वीतरागी मुनिदशा प्रगट होने से पूर्व चैतन्य ज्ञायकतत्त्व की अंतर्दृष्टि पूर्वक "कोई पर मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं"—ऐसी बुद्धि से धर्मी जीवों को सम्यक्श्रद्धा का वीतरागी समभाव होता है। "कोई पर मेरे मित्र या शत्रु"—ऐसी मिथ्याबुद्धि से होनेवाले रागद्वेष उनके दूर होगये हैं। मेरे आत्मा का हित या अहित करनेवाला इस जगत में कोई नहीं है। जिसे अपने भाव में रुचे वह प्रशंसा करे और जिसे अरुचि हो वह द्वेष करे; लेकिन सब स्वयं अपने में ही वैसे भाव

[शेष पृष्ठ ६० पर देखिये]

वढवाणशहर, सुरेन्द्रनगर, राणपुर और बोटाद में

जिनबिम्ब वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव

परम पूज्य सद्गुरुदेव जिनेन्द्र शासन की महान प्रभावना करते-करते सौराष्ट्र में विचर रहे हैं और ग्राम-ग्राम में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा करते जारहे हैं। गुरुदेव के प्रभाव से नित्य-प्रति मंगल-महोत्सव मनाये जा रहे हैं।

❀ वढवाण शहर ❀

वांकानेर से बिहार करते-करते वैशाख कृष्णा ४ के दिन पूज्य गुरुदेव वढवाण शहर पधारे; उस समय भक्त-जनों ने अत्यन्त उल्लासपूर्वक पूज्य गुरुदेव का स्वागत किया था। तत्पश्चात् वैशाख कृष्णा ६ से ८ तक जिनमन्दिर में सीमंधरादि भगवन्तों की वेदी प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया गया था। वढवाण में ऊपर के भाग में जिनमन्दिर है और नीचे के भाग में स्वाध्याय-

जागकर देखे इतनी देर........

अहो! जब देखो तब एक समय में परिपूर्ण तत्व अन्दर भरा है; भगवान आत्मा अपने स्वभाव की परिपूर्ण शक्ति संचित करके बैठा है; उसके स्वभावसामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं हुआ है, और तीनकाल में एक समय भी उस स्वभाव का विरह नहीं है; स्वयं जाग्रत होकर अन्तर में दृष्टि डाले इतनी ही देर है।

[—पूज्य गुरुदेव]

— सूचना —

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी ज्येष्ठ शुक्ला ६ के दिन सोनगढ़ पधार रहे हैं। अब पुस्तक बिक्री विभाग और जैन अतिथि सेवा-समिति आदि की व्यवस्था पूर्ववत् होने लगेगी! कृपया सोनगढ़ के ही पते पर पत्र-व्यवहार करें।

मन्दिर है। वेदी-प्रतिष्ठा का मण्डप स्वाध्याय-मन्दिर में था। वैशाख कृष्णा ५ के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मण्डप में विराजमान किया था और झण्डारोपण हुआ था; तथा वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्यअनुज्ञा विधि हुई, उसमें वढवाण के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा उत्सव के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी और गुरुदेव के प्रताप से वढवाण के आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास और भक्तिभाव व्यक्त किया था। तथा बीस विहरमान भगवन्तों की पूजा और जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था। इन्द्र-प्रतिष्ठा भी हुई थी। वैशाख कृष्णा ७ के दिन जलयात्रा निकली थी, यागमण्डल विधान हुआ था और जिनमन्दिर, वेदी, कलश तथा ध्वजशुद्धि हुई थी; उसमें मुख्य विधि बहिन श्री बहिन के पवित्र हस्त से हुई थी। वैशाख कृष्णा ८ के दिन सवेरे परम पूज्य गुरुदेव के मंगल कर-कमलों से जिनमन्दिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई। प्रतिष्ठा प्रसंग पर भक्तजनों को बहुत उल्लास था। वढवाण शहर के जिनमन्दिर में मूलनायकरूप से श्री सीमंधर भगवान विराजमान हैं, उनके दोनों ओर महावीर भगवान तथा शांतिनाथ भगवान विराजमान हैं; तदुपरांत पार्श्वनाथ भगवान विराजमान हैं और स्वाध्यायमंदिर में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परमपूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई है। प्रतिष्ठा-प्रसंग पर वढवाण शहर के भक्तजनों को महान उल्लास था। शांतियज्ञ के पश्चात् शाम को जिनेन्द्र-भगवान की भव्य रथयात्रा निकली थी; रथयात्रा अनेक प्रकार से सुशोभित थी और पूज्य गुरुदेव भी साथ में पधारे थे।—इसप्रकार अत्यन्त उल्लासपूर्वक भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव मनाया गया था। इसके लिये वढवाण शहर का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

वढवाण शहर में पूज्य गुरुदेव सात दिन ठहरे थे। अन्तिम दिनों में भगवान को टाउन हाल में विराजमान करके भक्ति की गई थी; और मान-स्तंभ प्रतिष्ठा महोत्सव (सोनगढ़) की फिल्म दिखाई गई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का लाभ भी लोग बड़ी उमंगपूर्वक लेते थे। वैशाख कृष्णा ११ के दिन वढवाण शहर से विहार करके पूज्य गुरुदेव जोरावरनगर पधारे थे।

❀ सुरेन्द्रनगर ❀

जोरावरनगर से विहार करके वैशाख कृष्णा १२ के दिन पूज्य गुरुदेव सुरेन्द्रनगर पधारे, उस समय भक्तजनों ने बड़े उल्लासपूर्वक उनका भव्य स्वागत किया था। तत्पश्चात् वैशाख कृष्णा

३० से वैशाख शुक्ला ३ तक जिन-मन्दिर में शांतिनाथ इत्यादि भगवन्तों की वेदी-प्रतिष्ठा का उत्सव और परम पूज्य गुरुदेव का ६५वाँ जन्मोत्सव मनाया गया था। सुरेन्द्रनगर का जिनमंदिर सुन्दर शोभायमान है; तदुपरान्त जिन-मन्दिर के आँगन में ही स्वाध्याय-मन्दिर है। वेदी-प्रतिष्ठा का मण्डप स्वाध्याय मंदिर में था। वैशाख कृष्णा ३० के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मण्डप में विराजमान किया था और झण्डारोपण हुआ था तथा वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्य-अनुज्ञा विधि हुई थी जिसमें सुरेन्द्रनगर के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा उत्सव के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी और गुरुदेव के प्रताप से सुरेन्द्रनगर क आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास और भक्तिभाव व्यक्त किया था; तथा बीस विहरमान भगवन्तों की पूजा और जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था, इन्द्र-प्रतिष्ठा भी हुई थी।

वैशाख शुक्ला १ के दिन जलयात्रा निकली थी और यागमण्डल विधान हुआ था। जिनमन्दिर, वेदी, कलश तथा ध्वज की शुद्धि हुई थी। उसमें मुख्य विधि पूज्य बहिन श्री बहिन के पवित्र हस्त से हुई थी। वैशाख शुक्ला २ के शुभ दिन पूज्य गुरुदेव का ६५वाँ जन्मोत्सव मनाया गया था। सवेरे पूज्य गुरुदेव के प्रवचन के पश्चात् भाई श्री जेठालाल हिमतलाल शाह ने संक्षिप्त व्याख्यान द्वारा पूज्य गुरुदेव के जीवन के मुख्य प्रसंग दर्शाये थे और सद्-गुरु की महिमा बतलाई थी। तत्पश्चात् सुरेन्द्रनगर में पूज्य गुरुदेव का जन्मोत्सव मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसके लिये सुरेन्द्रनगर के मुमुक्षु संघ की ओर से शेठ मगनलाल लेराभाई ने उल्लास व्यक्त किया था। ६५वें जन्मोत्सव के निमित्त से '६५' की रकम का फंड हुआ था। रात्रि के समय बालिकाओं ने जन्मोत्सव की बधाई सम्बन्धी छोटा-सा संवाद किया था और भक्ति हुई थी। वैशाख शुक्ला ३ के दिन सवेरे परमपूज्य गुरुदेव के मंगल करकमलों से जिनमन्दिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई। प्रतिष्ठा-प्रसंग पर सुरेन्द्रनगर के भक्तजनों को महान उल्लास था। सुरेन्द्रनगर के जिन मंदिर में मूल नायक रूप से श्री शांतिनाथ भगवान विराजमान हैं; उनके दोनों ओर सीमंधर भगवान और सुमतिनाथ भगवान विराजमान हैं; और श्री महावीर भगवान भी विराजमान हैं।

जिनमन्दिर में प्रतिष्ठा के पश्चात् स्वाध्यायमन्दिर में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परमपूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई थी। पश्चात् शांतियज्ञ और शाम को जिनेन्द्रदेव की

भव्य रथयात्रा निकली थी। हाथी सहित जिनेन्द्रदेव तथा अनेकप्रकार से यह रथयात्रा शोभायमान थी। पूज्य गुरुदेव भी साथ पधारे थे। रात्रि को बालिकाओं ने "महाराजा श्रेणिक, महारानी चेलना और अभयकुमार" का सुन्दर संवाद किया था।—इसप्रकार महान उल्लासपूर्वक भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव मनाया गया था। इसके लिये सुरेन्द्रनगर का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

सुरेन्द्रनगर में पूज्य गुरुदेव सात दिन रहे थे। अन्तिम दिन पूज्य गुरुदेव ने जिनमन्दिर में भक्ति गवाई थी। एक दिन तीर्थधाम सोनगढ़ की फिल्म भी बतलाई गई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का लाभ भी लोग बड़ा उमंगपूर्वक लेते थे। वैशाख शुक्ला ४ दिन सुरेन्द्रनगर से विहार करके लीमडी और चूड़ा होते हुए पूज्य गुरुदेव राणपुर पधारे थे।

❀ राणपुर ❀

वैशाख शुक्ला १० के दिन पूज्य गुरुदेव राणपुर पधारे, उस समय भक्तजनों ने बड़े उल्लासपूर्वक उनका स्वागत किया था। तत्पश्चात् वैशाख शुक्ला ११ से १३ तक जिनमन्दिर में महावीरादि भगवन्तों की वेदी-प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया गया था। यहाँ जिनमंदिर का जो विशाल मकान है उसमें स्वाध्याय-मन्दिर है; यहीं वेदी-प्रतिष्ठा की विधि हुई थी। वैशाख शुक्ला ११ के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मंडप में विराजमान किया था और झण्डारोपण हुआ था। वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्य-अनुज्ञा-विधि हुई थी; उसमें राणपुर के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी और गुरुदेव के प्रताप से राणपुर के आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास और भक्तिभाव व्यक्त किया था। बीस विहरमान भगवन्तों की पूजा और जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था।

वैशाख शुक्ला १२ के दिन इन्द्र-प्रतिष्ठा हुई थी, जलयात्रा निकली थी और यागमण्डल विधान हुआ था। जिनमन्दिर, वेदी, कलश तथा ध्वज की शुद्धि हुई थी, उसमें मुख्य विधि पूज्य बहिन श्री बहिन के पवित्र हस्त से हुई थी। वैशाख शुक्ला १३ के दिन सवेरे परम पूज्य गुरुदेव के मंगल करकमलों से जिनमंदिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई थी। प्रतिष्ठा-प्रसंग पर राणपुर के भक्तजनों को महान उल्लास था। राणपुर के जिनमन्दिर में मूल नायकरूप से महावीर भगवान विराजमान हैं; उनके आसपास सीमंधर भगवान और आदिनाथ भगवान

विराजमान हैं, तथा श्री पार्श्वनाथ भगवान विराजमान हैं। तदुपरान्त मंदिरजी में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परमपूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई थी। तत्पश्चात् शांतियज्ञ और शाम को भक्ति के बाद जिनेन्द्रदेव की भव्य रथयात्रा निकली थी। हाथी सहित जिनेन्द्रदेवादि अनेकप्रकार से वह रथयात्रा सुशोभित थी। पूज्य गुरुदेव भी साथ पधारे थे।—इस प्रकार भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव बड़े उल्लासपूर्वक मनाया गया था। इसके लिये राणपुर का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

राणपुर में पूज्य गुरुदेव सात दिन ठहरे थे। अन्तिम दिन पूज्य गुरुदेव ने जिनमन्दिर में भक्ति गवाई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का लाभ भी लोग बड़ी उमंगपूर्वक लेते थे। ज्येष्ठ कृष्णा २ के दिन पूज्य गुरुदेव ने राणपुर से बोटाद की ओर विहार किया था।

बोटाद

ज्येष्ठ कृष्णा ३ के दिन पूज्य गुरुदेव बोटाद पधारे, तब भक्तजनों ने बहुत उल्लासपूर्वक पूज्य गुरुदेव का स्वागत किया था, और ज्येष्ठ कृष्णा ५-६-७ तीन दिन तक जिनमन्दिर में श्रेयांसनाथ इत्यादि भगवन्तों की वेदी-प्रतिष्ठा की विधि जिनमन्दिर में ही हुई थी। ज्येष्ठ कृष्णा ५ के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मण्डप में विराजमान किया था और झंडारोपण हुआ था। तथा वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्यअनुज्ञा विधि हुई; उस में बोटाद के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा उत्सव के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी। गुरुदेव के प्रताप से बोटाद के आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास व्यक्त किया था और बीस विहरमान भगवन्तों की पूजा तथा जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था। ज्येष्ठ कृष्णा ६ के दिन इन्द्र-प्रतिष्ठा के पश्चात् जलयात्रा निकली थी और यागमण्डल विधान हुआ था। शाम को जिनमन्दिर—वेदी—कलश और ध्वजशुद्धि हुई थी। ज्येष्ठ कृष्णा ७ के दिन प्रातःकाल परम पूज्य गुरुदेव के मंगल करकमलों से जिनमंदिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई; प्रतिष्ठा-प्रसंग पर बोटाद के भक्तजनों को बहुत उल्लास था। बोटाद के जिनमन्दिर में मूलनायक रूप से श्री श्रेयांसनाथ भगवान विराजमान हैं; उनके दोनों ओर शीतलनाथ भगवान और सीमंधर भगवान विराजमान हैं, तथा श्री शांतिनाथ और पार्श्वनाथ भगवान विराजमान हैं। तदुपरान्त जिनमन्दिर में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परम पूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई थी। शांतियज्ञ के बाद शाम को भक्ति के पश्चात् जिनेन्द्रदेव की भव्य रथयात्रा

निकली थी। हाथी सहित जिनेन्द्रदेवादि अनेक प्रकार से यह रथयात्रा शोभायमान थी और पूज्य गुरुदेव भी साथ पधारे थे। रात्रि को बालिकाओं ने "महारानी चेलना" का संवाद किया था। —इसप्रकार भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा-महोत्सव अत्यन्त उल्लासपूर्वक मनाया गया था। इसके लिये बोटाद का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

बोटाद में पूज्य गुरुदेव ६ दिन ठहरे थे। ज्येष्ठ कृष्णा ८ के दिन सोनगढ़ में समयसारजी परमागम की पवित्र प्रतिष्ठा का वार्षिकोत्सव था, इसलिये श्री समयसारजी की पूजा हुई थी और पूज्य गुरुदेव ने भक्ति गवाई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का लाभ भी लोग बड़ी उमंग से लेते थे। ज्येष्ठ कृष्णा ९ के दिन पूज्य गुरुदेव ने वींछिया की ओर विहार किया है।

उमराला

चार दिन वींछिया ठहरकर पूज्य गुरुदेव ज्येष्ठ शुक्ला २ के दिन उमराला नगरी पधारेंगे और वहाँ दोज-तीज-चौथ के दिन "कहानगुरु जन्मधाम" के ऊपर बने हुए जिनमन्दिर में वेदी-प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया जायेगा। तत्पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुतपंचमी) का उत्सव भी वहीं होगा। ज्येष्ठ शुक्ला ६ रविवार ता: ६-६-५४ के दिन तीर्थधाम सोनगढ़ पधारेंगे।

लगभग ४॥ महीने के विहार में परम प्रभावक कहान गुरुदेव की मंगलकारी छाया में अनेक मंगलकार्य हुए हैं और जगह-जगह जैनशासन की महान प्रभावना हुई है। सर्व प्रथम उमराला में "उजमबा स्वाध्यायगृह" का और जन्मस्थान का उद्घाटन, वींछिया में जिनमन्दिर का उद्घाटन, तत्पश्चात् तीर्थधाम गिरनारजी की संघ सहित यात्रा, फिर पोरबन्दर, मोरबी, वांकानेर तीन शहरों में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, सुरेन्द्रनगर में ६५वाँ जन्मोत्सव और वढ़वाण, सुरेन्द्रनगर, राणपुर, बोटाद तथा उमराला में वेदी-प्रतिष्ठा और दूसरे कई ग्रामों में नूतन जिनमन्दिरों की घोषणा—ऐसे अनेक मंगलकारी प्रसंगों द्वारा जिनेन्द्र शासन की अद्भुत प्रभावना करके (ज्येष्ठ शुक्ला ६ के दिन) पूज्य गुरुदेव सोनगढ़ पधार रहे हैं; इसलिये वहाँ विशिष्ट भक्तिभाव से उनका भव्य स्वागत करने की भक्तजनों की भावना है। अहो! परम पूज्य गुरुदेव की परमपावन मंगलछाया इस कलियुग में कल्पवृक्ष के समान शांतिदायक है और उनका पवित्र धर्मप्रभाव अनेक सुपात्र जीवों का कल्याण कर रहा है। दिन-दिन वृद्धिंगत होता हुआ पूज्य गुरुदेव का परम प्रभाव भव्य जीवों का कल्याण करे!!

सर्वज्ञभगवान की व्यवहारस्तुति भी किसे होती है?

समवशरण में विराजमान श्री तीर्थंकर भगवान की स्तुति इसप्रकार की जाती है कि—हे जिनेन्द्र! आपका शरीर परम सुंदर और अविकार है, आपकी देह दिव्य परम औदारिक है; जन्म से ही आपको आहार था किन्तु निहार नहीं था, और परमात्मदशा होने के पश्चात् तो आहार भी नहीं रहा; आपका रूप सबको प्रिय लगता है। आप की वाणी भव्य जीवों को अमृत-समान लगती है; आपकी मुद्रा समुद्र की भांति अति गंभीर है, आपके ज्ञान में सब प्रतिभासित होने के कारण मुद्रा पर किंचित् भी विस्मय या कुतूहल नहीं होता; और आपकी मुद्रा चलाचलता रहित है; दुनिया की विविध घटनाएँ ज्ञान में प्रतिभासित होने पर भी आपकी मुद्रा वीतरागता से किंचित्मात्र चलायमान नहीं होती। और हे नाथ! आपकी धर्मसभा में सिंह और हिरन, बिल्ली और चूहे—इत्यादि जाति-विरोधी प्राणी शांति-पूर्वक निर्भय होकर एकसाथ बैठते हैं, और एक-दूसरे की हिंसा नहीं करते।—ऐसे विविधप्रकार से शरीरादि के वर्णन से भगवान की जो स्तुति की जाती है वह व्यवहार से ही है; परमार्थतः शरीरादि के स्तवन से आत्मा की स्तुति नहीं होती; क्योंकि शरीर का रूप या दिव्य-ध्वनि आदि भगवान का सच्चा स्वरूप नहीं है; वह तो पुण्य का फल है; भगवान का आत्मा उससे पृथक् है। यदि उस बाह्य पुण्य के फल के वर्णन को ही भगवान का सच्चा स्वरूप मान ले, और उस पुण्य से भिन्न सर्वज्ञ भगवान के स्वरूप को न जाने—अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा को न पहिचाने तो वह जीव अज्ञानी है, वह अधिक से अधिक पुण्यबंध करेगा, परन्तु उसे भगवान की सच्ची स्तुति (निश्चय से

या व्यवहार से) नहीं होती। जो भगवान आत्मा के परमार्थ स्वरूप को जानता है, उसी को भगवान की सच्ची स्तुति होती है। जो जीव भगवान आत्मा का परमार्थ स्वरूप जानता है वह पुण्य को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता, पुण्य से धर्म नहीं मानता, देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ ऐसा नहीं मानता, देह की क्रिया को आत्मा का कार्य नहीं मानता। कथन में भले ही देह का वर्णन आये, परन्तु उस समय भी "भगवान का आत्मा तो देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप है, वीतराग है, और मेरा आत्मा भी वैसा ही ज्ञानस्वरूप वीतराग है"—ऐसा लक्ष यदि अंतर में हो तभी वहां भगवान की व्यवहारस्तुति है। परन्तु यदि वैसा लक्ष न हो तो व्यवहारस्तुति भी सच्ची नहीं है, क्योंकि निश्चय के लक्ष बिना व्यवहार भी नहीं होता। जिसे निश्चय स्वरूप का लक्ष नहीं है वह जीव वास्तव में भगवान की स्तुति नहीं करता, परन्तु विकार की और जड़ की स्तुति करता है। वह भगवान को नहीं जानता, किन्तु शरीर को और पुण्य के फल को ही भगवान मानता है।

क्योंकि जिसे जिस की रुचि उसे उसीकी महिमा होती है। धर्मी को देह से और राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान है, उसे भगवान की स्तुति का शुभराग हो और शरीर के गुण की बात व्यवहार से आये, परन्तु वहां धर्मी का लक्ष तो ज्ञानस्वरूप आत्मा पर है, भगवान के आत्मा के गुणों के साथ वह अपने आत्मा के गुणों की तुलना करता है, और जितना गुणों का अंश प्रगट हुआ उतनी भगवान की स्तुति हुई—ऐसा वह जानता है; वही भगवान के सच्चे गीत गाता है। भगवान का भक्त अल्पज्ञता या राग का आदर नहीं करता, परन्तु रागरहित सर्वज्ञस्वभाव का ही आदर करता है। और वहां जो शुभराग रहा उसे "भगवान की व्यवहारस्तुति" का आरोप आता है। मेरा आत्मा केवली प्रभु जैसा है, उससे धर्म होता है और जन्म-मरण का नाश होता है; इसप्रकार जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, वह जीव भगवान का भक्त हुआ, वह जिनेन्द्र का नंदन हुआ...उसका इन्द्रियाधीनपना दूर हुआ इसलिये वह जितेन्द्रिय हुआ...

धर्मात्मा हुआ।—इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा का सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन करना ही भगवान की वास्तविक स्तुति है और वही व्यवहारस्तुति होती है।

[—सोनगढ़ प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

देखो....रे....देखो !
चैतन्यनिधान को देखो !

सुपात्र जीवों को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि-अरे जीव ! तुझे चैतन्य के ऐसे निधान बतलाऊ कि अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता न रहे...अपने चैतन्य की महिमा देखते ही तुझे पर की महिमा छूट जायेगी। अनंत धर्मस्वभावी तेरा आत्मा ही चैतन्यमूर्ति भगवान है; तुझे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। तू स्वयं ही दुनिया के निधान को देखनेवाला है। सदैव अल्पज्ञ-सेवक ही बना रहे ऐसा तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है; तेरा आत्मा तो सर्वज्ञ की बराबरी का है; जितना सर्वज्ञ ने किया उतना करने की शक्ति तुझ में भी विद्यमान है।

अहो ! आचार्यदेव चैतन्य के ऐसे निधान बतलाते हैं कि अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता ही न रहे। जो जीव ऐसी शक्तिवाले निजात्मा की प्रतीति करे उसे निमित्त या विकल्प के आश्रय की श्रद्धा उड़ जाती है; पर्यायबुद्धि छूट जाती है और अनंत चैतन्यशक्ति का पिण्ड उसकी प्रतीति में आ जाता है... वह सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग में विचरने लगता है....अंतर्दृष्टि से वह स्वयं ही अपने को तीनलोक के नाथ परमेश्वररूप से देखता है।

श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि भाई ! तू अपने ज्ञानचक्षुओं को खोल ! अपने नेत्रों को खोलकर चैतन्यनिधान को देख ! सर्वज्ञ भगवन्त मन-वाणी-देह से पार ऐसी गहरी गुफा में ले जाकर चैतन्य के अपूर्व निधान बतलाते हैं; उनका विश्वास करके हे जीव ! अपने ज्ञानचक्षु में रुचि का अंजन आंज तो तुझे अपने चैतन्यनिधान दिखाई दें !

अज्ञान से अंध हुआ जीव अपने निकट ही पड़े हुए निजनिधान को नहीं देखता; श्रीगुरु उसे सम्यक्-श्रद्धारूपी अंजन आंजकर उसके निधान बतलाते हैं कि देख ! तेरे निधान तेरे अंतर में ही भरे हैं; बाह्यदृष्टि छोड़कर अंतर में दृष्टि कर तो सिद्ध भगवान जैसे निधान तुझ में भरे हैं वे तुझे दिखलाई देंगे। एक चैतन्य की प्रतीति करने से अनंत सिद्ध भगवन्त, केवली और संतों की सम्पूर्ण ऋद्धि तुझे अपने में ही दिखाई देगी; वह ऋद्धि तुझे कहीं अन्यत्र नहीं ढूंढना पड़ेगी। संत-महंत जिस ऋद्धि को प्राप्त हुए वह अपने चैतन्य में से ही प्राप्त की है; कहीं बाह्य में से वह ऋद्धि प्राप्त नहीं की है। तेरे चैतन्य में भी वह सर्व ऋद्धि भरी है; यदि आंख खोलकर अंतर में देख तो वह दिखाई दे। किन्तु पर में से अपनी ऋद्धि लेने जायेगा तो अंध होकर घोर संसाररूपी वन में भटकेगा। यहाँ आचार्य-भगवान करुणा करके भवभ्रमण से छूटने का मार्ग बतलाते हैं कि अंतर्मुख होकर निजशक्ति को संभाल तो भवभ्रमण से मुक्ति हो !

भवभ्रमण से थके हुए जीवों से श्रीगुरु कहते हैं कि—

देखो...रे...देखो ! अंतर में चैतन्यनिधान को देखो !

[—प्रवचन से]

★

इस देह से भिन्न मेरा आत्मा क्या वस्तु है ?—ऐसा विचार करके सत्समागम से उसकी पहिचान करना वह भवभ्रमण छूटने से का उपाय है।

—पूज्य गुरुदेव

शांतिनाथ प्रभु का दिया हुआ

शांति का उपदेश

[दिव्य दुंदुभि-नाद के बीच भगवान की दिव्यध्वनि की घोषणा]

श्री शांतिनाथ प्रभु का वैराग्य और दीक्षा सम्बन्धी प्रवचन पहले आ चुका है; यह प्रवचन केवलज्ञान-कल्याणक प्रसंग का है।

(वीर सं. २४७९ ज्येष्ठ शुक्ला ४)

आत्मस्वभाव की यह बात जिसे जम जाये उसे धन्य है! उसे अंतर में ऐसा लगता है कि अहो! भगवान ने मेरे स्वभाव की बात कही है; भगवान तो कहते हैं कि तुझमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है।—इस प्रकार महिमा लाकर जो अपने स्वभाव-सन्मुख हो उसी को अंतर में यह बात जमती है। और जिसे यह बात जम जाये उसका अपूर्व कल्याण हो जाता है...जो जीव भगवान का उपदेश सुनने आया है और भगवान की कही हुई आत्मस्वभाव की बात जिसके आत्मा में जम गई वह जीव अल्प-काल में मुक्ति प्राप्त करे ऐसा भव्य ही होता है...दिव्य ध्वनि में तीर्थंकर भगवान की पुकार है कि मैंने जैसा स्वभावाश्रित पुरुषार्थ किया है वैसा ही तुम करो, तो तुम्हारे भी परमात्म दशा-रूपी कार्य हुए बिना नहीं रहेगा।

तीर्थंकर भगवानकी देशना और उसे झेलनेवाला

श्री शांतिनाथ भगवान पहले चक्रवर्ती थे, फिर वैराग्य प्राप्त करके स्वयं दीक्षित हुए और आत्मध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट किया। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने केवलज्ञान-कल्याणक महोत्सव मनाया; समवशरण की रचना की और उपदेश के लिये भगवान की

स्तुति की। भगवान तो वीतराग हैं, उनकी वाणी सहज ही खिरती है, परन्तु इन्द्र स्तुति करें ऐसी विनय की शैली है। समवशरण में शांतिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। भगवान को स्वयं तो पूर्ण शांति थी और दिव्यध्वनि द्वारा दूसरों को भी शांतिका उपदेश देते थे।

तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान होने पर उपदेश न हो-ऐसा हो ही नहीं सकता। भगवान को एकाक्षरी ध्वनि होती है। भगवान का ज्ञान भी अभेद हो गया और वाणी भी अभेद हो गई। रागी और अल्पज्ञ जीव की वाणी भेदवाली होती है; वीतरागता और केवलज्ञान होने पर वाणी में भेद-क्रम नहीं होता। केवली भगवान की दिव्य ध्वनि में एक साथ पूरा रहस्य आता है और उसे श्रवण करने वाले जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं। श्री गणधरदेव भगवान की वाणी को उत्कृष्ट रूप से झेलने के लिये पात्र हैं; वे भगवान की ध्वनि खिरते समय नियम से उपस्थित ही होते हैं। भगवान की वाणी खिरे और उत्कृष्ट झेलनेवाले गणधर उपस्थित न हों ऐसा नहीं होता,—उपादान-निमित्त की संधि कभी टूटती ही नहीं। तीर्थंकर भगवान की वाणी प्रथमबार छूटे उसे झेलकर अन्तर्मुहूर्त में गणधर देव बारह अंग की रचना करते हैं,—ऐसा उत्कृष्ट उनका क्षयोपशम है; भगवान की वाणी में से तो वे बहुत झेलते हैं; परन्तु उसका अमुक भाग ही बारह अंग की रचना में आता है; भगवान की सभा में वे सर्वोत्कृष्ट श्रोता हैं।

भगवान के कहे हुए नवतत्व

भगवान ने केवलज्ञान में सारा विश्व प्रत्यक्ष देखा है; उसमें छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं,—एक जीव और पाँच प्रकार के अजीव। जीव और अजीव तत्त्व त्रिकाली हैं और उनके परस्पर संबंध से दूसरे सात तत्त्व होते हैं, वे क्षणिक हैं। इस-प्रकार कुल नवतत्त्व हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जो जीव धर्म सुनने के लिये आया है वह अपना हित करना चाहता है। हित किसका करना है?—अपने आत्मा का। जगत में जो वस्तु सत् हो उसका हित होता है, अर्थात् जिसका हित करना है

ऐसा अपना आत्मा है;—इस प्रकार अपने आत्मा का अस्तित्त्व निश्चित् करना चाहिए। तथा, जिन्होंने अपना हित कर लिया है ऐसे, और जिन्होंने अपना हित नहीं किया ऐसे, अपने अतिरिक्त अनंत आत्मा इस जगत में हैं—ऐसा जानना चाहिए। जिन्होंने अपना पूर्ण हित साध लिया है वे देव हैं, जो अपने हित की साधना कर रहे हैं ऐसे साधक संत वे गुरु हैं, और उन देव-गुरु की आत्म-हित बतलानेवाली वाणी वह आगम है।

जीव अपना हित करना चाहता है उसका अर्थ यह भी हुआ कि अभीतक उसने अपना अहित किया है। वह अहित अपने स्वभाव के लक्ष से नहीं होता परन्तु स्वभाव से विरुद्ध अन्य वस्तु के लक्ष से अहित हुआ है; इसलिये जीव के अतिरिक्त दूसरी अजीव वस्तुएँ भी जगत में हैं। जिस वस्तु में जानने की शक्ति है वह जीव है, और जिस में जानने की शक्ति नहीं है वह अजीव है।

जीव की पर्याय में मिथ्यात्व, राग द्वेषादि विकार होता है उस में अजीव कर्म निमित्त है। जीव की पर्याय में मलिनता के चार प्रकार होते हैं—पुण्य, पाप, आस्रव और बंध; तथा उनके निमित्त रूप जड़-कर्म में भी यह चार प्रकार हैं।

तथा अपने स्वभाव का भान करके उस ओर परिणमन करने से जीव की पर्याय में शुद्धता होती है; उस शुद्धता के तीन प्रकार हैं—संवर, निर्जरा और मोक्ष। उसमें कर्म का अभाव निमित्त रूप है।

—इस प्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—कुल नव तत्त्व भगवान ने कहे हैं; उन में एक भी तत्त्व कम नहीं हो सकता और उन नव के अतिरिक्त दूसरा कोई दसवाँ तत्त्व जगत में नहीं होता। यदि इन नव तत्त्वों को न मानें तो कुछ भी वस्तुस्थिति ही सिद्ध नहीं होती, और अहित दूर होकर हित का उपाय भी नहीं हो सकता। 'अहित दूर करके हित करना है'—ऐसा कहते ही नवों तत्त्व खड़े हो जाते हैं।

'हे भाई! तू जीव है'—ऐसा कहते ही 'तेरे अतिरिक्त अन्य अजीव पदार्थ हैं वह तू नहीं है'—ऐसा

उसमें आ ही जाता है; इसलिये 'जीव है'—ऐसा कहते ही अनेकान्त के बल से 'अजीव' भी सिद्ध हो जाता है। अनेकान्त, भगवान के जीवन का अमोघ मंत्र है। उस अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वभाव को पहिचानने से स्व-पर का भेद-ज्ञान होकर अपूर्व शांति प्रगट होती है। कई लोग अनेकान्त का यथार्थ स्वरूप पहिचाने बिना अनेकांत के नाम से गड़बड़ी करते हैं। अनेकान्त तो प्रत्येक तत्त्व की स्वतंत्रता और पर से पृथक्ता बतलाकर स्वभाव की ओर ले जाता है।—इस प्रकार भगवान द्वारा उपदेशित अनेकान्त वह परम शांति का उपाय है।

जीव और अजीव-यह दो मूल द्रव्य अनादि अनंत निज-निज स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं; वे सर्वथा नित्य नहीं हैं परन्तु नित्य-अनित्यस्वरूप हैं; वस्तुरूप से स्थायी रहकर अपनी अवस्था बदलते हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है।

—उस में जब जीव पर के आश्रय से परिणमित होता है तब उसकी पर्याय में पुण्य-पाप-आस्रव और बंध की उत्पत्ति होती है, और जब अपने भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करके परिणमित होता है उस समय संवर-निर्जरा और मोक्ष की उत्पत्ति होती है।

—इस प्रकार जगत में जीवादि नवतत्त्व हैं; भगवान ने पूर्ण ज्ञान में नव तत्त्व देखे, दिव्यध्वनि द्वारा वे नव तत्त्व कहे गये, और श्रोता-जन उन नव तत्त्वों का स्वरूप समझकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुए। स्वभाव की ओर उन्मुख होने से उनकी पर्याय में से पुण्य-पाप-आस्रव और बंध-रूप विकारी तत्त्वों का अभाव होने लगा और संवर-निर्जरा तथा मोक्ष-रूप निर्मल तत्त्वों की उत्पत्ति होने लगी।—इसका नाम धर्म है, यही हित का और शांति का उपाय है।

आत्मा नित्य ज्ञान-आनंदस्वभाव से परिपूर्ण है, परन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है इसलिये अवस्था में मलिनता है; और उस मलिनता में परवस्तु निमित्त है। अपनी अवस्था में होनेवाली मलिनता को तथा निमित्तरूप परवस्तु को यदि न जाने तो सच्चा ज्ञान नहीं होता। इस जगत में अकेला

अद्वैत आत्मा ही है और दूसरा कुछ है ही नहीं;—ऐसा जो माने उसे स्व-पर का भेदज्ञान करके अंतरस्वभाव में उन्मुख होना नहीं रहता। यदि आत्मा के स्वभाव को और पर को तथा विकार को भी जाने तो स्व पर का भेदज्ञान करके, क्षणिक विकार का आश्रय छोड़कर अभेद स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होकर मुक्ति हो जाती है। 'आत्मा का हित करना है'—इस में यह सारी बात आजाती है। यह सब स्वीकार किए बिना आत्मा का हित करने की बात नहीं रहती और सच्ची शांति नहीं होती। स्व-पर के भेद-ज्ञान बिना शांति होती ही नहीं, क्योंकि शांति तो आत्मा के अतर-स्वभाव के आश्रय से है, बाह्य संयोगों के आश्रय से शांति नहीं होती।

जगत में जो छह द्रव्य अथवा नव तत्त्व स्वयंसिद्ध हैं वे ही भगवान ने कहे हैं, परन्तु भगवान ने कहीं कोई नये तत्त्व नहीं बनाए हैं, और भगवान ने कहे इसलिये वे तत्त्व हैं—ऐसा भी नहीं है, और वे तत्त्व हैं इसलिये उनके कारण भगवान को ज्ञान हुआ ऐसा भी नहीं है। जगत के तत्त्व स्वतंत्र हैं और, भगवान का ज्ञान भी स्वतंत्र है। मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ऐसा है कि जैसा ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव हो वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होता है। भगवान ने केवलज्ञान से जीव-अजीव प्रत्येक तत्त्व को स्वतंत्र देखा है, किसी के कारण कोई नहीं है, इसलिये एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ नहीं करता। भगवान आत्मा चिदानन्द शुद्धस्वभावी है, वह पर का कुछ नहीं करता। अपना कल्याण अपने स्वभाव में से ही प्रगट होता है।

यदि 'जीव' न हो तो कल्याण किसका किया जाए?

यदि 'अजीव' पर लक्ष न हो तो जीव की पर्याय में भूल कैसे हो?

यदि जीव की पर्याय में पराश्रय से होनेवाला 'विकार' न हो तो कल्याण करना क्यों रहे?

यदि स्वाश्रय से वह विकार-दशा दूर होकर 'अविकारी दशा' न होती हो तो कल्याण कहाँ से हो?

इसलिये—जीव है, अजीव है, अजीव के आश्रय से जीव की पर्याय में विकार है और अपने स्वभाव के आश्रय से वह विकार दूर होकर निर्मल दशा होती है। इसप्रकार जीव, अजीव, विकार और स्वभाव —इन चारों पक्षों को बराबर जानकर स्वभाव का आश्रय करे तो अधर्म दूर होकर धर्म होता है।—इसमें नवों तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

दिव्य दुंदुभि-नाद के बीच भगवान ने की हुई स्वतंत्रता की घोषणा

भगवान को केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्यध्वनि में छहों द्रव्यों की स्वतंत्रता का उपदेश आया; उसमें कहा कि प्रत्येक आत्मा अपनी चैतन्यशक्ति से प्रभु है। आत्मा और जड़—दोनों में अपनी प्रभुता है। जड़ पदार्थों में भले ही चेतनशक्ति नहीं है, परन्तु वे जड़ वस्तुएँ अपनी-अपनी स्वतंत्र शक्ति से सम्पन्न हैं; शरीरादि जड़ का पलटना स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी शक्ति से होता है; आत्मा अपनी इच्छानुसार उन्हें परिणमित नहीं कर सकता। पर का कुछ भी करने की शक्ति आत्मा में नहीं है, परन्तु अपनी अपार ज्ञान और सुख-शक्ति उसमें भरी है। आत्मा स्वाश्रय से, किसी भी पर के आश्रय बिना अपना कल्याण कर ले ऐसी शक्तिवाला है; अपनी शांति के लिये उसे कहीं बाहर जाना पड़े—ऐसा वह नहीं है। और अपनी परमात्म-शक्ति को भूलकर पराधीन भी वह अपनेआप हुआ है; किसी दूसरे ने उसे पराधीन नहीं किया है। दुंदुभि के दिव्यनाद के बीच ऐसी स्वतंत्रता का ढंढेरा भगवान के उपदेश में आया है।

भगवान के समवशरण में दुंदुभि-नाद होता है वह जगत से ऐसा कहता है कि अरे जीवो! यदि तुम्हें अपने आत्मा का हित करना हो और शांति की इच्छा हो तो भगवान की इस वाणी को सुनो; भगवान मोक्षमार्ग के नेता हैं; यदि तुम्हें मोक्षमार्ग प्रगट करना हो तो प्रभु के उपदेश को सुनो! आकाश में घहरती हुई देव-दुंदुभि जगत के जीवों को आमंत्रित कर रही है कि—भो....भो....भव्य जीवो! आत्मा का कल्याण करने लिये अपने सब प्रमाद छोड़कर यहाँ आओ और

मोक्ष के सार्थवाह—ऐसे इन भगवान का सेवन करो...भगवान का उपदेश सुनो !

—और भगवान की दिव्यध्वनि ऐसी पुकार करती है कि—हे जीवो ! यदि तुम्हें अपना हित करना हो तो वस्तु की स्वतंत्रता को जानकर आत्मस्वभाव का आश्रय करो ! यदि तुम्हें शांति चाहिए हो, धर्म करना हो तो प्रथम अपने आत्मा को पहिचानो....श्री शांतिनाथ भगवान ऐसा शांति का उपदेश देते थे। अहो ! जहाँ साक्षात् तीर्थंकर भगवान विचरते हों और समवशरण हो वहाँ तो धर्म का उत्कृष्ट प्रवाह चलता है।

इससमय महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा तीर्थंकररूप से विराजमान हैं और वहाँ धर्म-प्रवाह धोखबन्द चल रहा है। यहाँ से भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव श्री सीमंधरभगवान के पास गये थे और वहाँ आठ दिन रहकर भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनी थी। लगभग विक्रम संवत् ४९ में यह घटना हुई थी। वह दिव्यध्वनि झेलकर भरत क्षेत्र में वापिस आकर उन्होंने श्री समयसारादि की रचना की थी। उसमें वे कहते हैं कि भगवान दिव्यध्वनि में ऐसा कहते थे कि हम भी सिद्ध हैं और तुम भी सिद्ध हो; हम परमात्मा हैं और तुम भी परमात्मा हो; प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण परमेश्वर है। तुम अपनी प्रभुता को पहिचानो ! जितने जीव प्रभु हुए हैं वे सब अपनी प्रभुता को पहिचानकर उसके आधार से ही प्रभु हुए हैं। प्रभुता कहीं बाहर से नहीं आती किन्तु स्वभाव में शक्ति है उसी में से वह प्रगट होती है; इसलिये अपनी स्वभावशक्ति को पहिचानकर उसका अवलम्बन करो।

सिद्ध समान सदा पद मेरा

आचार्यदेव ने समयसार के मांगलिक में ही "वंदित्तु सव्व सिद्धे"—ऐसा कहकर आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है; सिद्धत्व का प्रस्थान किया है। मैं सिद्ध भगवन्तों को वंदन करता हूं, यानी आत्मा की सिद्धरूप से स्थापना करता हूँ। अहो जीवो ! मैं सिद्ध हूं और तुम भी सिद्ध हो ! तुम अपने सिद्धत्व का स्वीकार करो ! मेरा और तुम्हारा आत्मा सिद्ध समान है। इस पंचमकाल में साक्षात् सिद्ध दशा नहीं

है, परन्तु स्वभाव से तो मैं भी सिद्ध हूँ और तुम भी सिद्ध हो! इसलिये आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके सिद्धदशा का प्रस्थान रखते हैं। यह बात सुनते ही जिसने उल्लसित होकर आदर किया उसने अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है, अब वह अल्पकाल में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

पं. बनारसीदासजी नाटक-समयसार में कहते हैं कि:—

चेतनरूप अनूप अमूरति
सिद्धसमान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग
कियो परसंग महातम घेरो॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि
कहूं गुण नाटक आगम केरो।
जासु प्रसाद सधै शिवमारग
वेगि मिटै भववास बसेरो॥

—अपना परमार्थ स्वभाव कैसा है वह बतलाकर फिर पर्याय की बात की है। मेरा स्वभाव तो सदैव चैतन्यरूप, उपमारहित, अमूर्तिक सिद्ध समान है। परन्तु पर्याय में महा मोहान्धकार का सम्बन्ध होने से अज्ञानी बन रहा था; परन्तु अब तो मेरे आत्मा में ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, इसलिये मैं इस समयसार के गुण कहता हूं—जिसके प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है और शीघ्र ही भववास का अन्त आ जाता है अर्थात् जन्म मरण छूट जाते हैं। जिसकी चिदानन्दी भगवान आत्मा को उपमा दी जा सके ऐसा कोई पदार्थ इस जगत में नहीं है, 'उसकी उपमा उस को' सिद्ध समान अपना पद है। ऐसे आत्मा की पहिचान और श्रद्धा के बिना जन्म-मरण दूर नहीं होते।

सिद्ध होने का उपाय

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सिद्ध हूं और तू भी सिद्ध है। एकबार हम कहते हैं ऐसे अपने आत्मा का विश्वास करके हाँ कहना। आत्मा का स्वभाव सदैव सिद्ध जैसा होने पर भी उसके अविश्वास के कारण वह शक्ति रुक गई है। विश्वास के फेर से ही यह संसार बना है। कोई कहे कि 'आत्मा सिद्ध समान हो तो उसे यह क्या हो गया है?'—तो कहते हैं कि स्वभावसामर्थ्य से तो आत्मा सदैव सिद्धसमान है ही, परन्तु पर्याय में उस स्वभाव की असाव-

धानी के कारण स्वयं ही अज्ञानी हुआ है। वह क्षणिक अज्ञानभाव आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में नहीं है....अब इस शुद्धात्मस्वभाव की महिमा श्रवण करते-करते विकल्प पर जोर मत देना, किन्तु 'मैं सिद्ध हूँ'—ऐसा लक्ष रखकर स्वभाव की ओर जोर देना। पूर्ण स्वभाव के लक्ष से श्रवण-मनन करने से पर्याय में से दोष और अपूर्णता दूर हो जायेंगे। भगवान की दिव्य-ध्वनि में ऐसा आया था कि हे भव्य जीवो! तुम्हारा आत्मा पर से भिन्न ज्ञायकस्वरूप है, परसंग छोड़कर स्वभाव का परिचय करो, ऐसा करने से जैसा शक्तिरूप से परमात्मपना है वैसा पर्याय में व्यक्त हो जायेगा।—ऐसा मुक्ति का उपाय भगवान ने कहा है। इस के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से परिभ्रमण के दुःख का अन्त नहीं आ सकता।

जिसे यह बात जम जाये उसे धन्य है....!

जिसे आत्मा के स्वभाव की यह बात जम जाये उसे धन्य है! जिसकी रुचि में यह बात जम गई उसकी अल्पकाल में मुक्ति हो जाती है। आत्मा के स्वभाव की यह बात किसे जमती है?—जिसे पात्रता प्रगट होकर अन्तर में ऐसा हो कि—अहा! भगवान ने मेरे स्वभाव की बात कही है....भगवान ने तो मेरे आत्मा की अनंत महिमा समझाई है....भगवान तो कहते हैं कि मुझमें और तुम में कोई अन्तर नहीं है। अहो! ऐसा मेरा स्वभाव!—ऐसी महिमा लाकर जो अपने स्वभावसन्मुख हो उसी को अंतर में यह बात जमती है; और जिसे यह बात जम जाये उसका अपूर्व कल्याण हो जाता है। जिसके पर्यायबुद्धि हो उसके अन्तर में यह बात नहीं जमती, और यह बात जमे बिना कल्याण नहीं होता। क्षणिक पर्याय में विकार है उतना ही अपने को अनादिकाल से मान रहा है, इसलिये परिभ्रमण करता है; वह पर्यायबुद्धि छुड़ाकर यहाँ द्रव्यबुद्धि कराना चाहते हैं। पर्याय में जो एकसमय का संसार है वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। एकसमय के विकार में आत्मा का चैतन्यपद नहीं है; यदि उस विकार में आत्मा को ढूंढ़े तो आत्मा अनुभव में नहीं आएगा,

किन्तु विकार की उत्पत्ति होगी। यदि स्वसन्मुख होकर अंतर में त्रिकाली चैतन्यपद को ढूंढे तो उसके आश्रय से स्थायी परमात्मदशा हुए बिना न रहे।

मोहक्षय के लिये समस्त तीर्थंकरों का एक ही मार्ग

श्री आचार्यभगवान मोहक्षय का उपाय बतलाते हुए प्रवचन में कहते हैं कि—

जो जाणदि अरहंतं
दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं
मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

जिसने अरिहंत भगवान के आत्मा को द्रव्य गुण-पर्याय से जान लिया, और उसी जाति का मैं हूं—ऐसा निर्णय किया वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है। इसप्रकार मोह का नाश करके पश्चात् शुद्धात्मा के आश्रय से ही राग-द्वेष का नाश करने से जीव शुद्धात्मा को प्राप्त होता है अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करता है।—ऐसा मुक्ति का उपाय है। और यह एक ही उपाय है—ऐसा दृढ़ करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि:—

सव्वे वि य अरहंता
तेण विधाणेण खविद् कम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं
णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

उपरोक्त कथनानुसार ही मोह-क्षय का उपाय करके समस्त अरिहंत भगवन्तों ने मोह का नाश किया और परमात्मदशा को प्राप्त हुए। पश्चात् उन अरिहंत भगवन्तों ने वैसा ही उपदेश जगत को दिया। उसमें उन्होंने कहा कि हम इस-प्रकार मोह का नाश करके ही पर-मात्मदशा को प्राप्त हुए हैं। जैसा हमने किया है वैसा ही यदि तू करे तो तू भी परमात्मा होने योग्य है। तू अपने अरिहंत समान आत्मा को जानकर उसका आश्रय करे तो तेरा मोह नष्ट होकर परमात्मदशा हो। यहाँ तो 'परमात्मदशा हो ही जाए' ऐसी बात है, 'न हो'—ऐसी बात यहाँ नहीं है। अभव्य जीव भले ही जगत में हों, परन्तु भग-वान के समवशरण में अभव्य जीव नहीं होते। जो जीव भगवान का उपदेश सुनने के लिये आया और भगवान की कही हुई आत्मा की बात जिसके आत्मा में जम गई

वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा भव्य ही होता है। इस समय यहाँ भी भगवान के केवलज्ञान प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनिरूप से यह उपदेश चल रहा है।

दिव्यध्वनि में पुरुषार्थ की पुकार

दिव्यध्वनि में तीर्थंकरदेव की पुकार है कि—जैसा स्वभावाश्रित पुरुषार्थ मैंने किया है वैसा ही पुरुषार्थ यदि तुम करो तो तुम्हारे भी परमात्मदशारूपी कार्य हुए बिना नहीं रहेगा। जितना आत्मस्वभाव का पुरुषार्थ करे उतना ही स्वभाव का कार्य प्रगट न हो ऐसा नहीं हो सकता, पुरुषार्थ अधिक करे और कार्य कम हो ऐसा कभी नहीं होसकता; और अपने पुरुषार्थ के बिना किसी अन्य के आधार से परमात्मदशा प्रगट होजाए—ऐसा भी नहीं हो सकता। एक ही नियम है कि जितना स्वभावाश्रित पुरुषार्थ करे उतनी पवित्र दशा उस क्षण प्रगट हो जाती है। सांसारिक बाह्य संयोगों की बात अलग है; वहाँ तो बहुत राग करने पर बाह्य संयोग नहीं भी मिलते परन्तु आत्मा में तो स्वभाव के पुरुषार्थ से अवश्य मुक्ति होती है। पुरुषार्थ के बिना मुक्ति नहीं होती।

कोई कहे कि:—काललब्धि होगी तब मुक्ति होजायेगी, उसमें पुरुषार्थ व्यर्थ है;—तो ऐसा कहनेवाला मिथ्यादृष्टि है। पुरुषार्थ के बिना काललब्धि का निर्णय किसने किया? जहां पुरुषार्थ है वहां काललब्धि होती ही है। 'निज परिणाम को प्राप्ति ही काललब्धि है।" आत्मा का पुरुषार्थ सूझे और काललब्धि की शंका रहे—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार भगवान ने पुरुषार्थ का उपदेश दिया है।

[पृष्ठ ३८ से आगे]

करते हैं; मैंने तो अपने आत्मा को समभाव में परिणमित किया है—इस प्रकार श्रामण्य में परिणमित हुए मुनियों के हृदय में अखंड शांति है...अहो ! उन मुनियों की शांति ! उन संतों को आत्मा की ही लगन लगी है; आत्मा की रमणता की धुन में सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग कर रहे हैं...

आत्मा के भानपूर्वक ज्ञानी ऐसे मुनिपद की भावना भाते हैं किः—

'एकाकी विचरतो वली स्मशानमां...
वली पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो...
अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता...
परम मित्रनो पाम्या जाणे योग जो...
—अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?'

अहो ! ऐसा धन्य अवसर कब आयेगा कि मैं स्मशान में अकेला जाकर चैतन्य के ध्यान में लीन होऊँगा ! जगत में मुर्दे को तो लोग 'ओ...ओ...' करके रोते हुए स्मशान में ले जाते हैं और वहाँ जला देते हैं;—परन्तु मैं तो अकेला अपनेआप नित्यानंद स्वरूप में मस्त बनकर चैतन्य की लगन से 'ॐ...ॐ' रटता हुआ स्मशान में जाकर देह से भिन्न आत्मा का ध्यान करूँ... ॐ के वाच्यभूत ज्ञानानंद परमब्रह्म ऐसे भगवान शुद्ध आत्मा को ध्यान में लेकर ऐसे निज चैतन्य स्वरूप को जागृत करता हुआ, स्मशान में मोह को मुर्दे की भाँति भस्म कर दूँ!—ऐसी दशा आने से पूर्व इस बात को समझकर उसकी भावना करने में भी अलौकिक आनंद और निर्जरा होती है। इस भावना में एक की एक बात पुनः पुनः आये तथापि पुनरुक्ति दोष नहीं लगता, जिसे जिसकी लगन लगी हो वह उसकी भावना बारम्बार करता रहता है। जगत के अज्ञानी जीव विषय-कषाय की भावना को बारम्बार भाते हैं और यहाँ आत्मा में स्थिर होने की वीतरागी भावना बारम्बार भाते हैं।

धर्मी जीव वीतरागी चारित्र की भावना भाते हैं किः—अहो ! जहाँ सिंह-बाघ चिंघाड़ते हों ऐसे भयानक वन में —एकाकी आत्मस्वरूप में कब विचरेंगे ? निर्भयरूप से अडोल आसन हो... और सिंह-चीते शरीर को खा जायेंगे—ऐसा विकल्प तक मन में न हो...हम तो अंतर की सहजानंदमय चैतन्य-गुफा में रहनेवाले अरूपी आनंदकंद हैं...हमें कौन खा सकता है ?—कौन काट सकता है ? यह जड़ शरीर हमारी वस्तु नहीं है; देह से भिन्नत्व जानकर उसका महत्त्व छोड़ दिया है। सिंह आकर शरीर को खा जाये, तो हम जिस शरीर को छोड़ना चाहते हैं (जिसका ममत्व छोड़ दिया है) उसे वह ले जाता है; इसलिये वह हमारा मित्र है। वास्तव में तो मुनियों को चैतन्य की लीनता

में ऐसी वीतरागता हो गई है कि देह की ओर का विकल्प भी नहीं उठता।—अहो! ऐसी आत्मभावना करके संत निज स्वरूप में स्थित हों वहाँ जगत का देखने को कहाँ से रुकेंगे?—ऐसी अशरीरी चैतन्य स्वभाव की भावना के बिना धर्म नहीं हो सकता। अशरीरी चैतन्य की भावना भाने से भव का अभाव हो जाता है। पर की भावना करने में तो भाई! तेरा अनंत-काल व्यतीत हो गया.. अब, ऐसे निज-चैतन्य की महिमा जानकर उसकी भावना तो कर! उसकी भावना से तेरे भव का अन्त आजायेगा। श्री शांतिनाथ भगवान ऐसी भावना भाकर मुनि हुए उसीप्रकार प्रत्येक जीव को स्वयं अपनी शक्ति के अनुसार भावना भाना चाहिए। ऐसी भावना में सबको साथ देने जैसा है—ऐसी भावना का अनुसरण करने जैसा है।

अहो! चैतन्य की भावना भाकर, वन में जाकर उसका ध्यान करें और उसमें ऐसे लीन हो जाएँ कि स्थिर बिम्ब देखकर शरीर के साथ वन के हिरन खाज खुजाने के लिये भ्रम से ठूँठ जानकर अपने शरीर को घिसते हों!—ऐसी स्थिति में कब होंगे? 'हम तो आनंदकंद हैं' ऐसे भानपूर्वक स्वभाव की भावना भाकर, राग को नष्ट करके शांतिनाथ भगवान वीतरागी मुनि हुए; सुख-दुःख में समभावी हुए; सर्व प्रकार के उपसर्गों में समता की भावना भाकर—अर्थात् उपसर्गों की उपेक्षा करके—निज चैतन्य में लीनता से ऐसी मुनिदशा हुई। वन-जंगल में एकाकी विचरण करनेवाले भगवान को बाह्य संयोगों का कोई दुःख नहीं था; वे तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद की मौज में लीन थे। मुनिदशा में दुःख नहीं है, मुनिदशा तो पूर्णानन्दस्वरूप सिद्धदशा का साधन है; इसलिये पूर्णानन्द दशा के साधनरूप उस मुनि-दशा में भी सिद्ध भगवान जैसे आनंद का अंशतः अनुभव होता है। सम्य-ग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मुनिदशा तो स्वयं दुःखों के नाश का कारण है, तब फिर वह स्वयं दुःखरूप कैसे होगी? जो चारित्र को कष्टदायक या दुःखरूप मानते हैं उन्हें मुनिदशा का भान ही नहीं है—चारित्र का तिरस्कार है। बाह्य संयोगों का दुःख संतों को नहीं है, संतों को तो स्वभाव की अपूर्व शांति का वेदन है।

भगवान को जो चारित्रदशा प्रगट हुई वह किसी बाह्य क्रियाकाण्ड से प्रगट नहीं हुई है, परन्तु आत्मा में लीनता से ही प्रगटी है। आत्मा का चारित्र बाह्य वेश में या शरीर की दशा में नहीं है; अरे! पंचमहाव्रत के शुभराग में भी वास्तव में आत्मा का चारित्र नहीं है; परन्तु अंतर में त्रिकाली

चैतन्यनाथ अनंत आनंद की खान है, वह फटकर उसमें से चारित्रदशा प्रगट होती है। चैतन्य में एकाग्रता से ही चारित्र और केवलज्ञान प्रगट होता है। चारित्रदशा प्राप्त करनेवाले मुनि को प्रथम तो ध्यान में स्थिर होने पर सातवें गुणस्थान की अप्रमत्तदशा प्रगट होती है; उस समय तो 'मैं मुनि हूँ, अथवा मैं ध्यान करता हूँ'—ऐसी राग की वृत्ति भी नहीं होती। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् छठवें गुणस्थान में पंचमहाव्रतादि की वृत्ति उठती है। मोक्षमार्ग में ऐसी ही स्थिति है कि मुनि को प्रथम अप्रमत्त दशा हो, गुणस्थान श्रेणी में प्रथम सातवाँ गुणस्थान आये और तत्पश्चात् छठवाँ गुणस्थान आता है। मुनियों को प्रमत्तदशा एकसाथ अधिककाल तक नहीं रहती परन्तु अप्रमत्त दशा का निर्विकल्प अनुभव बारम्बार होता ही रहता है।

मुनिदशा में आत्मा स्वयं चारित्र में लीन हो जाता है; आत्मा ही आनन्दमय हो जाता है...आनंदकंद चिदानन्द स्वभाव में लीन होकर आत्मा 'सम सुख–दुःख' हुआ उसके फल में वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है। देखो, मोह का नाश करके 'सम सुख-दुःख' अर्थात् वीतरागभाव हुआ वही मुनि का चारित्र है और अक्षय सुख की प्राप्ति ही उसका फल है; बीच में राग आये वह चारित्र नहीं है और स्वर्ग की प्राप्ति हो वह चारित्र का फल नहीं है। स्वर्ग का भव हो वह तो राग का फल है; राग छेदकर वीतरागी चारित्र के फल में मुक्ति होती है।

जगत के अज्ञानी जीव स्वर्गादि के इन्द्रिय-सुख में सुख की कल्पना करते हैं और उसके कारणरूप शुभराग में धर्म की कल्पना करते हैं—यह दोनों मिथ्या कल्पना हैं। स्वर्ग का माना हुआ सुख वह सच्चा सुख नहीं है और शुभराग धर्म नहीं है। वास्तव में स्वर्ग में सुख या राग में धर्म भगवान ने कभी कहा ही नहीं है; परन्तु वीतरागभाव से आत्मा में से प्रगट होनेवाला सुख ही सच्चा सुख और धर्म है। बाह्य सामग्री में तो भगवान को पहले चक्रवर्ती का राज्यवैभव था, तथापि उसमें सुख नहीं है—ऐसा भगवान ने जाना था, इसलिये उसे छोड़कर चले गये। यदि उस पुण्य के फल में सुख होता तो भगवान उसे क्यों छोड़ते? भगवान ने तो उसकी ओर का राग छोड़कर आत्मा के अक्षयसुख की साधना की। ऐसा पूर्ण सुख प्राप्त करने के पश्चात् भगवान को अवतार नहीं होता। देखो, यह भगवान का चारित्र! इस चारित्रदशा के पश्चात् भगवान को भव नहीं होता। अहो! भगवान का मार्ग तो देखो...अप्रतिहतरूप से सीधा केवलज्ञान! अंतर के चैतन्यमार्ग पर पहुँचे वे पीछे नहीं लौटते।

दर्पण में ही प्रतिबिम्ब देखकर श्री शांतिनाथ भगवान को वैराग्य हुआ... और "ॐ नमः सिद्धेभ्यः"—इसप्रकार सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके स्वयं दीक्षित हुए। पश्चात् आत्मध्यान में लीन होने से सिद्धसमान चैतन्य पिण्ड में से अतीन्द्रिय परमानंद का अनुभव और अप्रमत्तदशा हुई तथा मनः-पर्याय ज्ञान प्रगट हुआ मति-श्रुत-अवधि—यह तीन ज्ञान और जाति-स्मरण ज्ञान तो थे ही; उप-रांत मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ। यहाँ तो भगवान के दीक्षा कल्याणक का स्थापनानिक्षेप से दृश्य है...किन्तु जब साक्षात् तीर्थंकर भगवान का दीक्षा-कल्याणक होता होगा उस प्रसंग की दशा कैसी होगी? उस प्रत्यक्ष कल्याणक-काल की महिमा मुख से कैसे कही जाय!! अहो!! जो चक्रवर्ती थे, काम-देव थे और तीर्थंकर थे, उन्होंने जब दीक्षा ली होगी उस समय की वैराग्य-दशा की और उस प्रसंग की क्या बात! धन्य वह काल...और धन्य वह भाव... वह जगत में सर्वोत्तम जिन का रूप था, उत्तम भोग था, और तीर्थंकर हैं—ऐसे शांतिनाथ भगवान चारित्रदशा धारण करके अप्रमत्तदशा में झूल रहे हैं... क्षण में छठे की या सातवें आदि की वृत्ति उठती है और दूसरे ही क्षण उस वृत्ति को तोड़कर पुनः निर्विकल्प आनन्द-अनुभव में ऐसे लीन हो जाते हैं मानों सिद्ध बैठे हों...ऐसी भगवान की दशा है। ऐसी चारित्रदशा इससमय तो प्रसिद्ध-रूप से महाविदेह क्षेत्र में है...इससमय यहाँ ऐसी दशा के दर्शन के भाग्य कहाँ से हों!—परन्तु यह दशा किये बिना किसी की मुक्ति नहीं होती।

प्रथम तो शुद्ध आत्मा के भान द्वारा मिथ्यात्व का नाश किया, और पश्चात् राग द्वेष को नाश करके आत्मा 'सम सुख-दुःख' हुआ; इसलिये किसी अनुकूल या प्रतिकूल संयोग में 'यह ठीक और यह अठीक'—ऐसा विषम भाव नहीं होता; चैतन्य के अनुभव में आनंद की लीनता में कहीं सुख-दुःख की वृत्ति नहीं होती इसलिये समभाव से (राग-द्वेष रहित वीतराग भाव से) चैतन्य में लीनता द्वारा जीव श्रामण्यभाव में परि-णमित होता है; उसका नाम चारित्र-दशा और मुनिपद है। ऐसे चारित्र-वाला जीव अल्पकाल में मुक्ति का अक्षयसुख प्राप्त करता है।

शांतिनाथ भगवान ने ऐसी चारित्र दशा प्रगट की और केवलज्ञान प्रगट करके अक्षय सुख को प्राप्त किया; केवल-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् दिव्यध्वनि खिरी। शांतिनाथ भगवान को स्वयं को शांति थी, और पर को शांति का उपदेश देते थे। क्या उपदेश देते थे वह आगे कहा जायेगा।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

अषाढ़ : २४८० ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक तीसरा

सम्पादक :

रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

★★★ शुद्धभाव में धर्म ★★★

आत्मा के परम शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और उसमें स्थिरता द्वारा पर्याय में जो शुद्ध भाव प्रगट होता है वह मोक्ष का कारण है। आत्मा का परम शुद्ध स्वभाव ही उपादेय है; पुण्य-पाप दोनों विकारी भाव हैं, वे छोड़ने योग्य हैं। ये दोनों भाव अशुद्धभाव के पक्ष हैं, उनमें धर्म नहीं होता। धर्म तो आत्मा के शुद्धभाव से होता है।

(—नियमसार-प्रवचनों से)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१११]

एक अंक चार आना

जैनस्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

अषाढ़ : २४८० ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक तीसरा

वार्षिक मूल्य	[१११]	एक अंक
तीन रुपया		चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर • सोनगढ़ सौराष्ट्र

प्रौढ़-वय के गृहस्थों के लिये

जैनदर्शन-शिक्षणवर्ग

प्रतिवर्ष की तरह इस वर्ष भी श्रावण शुक्ला २, शनिवार ताः ३१-७-५४ से भाद्रपद कृष्णा १०, सोमवार ताः २३-८-५४ तक श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट की ओर से सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग प्रारंभ होगा। तत्वज्ञान का प्रारंभिक अभ्यास करनेवाले जिज्ञासुओं को इस वर्ग का शिक्षण बहुत उपयोगी है। जिन भाईयों को इस वर्ग में सम्मिलित होने की इच्छा हो वे अपने आने की सूचना भेजकर समय पर उपस्थित हो जायें।

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर सोनगढ़
(सौराष्ट्र)

लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका

यह पुस्तक तत्त्वज्ञान के प्रेमी प्रत्येक जिज्ञासुओं में प्रचार योग्य होने से शीघ्र मंगाकर तत्त्व-रहस्य के उत्तम अभ्यास करने का लाभ लीजिये।

मू० ०-४-०

[२० बुकसे ज्यादा मंगाने पर प्रतिशत २५) कमीशन।

प्राप्तिस्थान-जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ : सौराष्ट्र

आत्मधर्म

आषाढ़ : २४८० ❖ वर्ष दसवाँ ❖ अंक तीसरा

वीतराग मुद्रित जिन-प्रतिमा

[भगवान की व्यवहारस्तुति कैसी होती है और उसका निमित्त कैसा होता है?]

सर्वज्ञ भगवान का परम भक्त... सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा...जिसे आत्मा का भान है वह अंतर में वीतरागी स्वभाव के अतिरिक्त रागादि किसी भाव का आदर नहीं करता और बाह्य में निमित्तरूप से भी वीतरागी प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य कुदेवादिक का बहुमान नहीं करता। श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाजी की मुद्रा में एकदम वैराग्यता दिखलाई देना चाहिए...ज्ञायक बिम्ब वीतरागी मुद्रा होना चाहिए...जिसकी मुद्रा देखते ही ऐसा लगे कि मानो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तआनंद और अनंतबल में लीनता से भगवान तृप्त-तृप्त हों!—ऐसी वीतरागी प्रतिमा होना चाहिए। यद्यपि वीतरागभाव तो अपने को अपने में से ही निकालना है, किन्तु जब शुभराग के समय बाह्य में लक्ष जाये तब निमित्तरूप से ऐसी ही वीतरागी जिनमुद्रा ही होती है। भगवान वीतराग हैं, उनकी प्रतिमा पर शृङ्गार नहीं होता, उनके आहार नहीं होता। भगवान की मुद्रा तो परम उपशम रस में झूलती है...जिसे देखते ही ज्ञायकस्वभावी आत्मा स्मरण में आता है। भगवान का ऐसा स्वरूप पहिचाने बिना भगवान के प्रति सच्ची भक्ति नहीं उछलती। जिसने जीवन में कभी वीतराग भगवान को न तो देखा है और न जाना है उसे सच्ची भक्ति कहाँ से आयेगी? पहिचाने बिना किसकी भक्ति करेगा? वह भगवान की भक्ति के नाम पर शुभराग से पुण्य बंध करेगा, परन्तु उसे धर्म नहीं होगा, संसार से छुटकारा नहीं होगा।

भगवान को देखकर अन्तर में वीतरागी आत्मा का स्मरण कौन करेगा? —जिसके आत्मा में वीतरागी स्वभाव

का निर्णय किया होगा। अवश्य भावी आत्मा को केवली भगवान जैसा साक्षात् नहीं देख सकता, किन्तु अन्तर में स्वानुभव से आत्मा के स्वभाव का निःशंक निर्णय बराबर कर सकता है। और वह जीव भगवान की शांत-मुद्रा देखकर आत्मा के स्वभाव को स्मरण में लाता है। इस समय महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं, वहाँ भी छद्मस्थ को उनका आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु निर्विकारी शांत देह दिखलाई देती है, उसपर से भगवान की वीतरागता का अनुमान हो जाता है। समवशरण में सुवर्ण का सिंहासन, गंधकुटी और कमल होता है, उससे भी चार अँगुल ऊपर आकाश में निरालम्बीरूप में भगवान विराजमान होते हैं। जिसप्रकार भगवान का आत्मा निरालंबी है, उसीप्रकार उनका दिव्य परमौदारिक शरीर भी आकाश में निरालम्बी रूप से विराजमान होता है। भगवान के शरीर पर वस्त्र नहीं होते, हाथ में शस्त्र या माला नहीं होती, बगल में स्त्री नहीं होती; और भगवान का शरीर परम औदारिक है, उसमें रोगादि नहीं होते, अशुचि नहीं होती, क्षुधा या आहारादि नहीं होते; मुख पर भय, शोक या हास्य भी नहीं होता। एकदम शांत निर्विकारी वीतरागी ध्यानस्थ मुद्रा होती है। और इच्छा के बिना सहज ही सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरती है, उसमें सर्व पदार्थों के स्वरूप का कथन आता है।—ऐसे भगवान को देखने से चैतन्यबिम्ब आत्मस्वभाव लक्ष में आता है कि अहो! ऐसा मेरा आत्मस्वभाव। इसप्रकार अविकारी आत्मस्वभाव का स्मरण और बहुमान होने से संसार का स्मरण भूल जाता है और राग की रुचि दूर हो जाती है।—इसका नाम भगवान का सच्चा स्तवन है। ऐसे भान सहित धर्मात्मा के, वीतराग भगवान की प्रतिमाजी आदि की भक्ति का शुभराग आये उसे व्यवहारस्तुति कहते हैं। उस व्यवहारस्तुति में भी निमित्तरूप से वीतरागी जिनबिम्ब ही होता है। रागसहित-कुदेवादिक की भक्ति करे उसे तो व्यवहारस्तुति भी नहीं कहा जा सकता, वह तो मिथ्यात्व है।

—यहाँ कोई अज्ञानी ऐसा पूछे कि—'व्यवहारनय को तो असत्यार्थ कहा है और भगवान का शरीर तथा प्रतिमा तो जड़ है; फिर उनकी स्तुति किसलिये की जाये?' उससे आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे मूढ़! हमने व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं कहा है। साधक जीव को जब बीच में शुभराग आता तब कभी कभी भगवान की ओर लक्ष जाता है; वहाँ छद्मस्थ जीव को अपने या भगवान का

आत्मा केवली की भाँति प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देता, शरीर दिखलाई देता। वहाँ जिसके अन्तर में वीतरागी मुद्रा देखने से अंतरंग में आत्मा के वीतराग स्वभाव का निर्णय होता है। —इसप्रकार साधक जीव को परमार्थ के भानसहित व्यवहारस्तुति भी बीच में होती है; उसका जो सर्वथा निषेध करे वह अज्ञानी है, और जो उसी को धर्म मान ले तो वह भी अज्ञानी है। इसमें ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रतिमादि परपदार्थों के कारण जीव को शुभराग होता है। परपदार्थों के कारण शुभराग नहीं होता, किन्तु साधक को अपनी योग्यता के समय उसप्रकार का शुभराग होता है और उसमें वीतरागी जिनबिम्बादि योग्य निमित्त होते हैं—ऐसा समझना चाहिए।

[प्रवचन से]

आत्मार्थी का विचार और उद्यम

आत्मार्थी जीव अंतर में ऐसा विचार करता है कि—अरे! अल्पकाल का जीवन, इसमें मुझे अपने आत्मा का ही कार्य करने जैसा है। सम्यक्‌दर्शन के बिना जीव को कोई शरणभूत नहीं है, इसलिये मुझे तत्त्वनिर्णय करके अपने आत्महित का प्रयोजन सिद्ध कर लेना चाहिए—ऐसा विचार कर सांसारिक कार्यों की प्रीति कम करके चैतन्य के निर्णय का उद्यम करता है, उसीमें अपना हित भासित हुआ है, इसलिये वह कार्य करने में प्रीति और हर्षपूर्वक उद्यम करता है। इसप्रकार अपने आत्मकार्य का महान उल्लास होने से निरंतर उसका उद्यम करता ही रहता है। मैं दूसरों का सुधार दूं—ऐसे विचार में युक्त नहीं होता, किन्तु मैं तत्त्व को समझकर अपने आत्मा का इस भव भ्रमण में से उद्धार करूँ—ऐसा विचार कर उसीका उद्यम करता है।—'काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग।'

सम्यक्त्वी की अंतर्दृष्टि

अनादिकाल से संसार में भटकते हुए जीव ने सब कुछ किया है; अनंतबार महान राजा और देव हुआ; और नारकी तथा पशु भी अनंतबार हुआ; —परन्तु अपने आत्मा का शुद्धस्वरूप क्या है, वह बात कभी नहीं समझा। संसार में अज्ञानियों को सब सुलभ है, —एकमात्र आत्मस्वभाव की समझ ही परम दुर्लभ है। इसलिये श्री आचार्यदेव करुणा करके उस शुद्धआत्मा का एकस्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि:—

अहो! जिसे जीवों ने कभी नहीं देखा है ऐसा आत्मा का पर से भिन्न शुद्ध एकत्व ज्ञायकस्वरूप मैं अपने आत्मवैभव से बतलाता हूँ। जीवों को अनंतकाल से जो समझना शेष रह गया है वह मैं समझाता हूँ,—इसलिये हे जीवो! तुम उसे प्रमाण करना। इस देह-मन्दिर में रहनेवाला परन्तु देह से पृथक् भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, क्योंकि राग-द्वेष तो अभूतार्थ हैं—नाशवान हैं, वे स्वभाव के साथ एकमेक नहीं हुए हैं; इसलिये उन राग-द्वेष से रहित एकाकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करो, शुद्ध दृष्टि से देखने पर आत्मा एक ज्ञायकभावरूप है, वही भूतार्थस्वभाव है, और उस भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दृष्टि के अनुभव में भूतार्थ एक ज्ञायकभाव ही प्रकाश-मान है; भेद या राग की प्रधानता उसकी दृष्टि में नहीं होती; साधकदशा में राग और गुणस्थान भेद आता है, उसे जानते अवश्य हैं, परन्तु दृष्टि में से अभेद आत्मस्वभाव का अवलम्बन कभी नहीं छूटता; उनके परिणमन में स्वभाव और परभाव के बीच का भेदज्ञान सदैव-प्रवर्तमान रहता; राग होता है उसे जानें वहाँ, 'यह जो राग है सो मैं हूँ,'—ऐसी आत्मबुद्धि नहीं होती परन्तु 'मैं अखण्ड चैतन्यस्वभाव हूँ'—ऐसी अखण्ड दृष्टि रहती है।—इसका नाम भूतार्थ का आश्रय अथवा शुद्धनय का अवलम्बन है। युद्ध या विषय भोगादि के पापपरिणामों के समय भी अंतर की निर्विकल्प दृष्टि में से धर्मी को अभेद चैतन्यस्वरूप का आश्रय कभी नहीं छूटता, उसकी प्रतीति दूर नहीं होती; उपयोग में भले ही सदैव निर्विकल्पता न रहे, और राग या पर की ओर उपयोग हो, परन्तु साधकजीव की दृष्टि में तो कभी भी अभेदस्वभाव का अवलम्बन छूटकर भेद की प्रधानता नहीं होती। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है; यदि वह दृष्टि छूट जाये तो सम्यग्दर्शन नहीं रहता;—इसप्रकार भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दृष्टिपना है।

[—श्री मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१३]

असंकुचित-विकासत्वशक्ति

क्षेत्र और काल से अमर्यादित ऐसे चिद्विलासस्वरूप असंकुचित-विकासत्व नाम की शक्ति है; यह शक्ति भी आत्मा के ज्ञानमात्रभाव में साथ ही परिणमित होती है। संकोचरहित विकास ही—ऐसा चैतन्य का विलास है। अमुक क्षेत्र और अमुक काल को जाने और उससे अधिक न जान सके—ऐसी कोई मर्यादा चैतन्य के विकास में नहीं है। चैतन्य का इतना विकास होता है कि उसमें किंचित् भी संकोच नहीं रहता; अमर्यादितकाल और अमर्यादित क्षेत्र को भी वह जान लेता है—ऐसा असंकुचित-विकासरूप चैतन्यस्वभाव है। आत्मा में अनादि-अनंत ऐसा स्वभाव है कि उसके चैतन्यविकास में मर्यादा नहीं है। अमुक क्षेत्र और अमुक काल को जान लेने के पश्चात् अब विकास बस हो गया—ऐसी सीमा उसमें नहीं है। आत्मा स्वयं भले ही असंख्य प्रदेशी है, परन्तु उससे कहीं उसकी चैतन्यशक्ति का विलास मर्यादित नहीं हो गया है; असंख्य प्रदेशी होने पर भी अनंतानंत अमर्यादित क्षेत्र को जाने—ऐसी उसकी शक्ति है। क्षेत्र से अनंतप्रदेशी या सर्वव्यापक हो तभी उसकी अनंतशक्ति कहलायेगी—ऐसा नहीं है। स्वयं अल्पक्षेत्र में रहकर सर्वक्षेत्र को जान लेता है तथा एक समय में तीनकाल को जान लेता है; जानने में कहीं संकोच नहीं होता—ऐसी असंकुचित-विकासरूप शक्ति आत्मा में सदैव है। लोकालोक में जितने

ज्ञेय हैं उनकी अपेक्षा अनंत गुने होते तो उन्हें भी जान लेने की ज्ञान को असीम शक्ति है। जिसका स्वभाव ही जानने का है, उसके जानने में क्षेत्र या काल की मर्यादा नहीं होती।

आत्मा जानता है अपने असंख्य प्रदेश में, परन्तु जानता है अनंत क्षेत्र को! उसीप्रकार वह जानता एक ही समय में, परन्तु जानता है अनंत अमर्यादित काल को। देखो यह चैतन्य का विलास। इस चैतन्य विलास को कोई बंधन में नहीं रख सकता। जैसे—किसी मनुष्य को जेल में बन्द किया हो, परन्तु वह मनुष्य जेल की कोठरी में बैठा-बैठा अपने ज्ञान में बाहर के पदार्थों को जाने—तो क्या उसके ज्ञान को कोई रोक सकता है? तुझे जेल में बन्द किया है इसलिये तुझे जेल के बाहर का ज्ञान नहीं करने देंगे—इस प्रकार क्या कोई उसे रोक सकता है? उसीप्रकार आत्मा के अपार ज्ञानविलास को कोई रोक नहीं सकता; उसे बंधन में नहीं रखा जा सकता। अमुक क्षेत्र तथा अमुक काल को जानने जितना ही विकास होता है और उससे अधिक नहीं होसकता—ऐसा मर्यादित स्वभाव नहीं है; परन्तु अमर्यादित रूप से सर्वक्षेत्र और सर्वकाल को जाने ऐसा संकोच-रहित विकास होने का आत्मा का स्वभाव है। अल्पज्ञता और अल्पवीर्यादि संकोच रूप रहने का आत्मा का स्वभाव नहीं है; शक्ति का परिमित विकास रहे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; परन्तु असंख्य प्रदेश में और एक समय में पूर्ण अमर्यादित केवलज्ञान तथा अपार वीर्य, आनन्दादि विकास को प्राप्त हों—ऐसा अमर्यादित आत्मस्वभाव है।

देखो, ऐसी अमर्यादित शक्ति का पूर्ण विकास किसके आश्रय से प्रगट होता है। निमित्त का, विकार का या मर्यादित पर्याय का आश्रय करने से अमर्यादित सामर्थ्य प्रगट नहीं होता, परन्तु उल्टे पर्याय का सामर्थ्य संकुचित हो जाता है। आत्मा का त्रिकाल अमर्यादित स्वभाव है उसका आश्रय करके परिणमित होने से पर्याय में भी अमर्यादित चैतन्यशक्ति व्यक्त रूप से उछलती है, प्रगट होती है। प्रथम

ऐसे निजस्वभाव की प्रतीति करना वह धर्म का प्रारम्भ है। वर्तमान पर्याय में अल्प विकास होने पर भी द्रव्यसन्मुख दृष्टि से अपने पूर्ण विकास होने रूप स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है; और अपने पूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति न करके, पर्याय के अल्प विकास जितना ही अपने को मानकर वहाँ अटक जाना वह पर्याय मूढ़ता का मिथ्यात्व है।

अज्ञानी जीव आत्मा को निर्मोल्य, तुच्छ और सामर्थ्यहीन मानते हैं; उन्हें आचार्यदेव आत्मा का अपार सामर्थ्य रूप स्वभाव बतलाते हैं कि देख भाई! तेरा आत्मा इस अल्प सामर्थ्य जितना ही संकुचित नहीं है; परन्तु संकोचरहित अपार विकास हो—ऐसा तेरे आत्मा का अचिंत्य सामर्थ्य है। आत्मा के प्रदेश तो असंख्य हैं इसलिये उसका स्वक्षेत्र मर्यादित है; परंतु मर्यादित क्षेत्रवाला होने पर भी उसके ज्ञान में क्षेत्र को जानने की ऐसी कोई मर्यादा नहीं है कि अमुक क्षेत्र तक ही जान सके! उसके चैतन्य सामर्थ्य का ऐसा अमर्यादित विकास है कि चाहे जितने क्षेत्र का और चाहे जितने काल का ज्ञान करने में उसका कहीं संकोच नहीं होता, मर्यादा नहीं आती और न थकावट मालूम होती है। अधिक जाना इसलिये ज्ञान थक गया अथवा ज्ञान में संकुचितता हुई-ऐसा कभी नहीं होता; आत्मा का चैतन्यस्वभाव संकोच रहित है। अपने चैतन्य विकास से लीलामात्र में तीन काल -तीन लोक को जान ले और साथ ही अपार आनंद का उपभोग करे—ऐसी अद्भुत चैतन्य विलास की मौज है। अज्ञानी मूढ़ जीव बाह्य में विषय-कषायादि में मौज मान रहे हैं, परन्तु वह तो आकुलता है—दुःख है; उन्हें अपनी अतीन्द्रिय चैतन्यमौज की खबर नहीं है इसलिये वे बाह्य इन्द्रिय-विषयों में मौज की कल्पना करते हैं। ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरे चैतन्यविलास में ही मेरी मौज है; वे बाह्य इन्द्रिय-विषयों में स्वप्न में भी मौज नहीं मानते।

चैतन्य का विलास कैसा है? संकोचरहित अमर्यादित उसका विकास है; अमुक ही जान सके-ऐसी

कालकी मर्यादा नहीं है; और चैतन्य का जो पूर्ण विकास प्रगट हुआ वह फिर कभी संकुचित नहीं होता। आत्मा की स्वभावशक्ति को काल या क्षेत्रकी मर्यादा नहीं है। पंचमकाल है और भरतक्षेत्र है इसलिये आत्मा की स्वभावशक्ति में कुछ संकुचितता आ गई–ऐसा नहीं है; स्वभाव सामर्थ्य त्रिकाल एकरूप है। चैतन्य के विलास को किसी क्षेत्र या काल की मर्यादा में नहीं बांधा जा सकता। जो क्षेत्र या काल की मर्यादा बांधता है वह चैतन्य तत्त्व को बंधन में डालता है। चैतन्यतत्त्व का अमर्यादित विलासरूप असंकुचित–विकास स्वभाव है, उसका तो कहीं नाश नहीं होता, वह तो इस समय भी प्रत्येक आत्मा में है; परन्तु जो उसे नहीं जानता उसको संसार परिभ्रमण होता है।

यहाँ इन शक्तियों का वर्णन करके ऐसा बतलाना है कि ज्ञानमात्र आत्मा में यह समस्त शक्तियाँ भी साथ ही विद्यमान हैं इसलिये आत्मा को "ज्ञानमात्र" कहने से एकान्त नहीं हो जाता, परन्तु अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है; ऐसे अनेकान्तमूर्ति आत्मा को पहिचानकर उसका आश्रय लेने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है और उसकी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित होने लगती हैं। इन समस्त शक्तियों द्वारा ज्ञायक स्वरूप आत्मा ही लक्षित होता है, इस से भिन्न अन्य कुछ लक्षित नहीं होता; क्यों कि आत्मा स्वयं ही अनंतशक्तियों का पिण्ड है। ऐसे अनेकान्त स्वरूप आत्मा का जानना ही जिननीति है। देखो, यह जैनधर्म की लोकोत्तरनीति! आगे २६५ वें कलश में कहेंगे कि–ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थिति को अनेकान्त के साथ सम्बन्ध रखनेवाली दृष्टि द्वारा स्वयमेव देखते हुए, स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि को जानकर, जिननीति का अर्थात् जिनेश्वरदेव के मार्ग का उल्लंघन न करके, सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।

"ज्ञान स्वरूप" कहकर आत्मा की पहिचान कराई है; परन्तु आत्मा में अकेला ज्ञानगुण नहीं है किन्तु ज्ञान के साथ दूसरे अनंत गुण हैं; वे समस्त गुण सहवर्ती हैं और उनकी पर्यायें क्रमशः एक के

पश्चात् एक होती है इसलिये पर्यायें क्रमवर्ती हैं। पर्यायें तो नवीन होती जाती हैं और दूसरे क्षण नष्ट होती जाती हैं; गुण न तो नवीन होते हैं और न कभी उनका नाश होता है। द्रव्य त्रिकाल अनंतगुण का पिण्ड है। ऐसा आत्मस्वभाव समझ लेने से पर की उपेक्षा होकर अपने स्वभाव का आश्रय होता है उसका नाम धर्म है। आत्मा की एक भी शक्ति पर में नहीं है; इसलिये पर सन्मुख देखने से आत्मा ज्ञात नहीं होता और न उसके गुण प्रगट होते हैं। मात्र क्षणिक पर्याय पर दृष्टि डाले तो भी अनंत शक्तिवान आत्मा ज्ञात नहीं होता। ज्ञानादि अनंतगुणों का जो पिण्ड है उसे अभेद रूप से लक्ष में ले तो आत्मा यथार्थ स्वरूप से ज्ञात हो।

मैं शरीरादि पर के कार्य करूँ—ऐसा जो माने उसकी पर्याय तो पर को देखने में ही अटक गई है; पर से भिन्न अपने आत्मा की ओर वह नहीं देखता इसलिये उसका मिथ्यात्व दूर होकर उसे धर्मलाभ नहीं हो सकता। आत्मा के गुणों द्वारा जब पर से भिन्नत्व को जाना और परोन्मुखता छोड़कर आत्मोन्मुख हुआ, उस समय, पहले पर-लक्ष से जो ज्ञान–दर्शन–आनंद–वीर्यादि गुण संकुचित थे उनका अब पर्याय में विकास प्रगट हुआ। स्वभाव में तो विकास होने का सामर्थ्य था ही, वह अब पर्याय में प्रगट हुआ। आत्मा में ऐसा असंकुचितविकास धर्म है इसलिये उसके सर्व गुणों में संकोचरहित अमर्यादित विकास हो—ऐसा उसका स्वभाव है।

मैं पर का करता हूँ और पर मेरा कार्य करता है; तथा पुण्य–पाप ही मेरा कर्तव्य है—ऐसा जब जीव मानता था उस समय पराधीन दृष्टि के कारण उसके ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्यादि की पर्यायें संकोचरूप थीं; उनका विकास मर्यादित था; अब, अनंतशक्ति रूप निजस्वभाव की प्रतीत करके उसके आश्रय से ज्ञानादि का अमर्यादित विकास हो जाता है। आत्मा का ज्ञान सर्वथा ढँककर आत्मा जड़ ही जावे—ऐसा कभी नहीं होता। निगोद की नीच से नीच अवस्था में भी ज्ञान का अमुक क्षयोपशम भाव (विकास) तो

इसके अतिरिक्त, शुभाशुभ विकार का आश्रय करके लाभ माने तो पर्याय का विकास नहीं होता किन्तु विकार होता है। और, जड़ का मैं करता हूँ—ऐसा मानकर जड़ के आश्रय में रुके तो आत्मा तो जड़ नहीं हो जायेगा किन्तु उसकी पर्याय संकोचरूप रहेगी; पर्याय का जो विकास होना चाहिए वह नहीं होगा। पर के या विकार के लक्ष से आत्मा की पर्याय में संकोच होता है और विकास नहीं होता अर्थात् धर्म नहीं होता। जीव की पर्याय में अनादिकाल से संकोच है; वह संकोच दूर होकर संकोच-रहित विकास कैसे प्रगट हो—वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा में ज्ञानादि का अमर्यादित विकास होने की शक्ति त्रिकाल है; उसकी प्रतीति करने से वह प्रतीति करनेवाली पर्याय भी विकास को प्राप्त होती है। यहाँ तो आत्मा त्रिकाली संकोचरहित विकासरूप चैतन्य विलास से परिपूर्ण ही है; पर्याय में विकास नहीं था और प्रगट हुआ—ऐसी पर्यायदृष्टि की यहाँ प्रधानता नहीं है।

मेरी पर्यायें मेरे द्रव्य में से आती हैं और द्रव्य तो परिपूर्ण है;—इसप्रकार स्वसन्मुख होकर द्रव्य की प्रतीति करे तो उसके आश्रय से अमर्यादित रूप से चैतन्य का विकास होकर केवलज्ञान हो। आत्मा के स्वभाव में अमर्यादित शक्ति होने पर भी उसकी पर्याय में अल्पता क्यों हुई? यदि स्वभाव का आश्रय करे तो स्वभाव जैसी ही पर्याय हो; परन्तु स्वभाव का आश्रय छोड़कर पर्याय पराश्रय में अटकी इसलिये उसमें अल्पता हुई; ज्ञान परोन्मुख होने से अल्प हुआ; श्रद्धा ने पर में एकत्व माना इसलिये वह मिथ्या हुई; चारित्र की स्थिति स्वाश्रय से च्युत और परोन्मुख होने से आनंद के बदले आकुलता का वेदन हुआ; वीर्य भी परोन्मुखता से अल्प हुआ।—इस-प्रकार परोन्मुखता में अटकने से पर्याय में अल्पता हुई; संकोच हुआ। वह अल्पता और संकोच दूर होकर पूर्णता का विकास कैसे हो उसकी यह बात है।

आत्मा में जीवत्वशक्ति है, उसे भूलकर शरीर और अन्न इत्यादि

से अपना जीवन मानता था, उस समय आत्मा की शक्ति संकुचित थी; उसके बदले अब जीवत्वशक्ति का भान किया कि मैं तो अपने चैतन्य प्राण से ही त्रिकाल जी रहा हूँ; इसलिये स्वाश्रय से सच्चे चैतन्य जीवन का विकास हुआ।

पहले अपनी स्वाधीन शक्ति को भूलकर चेतना तथा दर्शनज्ञान को पराश्रय से मानता था; उस समय उसकी पर्याय संकोचरूप थी; अब जहाँ स्वाधीन शक्ति का भान हुआ वहाँ उसके आश्रय से चेतना तथा दर्शन-ज्ञान का अपार विकास प्रगट हो गया।

इसीप्रकार पहले अपनी स्वाधीन सुखशक्ति को भूलकर पर में सुख मानता था, उस समय सुख के बदले आकुलता का वेदन करता था; उसके बदले अब अपने पूर्ण स्वरूप की श्रद्धा होने पर सुखशक्ति तो आत्मा में ही है ऐसा भान होने से आत्मा के आश्रय से सुख का विकास हुआ।

पहले अब परमें सुख मानता था, उस समय आत्मा का वीर्य भी परमें रुकता था इसलिये वह संकोचरूप था; उसके बदले अब वह वीर्य स्वभावोन्मुख होने से स्वाश्रय से उसका भी विकास हुआ।

और, पहले अपनी प्रभुता को चूककर परको प्रभुता देता था इसलिये पर्याय में प्रभुता प्रगट नहीं हुई थी; उसके बदले अब निजस्वभाव की स्वाधीन प्रभुता का भान होने से उसके आश्रय से प्रभुता प्रगट हुई।

अपनी अनंत शक्तियों में विभुत्व भूलकर आत्मा को पर में व्यापक मानता था, उस समय उसकी शक्ति संकुचित थी; अपनी स्वतंत्र विभुता का भान होने से स्वाश्रय विभुत्व का विकास हुआ।

पुनश्च, सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्वशक्ति अपने में है उसे भूलकर अपने को अल्पज्ञता जितना मानता था, उस समय दर्शन-ज्ञान का परिणमन अल्प-मर्यादित-संकुचित था; उसके बदले अब आत्मा ही सर्वदर्शी और सर्वज्ञस्वभाववाला है—ऐसा भान होने से उसके आश्रय से सर्वदर्शिता और सर्वज्ञता का अमर्यादित विकास हो गया।

अपने स्वच्छ उपयोग स्वभाव को भूलकर अपने उपयोग को मलिन–रागादिमय मानता था, तब उसके उपयोग में लोकालोक ज्ञात नहीं होते थे; अब, आत्मा के स्वच्छ स्वभाव का भान होने से उसके आश्रय से उपयोग की ऐसी स्वच्छता विकसित हुई कि उसमें लोकालोक ज्ञात होते हैं।

और अपनी प्रकाशशक्ति को भूलकर अपने ज्ञान को पराश्रय से ही मानता था इसलिये अपना प्रत्यक्ष स्वसंवेदन नहीं होता था; अब, अपनी स्वाधीनप्रकाशशक्ति को जानने से ज्ञान अंतर्मुख होकर स्वयंप्रकाशमान ऐसा प्रत्यक्ष स्व-संवेदन प्रकाशित हुआ।

—इस प्रकार, यहाँ आत्मा की जीवत्वादि बारह शक्तियों का वर्णन किया तदनुसार, आत्मा की शक्ति जब पराश्रय में रुकती है तब उसके विकास की मर्यादा रहती है अर्थात् वह संकुचित रहता है; और आत्मस्वभाव का आश्रय करने से समस्त शक्तियों के परिणमन में अमर्यादित विकास हो जाता है। भले निगोद में हो या नववें ग्रैवेयक में हो, परन्तु जिसे अपने आत्मस्वभाव का आश्रय नहीं है और पराश्रय की रुचि है उस जीव का परिणमन मर्यादित—संकुचित—रहता है, उसका अमर्यादित विकास नहीं होता। जो जीव अनंतशक्ति सम्पन्न चैतन्य भगवान अपने आत्मा को जानकर उसके आश्रय से परिणमित होता है उसे अपनी पर्याय में ज्ञानादि का अपार विकास हो जाता है। जीव क्या कर सकता है? या तो आत्मा को भूलकर पराश्रय में रुककर अपनी पर्याय को संकुचित करेगा, या फिर आत्मा का भान करके उसमें एकाग्रता द्वारा पर्याय को विकसित करेगा;—इन दो के अतिरिक्त तीसरा कुछ नहीं कर सकता; अर्थात् अपने ही परिणमन में संकोच या विकास के अतिरिक्त पर के परिणमन में जीव कुछ कर ही नहीं सकता—ऐसा नियम है। और, अपने परिणमन में जो संकोच होता है वह वास्तव में जीव का मूल स्वभाव नहीं है; संकोच रहित परिपूर्ण विकास हो—ऐसा जीव का स्वभाव है। जो ऐसे स्वभाव

का भान करे उसे उस स्वभाव के आश्रय से पर्याय का विकास होते होते अमर्यादित चैतन्यविलास प्रगट हो जाता है !

प्रश्नः—आत्मा शरीर में रहता है, फिर भी वह शरीर का कुछ नहीं कर सकता ?

उत्तरः—अरे भाई ! वास्तव में आत्मा शरीर में विद्यमान ही नहीं है; आत्मा तो अपनी अनंतशक्तियों में विद्यमान है।

प्रश्नः—परन्तु व्यवहार से तो शरीर में विद्यमान कहा जाता है न ?

उत्तरः—भाषा की पद्धति से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा शरीर में विद्यमान है; परन्तु भाषा की पद्धति भिन्न है और समझने की पद्धति भिन्न है। वस्तुस्वरूप क्या है उसे न समझे और मात्र भाषा के शब्दों को ही पकड़कर वैसा वस्तुस्वरूप मान ले तो वह जीव अज्ञानी है। आत्मा शरीर में विद्यमान है—ऐसा कहना तो निमित्त और संयोग का कथन है, परन्तु वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप क्या है उसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

आत्मा का परमार्थ स्वरूप क्या है उसे समझे बिना जीव की पर्याय-बुद्धि और देहबुद्धि दूर नहीं होती। देह की क्रिया मैं करता हूँ, देह की क्रिया से मुझे लाभ होता है, व्यवहार का शुभराग करते करते उससे मेरा कल्याण हो जायेगा—ऐसी जिसकी मान्यता है उसके पर्यायबुद्धि और देहबुद्धि बनी ही है; उसने वास्तव में आत्मा को देह से भिन्न जाना ही नहीं है। अनादि से स्वभाव को भूलकर पर्यायबुद्धि और देहबुद्धि से ही पर्याय में संकुचितता रही है और इसी से संसार है, अर्थात् पर्याय-बुद्धि से ही संसार है। देह के सम्बन्ध से रहित और राग से भी पार, अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियों से परिपूर्ण—ऐसे स्वभाव को जानकर उसमें तन्मयता करने से पर्याय का विकास होकर मुक्ति हो जाती है और संकोच तथा संसार दूर हो जाते हैं। आत्मा में ऐसी त्रिकाल शक्ति ही है कि प्रतिबंध रहित अमर्यादित चैतन्यविलास प्रगट हो।—इस शक्ति का नाम 'असंकुचित-विकासत्व शक्ति' है।

[—क्रमशः]

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है?

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है,. उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचन का सार

लेखांक १५] [अंक १०९ से आगे

* "प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है?"—ऐसा प्रश्न जिज्ञासु शिष्य करता है।
* उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि "आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है। और अनंत नयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।"
* ऐसे आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है, उसमें से २४ नयों के प्रवचन अभीतक दिये जा चुके हैं आगे यहां दिये जा रहे हैं।

(२५) ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय से, परके प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है। जिसमें अनेक वस्तुओं का प्रतिबिम्ब झलकता हो ऐसा दर्पण स्वयं अनेकरूप हुआ है; उसीप्रकार ज्ञान में अनेक प्रकार के परज्ञेय झलकते हैं—ज्ञात होते हैं; वहां ज्ञान अपने स्वभाव से ही ऐसी अनेकतारूप परिणमित हुआ है, कहीं पर ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हुए हैं।

अपनी अनंत शक्तियों से सम्पूर्ण अखण्ड आत्मा अनंत धर्मों का स्वामी है और वह प्रमाणज्ञान का विषय है; और उस प्रमाणज्ञान की किरण द्वारा उसका एक-एक धर्म ज्ञात होता है। नय प्रमाणपूर्वक ही होते हैं। यहाँ २५वें नय से आत्मा का वर्णन चल रहा है।

प्रथम ज्ञान-ज्ञेय के अद्वैतनय से आत्मा को एक कहा, उसमें भी आत्मा पर से तो पृथक् ही है; और यहाँ ज्ञान-ज्ञेय के द्वैतनय से आत्मा को अनेक कहा; उसमें भी पर से तो पृथक ही है। एकरूप और अनेकरूप भासित हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव ही है। आत्मा में वे दोनों धर्म एक साथ ही हैं। आत्मा का एकत्व देखनेवाला नय हो अथवा अनेकत्व देखनेवाला नय हो —वे सर्व नय आत्मा को ही उस-उस धर्म की मुख्यता से देखते हैं; पर के

कारण आत्मा का धर्म है—ऐसा वे नहीं मानते। एकपना और अनेकपना—इन दोनों को परस्पर विरोध है; परन्तु प्रमाणज्ञान उस विरोध को दूर करके आत्मस्वभाव को सिद्ध करता है।

जिस प्रकार दर्पण में मोर, सुवर्ण, आम, जामुन, नीम—इत्यादि अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देने से दर्पण की भी अनेकता भासित होती है; उसी प्रकार चैतन्यज्योति दर्पण भगवान आत्मा का ज्ञान भी अनेक पदार्थों को जानने से, अनेकतारूप से परिणमित होता है; इसलिये आत्मा में अनेकस्वरूप धर्म है। ज्ञेयों की अनेकता ज्ञेयों में है, उनसे तो आत्मा पृथक् है, परन्तु अरिहंत-सिद्ध, जड़-चेतनादि अनेक ज्ञेय पदार्थों को जानने से ज्ञान स्वयं अपने स्वभाव से ही अनेकतारूप होता है; वह अनेकता कहीं परज्ञेयों के कारण नहीं होती। जैसे, दर्पण में अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वह दर्पण की ही अवस्था है, दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वैसी ही अनेकाकाररूप पर्याय से परिणमित हुआ है; उसी प्रकार ज्ञान भी अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण अनेक ज्ञेयाकारोंरूप परिणमित होता है; वह ज्ञान की अपनी अवस्था है; परज्ञेयों का आकार ज्ञान में नहीं आ जाता।

देखो, यह आत्मा के धर्मों का वर्णन चल रहा है; यह आत्मा के अपने वैभव का वर्णन है; ऐसे धर्मों द्वारा धर्मी—आत्मा—की पहिचान होती है। ऐसे धर्मों द्वारा आत्मा को जाने तो स्वभाव की रुचि और सम्यग्ज्ञान हो; तथा उसमें एकाग्रता द्वारा मुक्ति प्राप्त हो।

प्रश्नः— आत्मा के इतने अधिक धर्मों को जानना तो उपाधि और राग का कारण होगा?

उत्तरः— अरे भाई! आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है; इसलिये आत्मा के इन धर्मों को जानना वह कहीं उपाधि या राग का कारण नहीं है, परन्तु इन धर्मों से आत्मा को जानने पर राग टूटकर ज्ञान की निर्मलता में वृद्धि होती है अर्थात् निरुपाधिकपना होता है। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में लोकालोक की अनेकता ज्ञात होने पर भी उनके ज्ञान में उपाधि नहीं है, विकल्प नहीं है, परन्तु वीतरागता है। अनेकता को भी जानने का ज्ञान का स्वभाव है; ज्ञान में अनेकता ज्ञात हो वह कहीं राग का कारण नहीं है। ज्ञान का द्वैत स्वभाव अपना है, वह लोकालोक के कारण नहीं है। ज्ञान में लोकालोक का जो प्रतिभास होता है वह कहीं लोकालोक की अवस्था नहीं है, परन्तु वह तो ज्ञान स्वयं ही अपने वैसे धर्मरूप से परिणमित हुआ है, लोकालोक तो ज्ञान

के बाहर हैं।—इसप्रकार द्वैतनय से अनेकाकार ज्ञानस्वभाव आत्मा को जानना वह सम्यग्ज्ञान और वीतरागता का कारण है। ज्यों-ज्यों विशेष-विशेष पक्षों से आत्मस्वभाव का निर्णय करे त्यों-त्यों जीव के ज्ञान की विशुद्धता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है। वस्तु के स्वरूप का सच्चा ज्ञान कभी भी उपाधि या राग का कारण नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह समस्त ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला है; उसका ज्ञान एकरूप रहने पर भी अनेक ज्ञेयों के ज्ञानरूप से अनेकरूप भी होता है—ऐसा उसका धर्म है। एकरूप रहना भी आत्मा का धर्म है और अनेकरूप होना भी आत्मा का ही धर्म है। आत्मा में वे दोनों धर्म एकसाथ विद्यमान हैं; और ऐसे अनंतधर्मों का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा है!

ज्ञान में अनेक पदार्थ ज्ञात होने से, वह अनेक पदार्थों के ज्ञानरूप परिणमित हुआ है; वहाँ ज्ञान अपना है, ज्ञेयों का नहीं है; और ज्ञेय ज्ञेय में हैं ज्ञान में नहीं हैं। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेयों की भिन्नता है। ज्ञान में अपने स्वभाव से द्वैतपना—अनेकपना भासित होने पर भी वह उपाधि नहीं है और न राग का कारण है। यह सब धर्म आत्मा के हैं; उन धर्मों द्वारा आत्मा का ज्ञान होने से प्रमाण-सम्यग्ज्ञान होता है; वह ज्ञान राग का कारण नहीं है परन्तु वीतरागता का ही कारण है।

देखो, यहाँ कहे जा रहे हैं—ऐसे अनंतधर्मों का समावेश होकर परिपूर्ण आत्मद्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है। आत्मा के इन सर्व धर्मों में से एक भी धर्म को कम माने तो परिपूर्ण आत्म-द्रव्य प्रतीति में नहीं आता और न आत्मा का सच्चा ज्ञान होता है। साधक धर्मात्मा अनंतधर्मों को भिन्न-भिन्न रूप से भले न जान सके, परन्तु अपने ज्ञान में आ सकें ऐसे प्रयोजनभूत धर्मों द्वारा वह अनंतधर्मस्वरूप आत्मा को स्वानुभवपूर्वक जानता है; आत्मा के अनंत धर्मों की उसे निःशंक प्रतीति है—उसमें शंका नहीं होती।

जिसे अभी आत्मा के स्वरूप में ही शंका का वेदन होता हो वह जीव भले त्यागी होकर बैठे, परन्तु उसे सच्चे व्रत होते ही नहीं; क्यों कि अभी उसके मिथ्यात्व की महान शल्य दूर नहीं हुई है; तब फिर उसके व्रतादि कहाँ से होंगे? तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि—"निःशल्यो व्रती"—शल्य रहित जीव ही व्रती होता है। जहाँ मिथ्यात्वादि शल्य विद्यमान हो वहाँ व्रत नहीं होते। स्वानुभवपूर्वक यथार्थ आत्मद्रव्य को जानकर निःशंक न हो और मिथ्यात्वादि शल्य को दूर न करे तबतक सच्चे व्रतादि नहीं होते। ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता है

ऐसा कहा जाता है वहाँ वास्तव में कहीं ज्ञान में परपदार्थों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परन्तु ज्ञान की ही वैसी अवस्था दिखाई देती है। ज्ञान तो सदा अरूपी है और वृक्ष आदि तो रूपी हैं; तो अरूपी में रूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है? ज्ञान में पर को जानने की शक्ति है इसलिये उसमें पर ज्ञात होता है; उस अपेक्षा से ज्ञान में पर का प्रतिबिम्ब कहा है। ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाने के लिये निमित्त से वैसा कहा है। यदि ज्ञान में वास्तव में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो कोयले का प्रतिबिम्ब पड़ने से ज्ञान काला हो जाये, दस हाथ ऊँचे नीम का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसे दस हाथ लंबा होना पड़े! परन्तु ऐसा नहीं होता। स्वयं साढ़े तीन हाथ में रहकर भी दस हाथ ऊँचे नीम को ज्ञान जान लेता है; इसलिये परज्ञेयों का आकार या प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं आता, परन्तु ज्ञान उन्हें जान लेता है उस अपेक्षा से ज्ञानमें उनका प्रतिबिम्ब कहा है।

ज्ञान अपने ज्ञानभावरूप से एकरूप होने पर भी, अनेक ज्ञेय ज्ञात होते हैं उस अपेक्षा से उसमें अनेकता भी है। ज्ञान में अनेक पदार्थ ज्ञात होने से जो अनेकता होती है वह उपाधि या मैल नहीं है परन्तु ज्ञान का ही स्वरूप है। जिसप्रकार दर्पण में कोयले का प्रतिबिम्ब पड़ने से जो कालापन दिखाई देता है वह कहीं दर्पण का मैल नहीं है परन्तु वह तो उसकी स्वच्छता का परिणमन है; उसीप्रकार ज्ञान में अनेक ज्ञेय ज्ञात होने से जो अनेकरूपता होती है वह कहीं ज्ञान का मैल नहीं है परन्तु ज्ञान की स्वच्छता का वैसा स्वभाव है कि समस्त ज्ञेय उसमें ज्ञात हों। मिश्री को, नीम को या निम्बू को जानने से ज्ञान मीठा, कड़वा या खट्टा नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञान में पर ज्ञेय का अभाव है; उस उसप्रकार के अनेकविध पदार्थों के ज्ञानरूप होने का ज्ञान का स्वभाव है।

जिसप्रकार ज्ञान पर पदार्थों को जानता है किन्तु पर की उपाधि ज्ञान में नहीं है; उसीप्रकार वास्तव में तो ज्ञान विकार को भी जानता है परन्तु ज्ञान में विकार की उपाधि नहीं है। जैसे—कुछ वर्ष पहले किसी से कोई दोष हुआ हो और वर्तमान ज्ञान में उसका स्मरण हो कि अमुक वर्ष पहले मेरे इसप्रकार के बुरे परिणाम हुए थे; तो वहाँ पूर्व के विकारी परिणामों का ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान के साथ पहले के विकारी परिणामों की उपाधि नहीं आ जाती। ज्ञान स्वयं विकार रहित रहकर विकार को भी जाने—ऐसा उसका स्वभाव है। अनेक प्रकार के समस्त ज्ञेयों को जानने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु

ज्ञान की ही खबर नहीं है। अरे भाई! विकार ज्ञात होता है वह तो तेरे ज्ञान का सामर्थ्य है; इसलिये उस ज्ञानसामर्थ्य को जान तो उसके अवलम्बन से विकार दूर हो जायेगा। आत्मा का विकास होने से विकार दूर हो जायगा परन्तु विकार का ज्ञान दूर नहीं होगा। सबका ज्ञान करके ज्ञानरूप से रहना और विकाररूप न होना—वही आत्मा का स्वभाव है। अपने ज्ञान में अनेक पर पदार्थों को जानने से ज्ञान की अनेकता होती है; परन्तु वह ज्ञान कहीं पररूप नहीं हो जाता।—इसप्रकार अपने ज्ञान की प्रतीति करना चाहिए।

मिश्री मीठी है; अफीम कड़वी है; निम्बू को देखकर जीभ पर पानी आ जाता है और इमली को देखकर मुँह में पानी आता है;—इसप्रकार समस्त पदार्थों की प्रतीति करता है, तथा इमली मुँह में लिये बिना मात्र उसे देखते ही मुँह में पानी आता है—ऐसा मानता है; तो हे भाई! परज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट हुए बिना चौदह ब्रह्माण्ड के समस्त ज्ञेय पदार्थों को देखकर आत्मा में उनका ज्ञान होता है और अपूर्व आनंद का रस झरता है—ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति क्यों नहीं करता? ज्ञानस्वभाव को चूककर परज्ञेयों में अपनत्व मानकर उनमें राग-द्वेष करके अटका इसलिये पूर्णज्ञान नहीं हुआ और आत्मा में आनन्द का रस नहीं झरा। परन्तु सर्व ज्ञेयों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को पहिचान कर जैसे का तैसा ज्ञाता रहा और कहीं राग-द्वेष में नहीं रुका वहाँ पूर्ण ज्ञान हुआ और आत्मा में अपूर्व अमृत झरा। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा के सहज आनन्दरूपी अमृत का अनुभव नहीं होता।

—यहाँ २५ वें ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ। अब नियतिनय तथा अनियतिनय से आत्मद्रव्य का वर्णन करेंगे।

जगत को आवश्यक

अहो! आत्म-तत्त्व की यह बात तो जगत को सर्व प्रथम समझने योग्य है; भले ही दूसरा कुछ आये या न आये परन्तु यह बात तो अवश्य समझने योग्य है; इसे समझे बिना कल्याण नहीं हो सकता। इसे समझने पर ही भव का अन्त आयेगा।

[—[illegible]]

भव्य जीवों के कल्याण के लिये

संतोंने कैसा उपदेश किया?

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय केवलज्ञान कल्याणक के दिन पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

★ वीर सं. २४७९, चैत्र शुक्ला ९ ★

इस प्रवचन में क्या पढ़ेंगे?

❀ भूतार्थ स्वभाव के अवलम्बन का उपदेश ❀ सम्यग्दर्शनादि का सच्चा साधन ❀ जैनधर्म और उसकी महिमा ❀ अंतर की चैतन्यशक्ति और उसकी महिमा ❀ भगवान की अहिंसा ❀ सच्चा सत्यधर्म ❀ शुद्धनय के आश्रय से ही आनंद की प्राप्ति ❀ भगवान किस पर प्रसन्न हुए? ❀ आनंद की प्राप्ति कैसे होती है? ❀ हे जीव! तू अपना सँभाल! ❀ सर्व जीवों के लिये कल्याण का एक ही पंथ है ❀ सत्यतत्त्व की विरलता ❀ चैतन्य महिमा से च्युत होकर मूढ़ जीव जड़ और राग का स्वामी होता है ❀ कोलाहल छोड़कर सत्य समझने का उपदेश ❀ अन्य कोलाहल छोड़कर अभ्यास करे तो अल्पकाल में स्वरूप की प्राप्ति हो! ❀ केवलज्ञान ❀ नेमिनाथ प्रभु को केवलज्ञान और दिव्यध्वनिरूप उपदेश।

* भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन का उपदेश *

धर्म कैसे होता है यह बात समयसार की ग्यारहवीं गाथा में आचार्यदेव बतलाते हैं:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

आत्मा के भूतार्थ स्वभाव को जानकर उसका आश्रय करने से ही जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म होता है, इसके अतिरिक्त किसी भी बाह्य क्रिया के आश्रय से धर्म नहीं होता। अनादिकाल से पर के और राग के आश्रय से धर्म मानकर अज्ञानी जीव संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, परन्तु आत्मा के भूतार्थ-स्वभाव की दृष्टि अनंतकाल में कभी एक क्षण भी नहीं की है, और ऐसी दृष्टि प्रगट किए बिना कदापि धर्म नहीं होता। अज्ञानी जीव व्यवहार के आश्रय से धर्म होना मान रहे हैं, परन्तु व्यवहार के

आश्रय का फल तो संसार है। परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा वह भूतार्थ है, उस भूतार्थस्वभाव का पक्ष अर्थात् आश्रय जीव ने पूर्वकाल में कभी नहीं किया है। मोक्ष तो आत्मा के भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; इसलिये भव्य जीवों के कल्याण के लिये आचार्यदेव ने भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन का और व्यवहार का अवलम्बन छोड़ने का ही उपदेश दिया है।

❀ सम्यग्दर्शनादि का सच्चा साधन ❀

यह बात समझे बिना अनंतकाल में जीव ने सब कुछ किया किन्तु उससे कुछ भी कल्याण नहीं हुआ। श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि:—

यम नियम संयम आप कियो
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास रह्यो मुखमौन रह्यो,
दृढ आसन पद्म लगाय दियो।
× × ×
जप भेद जपे तप त्योंही तपे
उरसें ही उदासी लही सबपैं
सब शास्त्रन के नय धारि हिये
मत मंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन बार अनंत कियो
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यों न विचारत है मन सें
कछु और रहा उन साधन सें।

उपरोक्तानुसार सब कुछ जीव अनंतबार कर चुका है और वह करते-करते धर्म होगा ऐसा माना है, परन्तु उसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ; क्यों कि अन्तर में अपनी स्वभावशक्ति ही सम्यक्दर्शनादि का साधन है, उस सच्चे साधन को नहीं समझा और बाह्य में साधन माना। अंतर में चिदानंदी भगवान आत्मा स्वयं कौन है उसके भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और भवभ्रमण का अन्त नहीं आता।

आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है, उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट होता है। जिस प्रकार लेंडीपीपल में चौंसठ पुटी चरपराहट की शक्ति है उसी में से वह प्रगट होती है, कहीं खरल में से वह चरपराहट नहीं आती; उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि का परिपूर्ण सामर्थ्य भरा है उसी में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं; किसी निमित्त में से या राग के अवलम्बन से वे सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, परन्तु पर्याय के आश्रय से वह प्रगट नहीं होता—भूतार्थ द्रव्य के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। निमित्त में, व्यवहार में या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि उसका अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाए; अन्तर के भूतार्थनित्यस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। शक्ति है उसमें से

व्यक्ति होती है, इस लिये अपनी स्वभावशक्ति पर धर्मी की दृष्टि है; निमित्तादि संयोगों पर धर्मी की दृष्टि नहीं है। ऐसी अंतरशक्ति को दृष्टि में लेकर उसका अवलम्बन करना वह अपूर्व धर्म है। अनादिकाल से जीव ने कभी ऐसी दृष्टि प्रगट नहीं की। अज्ञानी जीवों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से है, और उसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। जिनवाणी में भी व्यवहार का बहुत उपदेश है, परन्तु उस व्यवहार के आश्रय का फल तो संसार ही है। परमार्थस्वभाव समझाते हुए बीच में भेदरूप व्यवहार आ जाता है; किन्तु उस व्यवहार के आश्रय से लाभ नहीं है; व्यवहार के आश्रय से लाभ माननेवाले तो संसार में भटकते हैं; उन जीवों ने शुद्धनय का पक्ष यानी आश्रय तो कभी लिया ही नहीं और उसका उपदेश भी विरल है—कहीं-कहीं है; इस लिये उपकारी श्री गुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है। शुद्धनय भूतार्थ है—सत्यार्थ है; उसका आश्रय करने से ही सम्यक्त्व होता है; उसे जाने बिना जीव जब तक व्यवहार में मग्न है तब तक आत्मा में ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता।

ॐ जैनधर्म और उसकी अहिंसा ॐ

देखो, यह जैनधर्म! जैनधर्म कहीं बाह्य में या राग में नहीं है परन्तु अंतर में आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही जैनधर्म है। पर जीवों की दया और अहिंसादि का शुभभाव वास्तव में जैनधर्म नहीं है; जैनधर्म तो वीतरागभाव है। जैनधर्म की सच्ची अहिंसा तो यह है कि ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन में टिकने से रागादिभावों की उत्पत्ति ही न हो। लोग परजीवों की अहिंसा में धर्म मानकर अटक गये हैं; परन्तु भाई! 'मैं पर को बचाता हूँ, और राग से मुझे धर्म होता है'—ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण तेरे आत्मा का ही घात हो रहा है; पहले सच्ची समझ करके अपने आत्मा की दया तो पाल!

ॐ अंतर की चैतन्यशक्ति और उसकी महिमा ॐ

जिसप्रकार मोर के अण्डे में मोर होने की शक्ति है, उसीप्रकार चैतन्यशक्ति में केवलज्ञान होने की शक्ति है। जो सर्वज्ञ परमात्मा हुए उन्हें केवलज्ञान कहाँ से आया? क्या शरीर के मज़बूत संहनन में से या राग में से आया है?—नहीं, उसमें से नहीं आया परन्तु वर्तमान आत्मद्रव्य में परिपूर्ण शक्ति का पिण्ड है उसमें अन्तर्मुख होकर उसके अवलम्बन से ही केवलज्ञान प्रगट हुआ है; द्रव्य में सामर्थ्यरूप से था वही पर्याय में व्यक्त हुआ है। साढ़े तीन हाथ का सुन्दर मोर

कहाँ से आया ?—छोटे-से अंकुरे में वैसी शक्ति थी उसमें से एन्लॉर्ज अर्थात् विकास होकर मौर हुआ है। उसी-प्रकार आत्मा को चैतन्यशक्ति की प्रतीति करने से उसका विकास होकर शक्ति में से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

अहो ! भीतर शक्तिरूप से चैतन्य भगवान विराजमान है, परन्तु जीवों को उसकी महिमा ध्यान में नहीं आती। "स्वभाव" क्या है वह लक्ष में नहीं आता इसलिये कहीं दूसरे के आश्रय से धर्म मानकर अटक जाता है। सम्पूर्ण आत्मा...परिपूर्ण चैतन्य भगवान...अन्त-र्मुखदृष्टि का विषय है; इन्द्रियाँ या राग के अवलम्बन से वह ज्ञात नहीं हो सकता। जिसप्रकार पानी वर्तमान में गर्म होने पर भी उसका मूल स्वभाव ठण्डा है—वह निर्णय किसने किया ? गर्म अवस्था के समय ठण्डा स्वभाव आँख से तो दिखाई नहीं देता, हाथ से स्पर्श में नहीं आता, परन्तु ज्ञान से ही उसका निर्णय होता है; उसीप्रकार आत्मा की वर्तमान पर्याय में विकार होने पर भी चैतन्य स्वभाव शांत शीतल है, उसका निर्णय भी अन्तर्मुख ज्ञान से ही होता है, इन्द्रियों में या राग में वैसी शक्ति नहीं है परन्तु ज्ञान में ही वैसी शक्ति है। अतीन्द्रिय—रागरहित ज्ञान ही स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से आत्मा को जानता है। इन्द्रियों द्वारा अनुमान से ज्ञात हो ऐसा आत्मा नहीं है; मन के अवलम्बन से भीतर शुभपरिणाम हों उनसे भी आत्मा ज्ञात हो ऐसा नहीं है; जितना व्यवहार है उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि उसके अवलम्बन से परमार्थस्वभाव प्रतीति में आ जाये ! इसलिये व्यवहार के आश्रय से कभी धर्म होता ही नहीं। पहले से परमार्थ-स्वभाव का आश्रय ही धर्म का उपाय है।

❀ भगवती अहिंसा ❀

जिसने स्वयं अन्तर्मुख होकर पर-मार्थ स्वभाव को दृष्टि में लिया उसी-समय अपूर्व सम्यग्दर्शन धर्म का प्रारम्भ होता है। अन्तर्मुख होकर ऐसे चिदा-नंद स्वभाव का भान करना और उसमें स्थिर होना ही 'भगवती अहिंसा' है, वही अहिंसा आत्मा का हित करने-वाली है; उस अहिंसा को ही भगवान ने धर्म कहा है। इसके अतिरिक्त पर-जीवकी अहिंसा का शुभभाव तो राग है; राग कहीं धर्म नहीं है। बाह्य में भले किसी जीव की हिंसा न होती हो, परन्तु अन्तर में जितनी राग की उत्पत्ति हो उतनी हिंसा है, और अंतरस्वरूप में एकाग्रता होने से रागकी उत्पत्ति ही न हो वह वीतरागी अहिंसा है और वही धर्म है।

❀ सच्चा सत्यधर्म ❀

और परमार्थरूप भगवान आत्मा

सत्य परमेश्वर है। व्यवहार तो अभूतार्थ होने से असत्य है और आत्मा का भूतार्थ-स्वभाव सत्य है; उस सत् के आश्रय से ही परमात्मदशा प्रगट होती है। इसलिये आत्मा के ऐसे भूतार्थस्वभाव को जानना ही सच्चा सत्यधर्म है। शुभभाव में अनंतबार व्यवहार सत्य का पालन किया, परन्तु परमार्थसत्य ऐसे भूतार्थ आत्मा के भान बिना धर्म नहीं हुआ। इस-प्रकार अहिंसा—सत्यादि सर्व धर्म आत्मा के परमार्थ स्वभाव के आश्रय में आ जाते हैं। अज्ञानी लोग अहिंसा-सत्यादि सब बाह्य में मान रहे हैं परन्तु वह यथार्थ नहीं है।

❀ शुद्धनय के आश्रय से ही आनंद की प्राप्ति ❀

सच्चिदानन्द भगवान आत्मा का अवलम्बन लेकर उसकी प्रतीति करना और उसमें एकाग्र होना वह धर्म है। चैतन्य से च्युत होकर जो व्यवहार के अवलम्बन से लाभ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार का फल तो संसार है। शुद्धनय का फल मोक्ष है; परन्तु शुद्धनय का पक्ष तो जीवों को कभी हुआ ही नहीं है। ज्ञानी को साधक दशा में व्यवहार होता अवश्य है, परन्तु उस-व्यवहार के आश्रय से वे कभी धर्म नहीं मानते। जिसे आत्मा का आनंद और शांति चाहिए हो उसे यह रीति समझना पड़ेगी। जिस प्रकार गन्ना मिष्ट-मधुर रस की पोर है उसीप्रकार आत्मा आनंदरस की पोर है, उसमें भेदज्ञान-रूपी छुरी मारने से आनंदरस का अनुभव होता है। स्वभाव में आनंद भरा है उसी में से आनंद की प्राप्ति है; आनंद कहीं बाहर से नहीं आता। यदि आत्मा में ही आनंदस्वभाव न हो तो कदापि आनंद प्राप्त नहीं हो सकता।

❀ भगवान किस पर प्रसन्न हुए ? ❀

❀ आनंद की प्राप्ति कैसे होती है ? ❀

देखो, अपने में केवलज्ञान और पूर्ण आनंद प्रगट करके तीर्थंकर भगवन्तों ने दिव्यध्वनि द्वारा जगत के जीवों को उसका उपाय बतलाया है। जो जीव उस उपाय को समझकर अपने अंतर में से वीतरागी आनंद प्रगट करे उसे भगवान आनंद के निमित्त होते हैं। जिसने अपने आत्मा के आश्रय से वीतरागी प्रसन्नता प्रगट की वह जीव भगवान पर आरोप करके विनय से ऐसा कहता है कि "श्री तीर्थंकर भगवान मुझपर प्रसन्न हुए; परन्तु भगवान तो वीतराग हैं, वे किसी पर प्रसन्न होकर कुछ दे नहीं देते। पूर्वकाल में अनंत तीर्थंकर हो गये हैं, वर्तमान में भी सीमंधरादि तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र में विराज रहे हैं, और भविष्य में भी अनंत तीर्थंकर होंगे,

भगवान द्वारा कथित वस्तु स्वरूप को समझकर जो अपने में आनंद प्रगट करे उसे भगवान आनंद के निमित्त हैं और निमित्तरूप से भगवान आनंद के दाता हैं। किन्तु जो स्वयं न समझे उसे कहीं भगवान समझा नहीं देते, और न भगवान उसके लिये आनंद के निमित्त हैं। भगवान का परम आनंद भगवान के पास ही है, किन्तु यदि जीव स्वयं शुद्धनय का अवलम्बन लेकर स्वभाव का आश्रय करे तो उसे कल्याण और आनंद की प्राप्ति होती है। शुद्धनय के आश्रय बिना कभी कल्याण या आनंद की प्राप्ति नहीं होती। त्रिकाल के जीवों को सच्चे आनंद की प्राप्ति का यह एक ही मार्ग है। अरिहंत भगवन्तों ने इसी उपाय से अपने आत्मा में पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद प्रगट किया और दूसरे जीवों को इसी उपाय का उपदेश दिया।

❀ हे जीव! तू अपना संभाल!

प्रश्नः— आप जो बात समझा रहे हैं वह बात बिलकुल ठीक है, लेकिन उससे समाज को क्या लाभ?

उत्तरः— देखो भाई! पहली बात तो यह है कि अपने को अपना देखना है। समाज का भले चाहे जो कुछ हो, उसकी चिन्ता छोड़कर तत्त्व विचार की निर्मलता और स्वसन्मुखता से स्वयं अपना सँभालना चाहिए। जीव समुद्र में गोते खा रहा हो उससमय समाज की या कुटुम्ब की चिन्ता करने में नहीं रुकता, परन्तु मैं समुद्र में डूबता कैसे बचूँ— उसी का प्रयत्न करता है; उसीप्रकार संसार-समुद्र में गोते खाते हुए महान कठिनाई से मनुष्यभव की प्राप्ति हुई है; उसमें मेरे आत्मा का हित कैसे हो, मेरा आत्मा संसारभ्रमण से कैसे छूटे यही देखना है; दूसरों की चिंता में रुके तो आत्महित रुक जाता है। यह बात तो स्वयं अपना हित करने की है। प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, इसलिये समाज के दूसरे जीवों का हित हो तभी अपना हित हो सकेगा—ऐसी कोई पराधीनता नहीं है। इसलिये हे जीव! तू अपने हित का उपाय कर।

❀ सर्व जीवों के लिये कल्याण का एक ही पंथ है ❀

दूसरी बात यह है कि जिस उपाय से एक जीव का हित हो वही सर्व जीवों के लिये हित का उपाय है। समाज कहीं पृथक् वस्तु नहीं है परन्तु अनेक जीवों का समूह वह समाज है; उसमें से जो-जो जीव इस सत्य बात को समझेंगे उन-उन जीवों का कल्याण होगा। कल्याण का पंथ सर्व जीवों के लिये त्रिकाल एक ही प्रकार का है। त्रिकाल के सर्व जीवों को सत्य से ही लाभ होता है असत्य से कभी किसी को लाभ होता ही नहीं।

यहाँ "सत्य" अर्थात् क्या? कि आत्मा का भूतार्थस्वभाव ही सत्य है,

उसी के आश्रय से जीव का कल्याण होता है। आत्मा के शुद्ध चिदानंदस्वभाव के भान बिना तीनकाल-तीनलोक में किसी को शांति नहीं होती। अज्ञानी भले ही शुभराग करे, किन्तु वह धर्म नहीं है, और उस शुभराग के फल में सच्ची शांति नहीं मिलती।

❀ सत्यतत्त्व की विरलता ❀

अहो! चिदानंदस्वभाव के आश्रय की यह बात समझना तो अपूर्व है और सुनना भी दुर्लभ है बाह्य क्रियाकाण्ड से और शुभराग से धर्म मनानेवाले तो जगत में अनेक हैं; परन्तु शुद्धनय के आश्रय का उपदेश जगत में विरल ही है, तब फिर उसे सुननेवाले भी विरल हों इसमें आश्चर्य ही क्या है! योगसार में कहते हैं कि—

"विरला जाणे तत्वने, वली सांभले कोई,

विरला ध्यावे तत्वने, विरला धारे कोई।" ६६।

और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी तत्व की विरलता बतलाते हुए कहते हैं कि:—

विरलाः निश्रृण्वन्ति तत्वं
विरलाः जानन्ति तत्त्वतः तत्वं।
विरलाः भावयन्ति तत्वं
विरलानां धारणा भवति॥ २७१॥

जगत में तत्व को कोई विरले पुरुष ही सुनते हैं, सुनकर भी यथार्थरूप से तत्व को विरले ही जानते हैं, जानकर भी तत्व की भावना अर्थात् बारम्बार अभ्यास विरले ही करते हैं,

अभ्यास करके भी तत्व की धारणा तो विरलों को ही होती है।

एक तो जगत में यथार्थ आत्मस्वरूप की बात सुनाने वाले ज्ञानी का मिलना ही बहुत महँगा है, और ज्ञानी के पास से वह बात सुनने को मिले तब—"यह तो निश्चय का कथन है" —ऐसा कहकर मूढ़ अज्ञानी जीव उसकी अरुचि करते हैं। "अहो! यह तो जिसे मैं अनंतकाल से नहीं समझा ऐसे मेरे स्वभाव की अपूर्व बात है"—इसप्रकार अंतर से आदर लाकर सुननेवाले जीव विरले ही होते हैं। मूढ़ जीवों को व्यवहार की अर्थात् राग की और बाह्य क्रिया की बात रुचिकर लगती है और चैतन्यतत्व की अपूर्व बात सुनने से अरुचि आती है। परन्तु भाई! यह बात समझे बिना तेरा कल्याण नहीं हो सकता। भगवान! एकबार अंतर में चैतन्यस्वभाव की ओर अपनी दृष्टि डाल! बाह्य महिमा को भूलकर अंतरंग महिमा को लक्ष कर तो तेरा कल्याण हो।

❀ चैतन्यमहिमा से च्युत होकर मूढ़ जीव जड़ का और राग का स्वामी होता है ❀

अहो! एक समय में केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति आत्मा में है,

किन्तु पर में एक परमाणु को बदलने की भी शक्ति आत्मा में नहीं है; क्योंकि आत्मा जड़ का स्वामी नहीं है। अपने को जो शरीरादि जड़ का स्वामी मानता है वह तो महान मूढ़ है, और भूतार्थ चैतन्य स्वभाव की महिमा को भूलकर जो जीव राग का स्वामी हो वह भी मूढ़ है। जड़ का स्वामी तो जड़ ही होता है। जिसे जड़ से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप का भान है वह कभी जड़ का स्वामित्व नहीं मानता, अर्थात् शरीरादि जड़ की क्रिया मेरे कारण होती है ऐसा वह नहीं मानता। जड़ शरीरादि की क्रिया मुझसे होती है ऐसा जो मानता है उसे जड़ से भिन्न शुद्ध आत्मा का भान ही नहीं है। अनादिकाल से जीवने शरीरादि की क्रिया का और रागादि व्यवहार का पक्ष किया है, अर्थात् उनके आश्रय से धर्म मानकर वहीं पर्याय को एकाग्र किया है; परन्तु देह से और राग से पार ऐसे अपने भूतार्थ चैतन्य स्वभाव का पक्ष कभी नहीं किया है, इसलिये जीव संसार में भटक रहा है।

❀ कोलाहल छोड़कर सत्य समझने का उपदेश ❀

यहाँ आचार्य भगवान समझाते हैं कि हे जीव! व्यवहारनय का विषय तो अभूतार्थ है, उसके आश्रय से तेरा कल्याण नहीं है इसलिये उसका आश्रय छोड़ और शुद्धनय के विषयभूत परमार्थ आत्मा का आश्रयकर; वह भूतार्थ है, उसके आश्रय से तेरा कल्याण है। बाह्य क्रिया से या शुभरागरूप व्यवहार से धर्म होगा—ऐसे व्यर्थ मिथ्या कोलाहल को छोड़ और जैसा हम कहते हैं उसीप्रकार समझकर अपने शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर।

जो जीव यह बात नहीं समझता और विरोध करता है उसे अपने आत्महित की बात आचार्यदेव मिठासपूर्वक समझाते हैं कि:—

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः
॥ ३४ ॥

हे भव्य! तुझे व्यर्थ का कोलाहल करने से क्या लाभ है? इस कोलाहल से तू विरक्त हो और एक चैतन्य मात्र वस्तु को स्वयं निश्चल-लीन होकर देख। ऐसा अभ्यास छह मास तक कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में—जिसका तेज-प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे—आत्मा की प्राप्ति नहीं होती या होती है! अर्थात् अवश्य प्राप्ति होगी।

❀ अन्य कोलाहल छोड़कर अभ्यास करे तो... ❀

यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे

तो उसकी प्राप्ति अर्थात् अनुभव अवश्य हो; यदि परवस्तु हो तो उसकी प्राप्ति नहीं होती। अपना स्वरूप तो निरन्तर उपस्थित है, प्रत्यक्ष है, किन्तु उसे भूल रहा है। यदि चेतकर देखे तो वह निकट ही है। यहाँ स्वरूपप्राप्ति के लिये छह मास अभ्यास करने को कहा, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है; परन्तु किसी शिष्य को वह कठिन लगता हो तो उसका निषेध किया है और कहा है कि हे भाई! यदि समझने में अधिक काल लगेगा तो भी छह मास से अधिक नहीं लगेगा, इसलिये तू अन्तर में इसका अभ्यास कर। अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल छोड़कर इसमें उद्यम करने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जायेगी।

देखो, यहाँ अन्य कोलाहल छोड़कर अभ्यास करने को कहा है; एक परमार्थ चैतन्य स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य के आश्रय से लाभ हो जाएगा, अथवा व्यवहार करते-करते उससे धर्म हो जाएगा—ऐसी मान्यता वह सब व्यर्थ का कोलाहल है; वह कोलाहल छोड़कर अंतर में परमार्थ स्वरूप की सम्मुखता का अभ्यास करे तो अल्पकाल में अवश्य उसका अनुभव हो।

※ केवलज्ञान ※

अहो! चैतन्य के अद्भुत अचिंत्य निधान अंतर में भरे हैं। हे चिदानंदनाथ! तेरी अंतर्शक्ति में केवलज्ञान होने का सामर्थ्य भरा है; उसमें अन्तर्मुख होकर प्रतीति और एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट हो जाएगा।... [मंगलोत्सव की खलबली!]

※ नेमिनाथ भगवान को केवलज्ञान और दिव्यध्वनि रूप उपदेश ※

—मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय चैत्र शुक्ला नवमी के दिन उपरोक्त प्रवचन चल रहा था, कि उसी-समय भगवान श्री नेमिनाथ को केवलज्ञान प्रगट हुआ और अचानक उस केवलज्ञान-कल्याणक की आश्चर्यकारी खलबली मच गई! भगवान के समवशरण की सुन्दर रचना हुई...उस समवशरण में विराजमान भगवान का भक्तिपूर्वक पूजा करके हजारों भक्तजन दिव्यध्वनि सुनने के लिये उत्सुक हो गये। उस प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनिरूप प्रवचन करते हुए पूज्य स्वामीजी ने कहा कि—'भगवान का उपदेश धर्मवृद्धि का ही निमित्त है...भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से ही भगवान ने लाभ होना कहा है...जो जीव शुद्धनय से भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करके अपने आत्मा में धर्म की वृद्धि करे वही भगवान की दिव्यध्वनि का सच्चा श्रोता है।

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर.
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी.

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

श्रावण : २४८० ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक चौथा

: संपादक :

रामजी माणेकचंद दोशी वकील

दिव्यध्वनि मुक्तजीव की वाणी है और वह मुक्ति का पंथ बतलाने वाली है। द्रव्य–गुण-पर्याय की स्वतंत्रता समझकर, पर्याय अन्तर्मुख होकर अपने द्रव्य का आश्रय ले वही मुक्ति का पंथ है। सर्व भगवन्तों ने इसी रीति से मुक्ति प्राप्त की और ऐसा ही मोक्षमार्ग का उपदेश जगत को दिया। जिसप्रकार भगवान मुक्ति को प्राप्त हुए उसीप्रकार उनकी वाणी में कथित इस मार्ग को समझकर जगत के जीव मोक्ष प्राप्त न कर सकें—ऐसा नहीं हो सकता। जो समझकर स्वाश्रय करेगा वह अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होगा, जो समझे उसकी बलिहारी!

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[११२]

एक अंक चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर • सोनगढ़ सौराष्ट्र

सूचना

धार्मिकोत्सव के दिनों में—ता २६–८–५४ से १२–६–५४ तक—पुस्तकों की बिक्री पर कमीशन इसप्रकार रहेगा—

१—हिन्दी पुस्तकें २५ प्रतिशत कम मूल्य रखकर ही बेची जाती हैं अतः वे मुद्रित मूल्य पर ही मिल सकेंगी, विशेष कमीशन नहीं दिया जायगा।

२—गुजराती पुस्तकों में नियमसार, प्रवचनसार, समयसार तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर कमीशन नहीं दिया जायगा। क्योंकि उनका मूल्य पहले से ही लागत मूल्य से कम रखा गया है। तो भी—

३—गुजराती नियमसार या समयसार की दस-दस प्रतियाँ लेनेवालों को १२-१/२ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

४—गुजराती समयसार प्रवचन भाग १ से ५ हैं। यह पूरा सैट खरीदनेवाले को २५ प्रतिशत कमी. प्राप्त होगा। तथा नियमसार प्रवचन के दो भाग हैं। उनको मिलाकर एक साथ सात पुस्तकें खरीदनेवाले को ३० प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

५—शेष गुजराती पुस्तकों के खरीदने पर निम्नलिखित कमीशन प्राप्त हो सकेगा—रु. १ से २५ तक की पुस्तकों पर ६-१/४ प्रतिशत

रु. २६ से १०० " " " १२-१/२ "

रु. १०० से अधिक की " " २५ "

—व्यवस्थापक

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ : सौराष्ट्र

आत्मधर्म

श्रावण : २४८० ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक चौथा

ज्ञाता स्वभाव

आत्मा ज्ञातास्वभाव है; ज्ञातास्वभाव विकार का या पर का कर्ता नहीं है। मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ; ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा कर्तव्य है ही नहीं;—ऐसा ज्ञान स्वरूप का निर्णय करने में अपूर्व पुरुषार्थ है। यह बात जीव को पूर्व अनंत काल में नहीं जमी है। अरे भाई! तू अपने स्वभाव की बात सुन तो! अंतर में अपूर्वता लाकर स्वभाव के उत्साहपूर्वक सुनेगा तो अवश्य तेरा कल्याण हो जायेगा।

[धार्मिकोत्सव के प्रथम प्रवचन से : वीर सं. २४७९ भाद्रपद कृष्णा १४, समयसार गा. ११६ से १२०]

अनादिकाल से अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को चूककर, मैं पर को परिणमित करता हूँ—ऐसी मिथ्या भ्रान्ति के कारण संसार में भटकते हैं। मैं ज्ञानानंद स्वभाव हूँ—ऐसी दृष्टि को चूककर दया, दानादि के परिणाम ही मैं हूँ—ऐसा जो मानते हैं, अर्थात् विकार को ही आत्मा मानते हैं, वे ही ऐसा मानते हैं कि मैं जड़कर्म का परिणमित कर्ता हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी जिसकी दृष्टि है वह जीव विकार का कर्ता नहीं होता और न अपने को जड़ का कर्ता मानता है। अहो! मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ—यह बात पूर्व अनंत-काल में एक क्षण भी जीव के अंतर में नहीं जमी है। मैं ही ज्ञान का ही कर्ता हूँ; राग के समय भी राग में तन्मय हुए बिना मैं उसका ज्ञाता हूँ; मैं विकार तथा शरीरादि को परिवर्तित करनेवाला नहीं हूँ।—स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का ऐसा अपूर्व निर्णय प्रगट करना ही धर्म का सच्चा महोत्सव है।

देखो, अंतर में इस देह से भिन्न आत्मा है, उसे न तो किसी ने बनाया

है और न कभी उसका नाश होता है; वह स्वयंसिद्ध वस्तु है और उसका स्वभाव 'ज्ञान' है। ज्ञान क्या करता है?—तो कहते हैं कि जानता है।—जानने के अतिरिक्त ज्ञान का दूसरा कोई कार्य नहीं है। रागपर्याय को उत्पन्न करे ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय होने से आत्मा राग का, कर्म का और शरीरादि का ज्ञाता ही रहा।—इसका नाम प्रथम धर्म है।

इसमें क्या करना आया?

—इसमें ज्ञानस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करना आया। ज्ञाता ने अपने ज्ञानस्वभाव को जानकर उसका निर्णय किया है, वही आत्मा का कार्य है और उसमें धर्म का पुरुषार्थ है। अंतर का यह सच्चा पुरुषार्थ अज्ञानी को दिखलाई नहीं देता और बाह्यक्रिया में आत्मा का पुरुषार्थ मानकर उस विपरीत मान्यता से संसार में भटकता है।

भाई! तू ज्ञान है। पर का और विकार का कार्य तो जिस काल जैसा होना है वैसा होगा, तू उसमें फेरफार नहीं कर सकता। उस समय ऐसी दृष्टि रख कि मैं ज्ञान हूँ—तू उसका ज्ञाता रह अथवा तो अज्ञानभाव से राग का कर्तृत्व स्वीकार कर। 'मैं था इसलिये राग हुआ'—यानी ज्ञानस्वभाव के अस्तित्व के कारण राग हुआ—ऐसा जिसने माना उसने राग को ही अपना कर्तव्य माना है, यानी आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं माना किन्तु रागस्वरूप ही माना है; 'राग मेरा कर्म और मैं उसका कर्ता'—इसप्रकार जिसने राग के साथ स्वभाव की एकता मानी उसे ज्ञान की अरुचि और राग की रुचि है; वही महान अधर्म है। 'मैं था इसलिये शरीर चला, आत्मा है इसलिये भाषा बोली जाती है, मेरी उपस्थिति के कारण पर के कार्य होते हैं, मैं था और मैंने विकार किया इसलिये कर्मबन्ध हुआ'—ऐसी जिसकी मान्यता है उसे पर के साथ एकत्व बुद्धि है उसे वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है। ज्ञानी धर्मात्मा तो जानते हैं कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, मेरे ज्ञानस्वभाव में से तो निर्मल पर्याय की ही रचना होती है, किन्तु विकार की रचना नहीं होती; मैं हूँ इसलिये रागपर्याय है—ऐसा नहीं है, किन्तु मैं हूँ इसलिये ज्ञानपर्याय है, मैं हूँ इसलिये मेरे कारण आनन्द और चारित्र की निर्मल पर्याय है, यानी मैं कर्ता और श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की निर्मल पर्याय हुई वह मेरा कर्म,—इसप्रकार धर्मी जीव स्वभावदृष्टि में निर्मल पर्याय का ही कर्ता है। मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा कार्य क्या है—यह बात समझने में जीव को अनादि से भूल हो रही है। यदि यह बात समझे तो अनादिकालीन भूल नष्ट होकर अपूर्व धर्म हो।

आचार्य भगवान कहते हैं कि—

हे भाई! तुझे अपना कल्याण करना है न! तो हम तुझे कल्याण का मार्ग बतलाते हैं।

पहले तू निर्णय कर कि मैं आत्मा हूँ;

मेरा जानने-देखने का स्वभाव है।

राग करना वह मेरा स्वभाव नहीं है और शरीर को या जड़कर्म को परिणमित करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। मैंने विकार करके जड़कर्म का बंध किया—ऐसी जिसकी मान्यता है उसकी दृष्टि मिथ्या है; वह यह नहीं जानता कि मेरा ज्ञानस्वभाव विकार से पृथक् है।

'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसी दृष्टि चूककर अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से विकार का कर्ता होगा, किन्तु जड़कर्म का कर्ता तो अज्ञानभाव से भी नहीं है।

जड़कर्म की भाँति शरीर, भाषा, मकानादि का कर्ता भी आत्मा कभी नहीं हो सकता।

—इसलिये हे जीव! तू समझ कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ और ज्ञान ही मेरा कार्य है; ऐसा समझकर ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मलभाव रूप परिणमित होना वह मोक्षमार्ग है और वही तेरे कल्याण का उपाय है।

मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसी जिसे खबर नहीं है वह जीव पर का अभिमान करके अनंत राग-द्वेष करता है। जहाँ अपनी इच्छानुसार पर में कुछ हो वहाँ अज्ञानी अभिमान से कहता है कि हमने ऐसा कर दिया! और जहाँ अपनी धारणा से विरुद्ध हो वहां ऐसा कहता है कि—'भाई! इसमें अपना क्या वश! वह कहीं अपने हाथ की बात है!' किन्तु भाई! पर में तेरा नहीं चलता तो फिर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके सर्वत्र ज्ञाता ही रह न! व्यर्थ ही पर का अभिमान किसलिये करता है? मैं तो ज्ञाता हूँ, और पर के कार्य पर के कारण होते हैं, उसका कर्ता मैं नहीं हूँ,—ऐसा समझकर सब ओर से दृष्टि उठा ले और अपने ज्ञानस्वभाव में दृष्टि कर,—तो अपूर्व कल्याण हो।

जगत की सर्व वस्तुयें अपने स्वभाव से ही परिवर्तित होती हैं, इसलिये प्रत्येक-वस्तु स्वयं ही अपने कार्य की कर्ता है, कोई दूसरा उसका कर्ता नहीं है। जगत की जड़ वस्तुओं में भी उनके अपने स्वभाव से परिवर्तित होने की शक्ति है।

(१) यदि उसमें स्वभाव से ही परिणमित होने की शक्ति न हो, तो दूसरा कोई उसे किसीप्रकार परिणमित नहीं कर सकता। और

(२) यदि उसमें स्वयं ही परिणमित होने की शक्ति है तो वह अन्य किसी परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं रखती।

अहो ! जड़ की पर्याय जड़ से होती है, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ,—ऐसा समझने से अनादि का आलस्य दूर होकर स्वभाव का अपूर्व उद्यम जागृत होता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'आत्मा पर का कर्ता नहीं है—ऐसा समझेंगे तो आलसी हो जायेंगे !' किन्तु अरे मूढ़ ! पर के मिथ्याहंकार के कारण तुझे ज्ञानस्वभाव का उत्साह नहीं आता वही महान प्रमाद है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ यह बात चूककर, ऐसा मानता है कि मैं पर का कर्ता हूँ; इसलिये अनादि से अपने स्वरूप में अनुत्साह है वही महान प्रमाद है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा समझे तो पर सन्मुख वृत्ति छूटकर स्वभाव की ओर का अपूर्व उत्साह और उद्यम जागृत हो।—इसलिये यह अनादिकालीन प्रमाद दूर करने की बात है।

शरीरादि को चलाये या जड़ कर्म को उत्पन्न करे ऐसा तो आत्मा का स्वभाव नहीं है, और उस जड़ कर्म को उत्पन्न करने में निमित्त हो—ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है। आत्मा का ज्ञान-स्वभाव कर्म को निमित्त भी नहीं है। जड़कर्म का निमित्त तो विकार है; इसलिये जो जीव ज्ञानस्वभाव की दृष्टि चूककर विकार का कर्ता होता है वही अपने को कर्म में निमित्त मानता है। निमित्त होने की जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि निर्विकारी ज्ञानानंद स्वभाव पर नहीं है। सम्यक्त्वी को तो ऐसी दृष्टि है कि मैं तो ज्ञानस्वभाव ही हूँ; जड़कर्म और उसके निमित्तरूप विकार—वह दोनों में नहीं हूँ।—ऐसी स्वभावदृष्टि के कारण उसे रागरहित निर्मल पर्याय होती जाती है वह धर्म है।

देखो, यह आत्मा के स्वभाव की बात ! अरे भाई ! तू अपने स्वभाव की बात सुन तो ! अन्तर से उत्साह लाकर एकबार सुन तो कि—अहो ! यह तो मेरे स्वभाव की बात है; अभीतक जिसे समझे बिना मैं संसार में भटका उस स्वभाव की यह बात है।—इसप्रकार अन्तर में अपूर्वता लाकर स्वभाव के उत्साहपूर्वक सुन तो तेरा अवश्य कल्याण होगा। हे जीव ! तेरा तो ज्ञान स्वभाव है। जगत की सारी पर वस्तुयें अपने-अपने स्वभाव से परिणमित होती हैं उसमें तूने क्या किया ? तू तो पृथक् रहकर ज्ञाता रहा। अज्ञानी पृथकत्व का भान भूलकर ज्ञाता न रहकर व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है। तू अपने ज्ञाता स्वभाव को पर से और विकार से पृथक् रख। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों रूप से जड़—पुद्गल परिणमित होते हैं, वे अपनी शक्ति से स्वयं परिणमित होते हैं; वे जीव के विकार की भी अपेक्षा नहीं रखते; क्यों कि "वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।"

(शेष पृष्ठ १२१ पर)

सिद्ध भगवान के आठ गुण

१--परम क्षायिक सम्यक्त्व

केवलज्ञानादि गुणों के स्थान-रूप जो निज शुद्ध आत्मा है वही उपादेय है--इसप्रकार की रुचिरूप निश्चयसम्यकत्व तो पहले तपश्चरण करने की अवस्था में ※ उत्पन्न किया था; उसके फलभूत समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश रहित परिणामरूप परम क्षायिक सम्यक्त्व नाम का प्रथम गुण सिद्ध भगवंतों में कहा जाता है।

२--केवलज्ञान

पूर्वकाल में छद्मस्थ अवस्था में आये हुए निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान के फलभूत एक ही समय में लोकालोक के समस्त पदार्थों के विशेषों को जाननेवाला केवलज्ञान नाम का दूसरा गुण है।

३--केवलदर्शन

सम्पूर्ण विकल्पों से शून्य निज शुद्धात्मा की सत्ता के अवलोकनरूप जो दर्शन पहले भावित किया था, उस दर्शन के फलभूत, एकसाथ लोकालोक के समस्त पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन नाम का तीसरा गुण है।

४--अनंतवीर्य

चैतन्यस्वरूप से चलित होने के कारणरूप कोई घोर परिषह और उपसर्गादि होने के समय पहले अपने निरंजन परमात्मा का ध्यान में धैर्यपूर्वक अवलम्बन किया था, उसके फलभूत, अनंतपदार्थों के ज्ञान में खेद के अभावरूप लक्षण का धारक अनंतवीर्य नाम का चौथा गुण है।

※ यहाँ तपश्चरण करने की अवस्था में निश्चय सम्यक्त्व होना कहा है वह निश्चय रत्नत्रय की एकता-अपेक्षा से समझना; अकेला निश्चयसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में भी होता है।

५--सूक्ष्मत्व

सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने से सिद्धों के स्वरूप का सूक्ष्मत्व कहा जाता है, यह सूक्ष्मत्व पाँचवाँ गुण है।

६--अवगाहन

जिसप्रकार एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों के प्रकाश का समावेश हो जाता है, उसीप्रकार एक सिद्ध के क्षेत्र में संकर-व्यतिकर दोष के परिहारपूर्वक अनंत सिद्धों को अवकाश देने का जो सामर्थ्य है वह छठवाँ अवगाहन गुण है।

७--अगुरुलघुत्व

यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहे के गोले की भांति उसका अधःपतन ही होता रहे, और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो पवन से उड़नेवाले सेमल की रुई की भांति उसका निरन्तर भ्रमण ही होता रहे--किन्तु सिद्ध का स्वरूप ऐसा नहीं है, इसलिये अगुरुलघुत्व नाम का सातवां गुण कहा जाता है।

८--अव्याबाध अनंतसुख

सहजशुद्ध स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न तथा रागादि विभावों से रहित ऐसे सुखरूप अमृत का जो एक देश अनुभव पूर्वकाल में किया था, उसके फलभूत अव्याबाध अनंत सुख नाम का आठवां गुण सिद्धों में कहा जाता है।

—ऐसे अष्ट महा गुणों के धारक श्री सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो!

[देखो, बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १४ टीका]

दुःख का कारण

आत्मा तीनों काल परवस्तुओं से भिन्न है—अर्थात् कोई भी बाह्य साधन आत्मा को सुख दुःख के कारण नहीं हैं। लेकिन संसारी पर संयोगों में यह मुझे अनुकूल और यह मुझे प्रतिकूल—ऐसा मानकर मोह के वश उनमें राग-द्वेष करता है वही संसार परिभ्रमण के दुःख का मूलकारण है।

'हे सखा! चल न मेरे साथ मोक्ष में'

अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुए मुनिराज स्वयं तो अन्तर्-स्वरूप के अवलम्बन से मोक्षकी साधना कर रहे हैं और श्रोता से भी कहते हैं कि हे सखा! तू भी चल न मेरे साथ! हमारा श्रोता हम से अलग रह जाये- यह कैसे हो सकता है? हे मित्र! हमारा उपदेश सुनकर, हमारी भांति तू भी तुरन्त ही चैतन्यस्वरूप में उग्र-रूप से उन्मुख हो। चैतन्य का उग्र अवलम्बन करने से तुझे भी हमारी जैसी दशा प्रगट होगी और अल्पकाल में मोक्ष हो जायेगा।

भव्य जीव को सम्बोधन करके पद्मप्रभमलधारीदेव मुनिराज कहते है, कि—हे सखा! हे बंधु! तू मेरे उपदेश का सार सुनकर चैतन्यस्वरूप की ओर उन्मुख हो; चतुर पुरुषों को उत्तम चैतन्य स्वरूप का ही अवलम्बन करने योग्य है। निरुपम सहज परमानंदरूप चैतन्यतत्त्व का हमने तुझे उपदेश दिया, उसे समझकर हे मित्र! तू तुरन्त ही उग्ररूप से उसमें उन्मुख हो।

—मंदाक्रान्ता—

प्रेक्षावद्भिः सहज परमानन्द चिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्ति साम्राज्य
मूलम्।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वचः सारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कार
मात्रे॥ १२५॥

जो मुक्तिसाम्राज्य का मूल है ऐसे इस निरुपम, सहज परमानन्द वाले एक चिद्रूप को चतुर पुरुषों को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है; इसलिये हे मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को सुनकर, तुरन्त ही उग्ररूप से इस चैतन्यचमत्कार मात्र के प्रति अपनी वृत्ति कर।

देखो, यहाँ कितना सुन्दर सम्बोधन किया है! मुनिराज प्रेम से सम्बोधन करके कहते हैं कि हे सखा! तू भी ऐसा कर...हमने तो अपने चैतन्य का उग्ररूप से अवलम्बन किया है और हमारा उपदेश सुनकर अब तू भी तुरन्त ही चैतन्यस्वरूप में अपनी वृत्ति कर। अध्यात्मक उपदेश की हमारी झंकार सुनकर संसार में कौन उन्मुख नहीं होगा? उपदेश सुनकर सभी करने योग्य है।

चतुर पुरुष यानी आत्मार्थी जीवों का यह एक ही कर्तव्य है कि अन्तर्मुख हो कर एक चैतन्य स्वरूप का ही अवलम्बन करें। हे मित्र! तू शीघ्र ही ऐसा कर,—ऐसी मुनिराज ने प्रेरणा की है।

उपदेश का सार क्या?—चैतन्यस्वरूप में वृत्ति करना। जो जीव अपने चैतन्यस्वरूप को सर्व परभावों से भिन्न जानकर उसीमें वृत्ति करता है अर्थात् उसकी प्रतीति, ज्ञान और एकाग्रता करता है वह वास्तव में उपदेश के सार को समझा है। मुनिराज कहते हैं कि हे सखा! हे बंधु! तू मेरे उपदेश का सार सुनकर चैतन्यस्वरूप में अपनी वृत्ति कर, तुरन्त ही कर। चतुर पुरुषों को अर्थात् आत्मार्थी-ज्ञानी-मुमुक्षु जीवों को एक सहज परमानन्दमय आत्मा का ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करने योग्य है। आत्मा का सहज स्वरूप अनुपम है, वही मुक्तिसाम्राज्य का मूल है। निरुपम और सहज परमानन्दमय चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा है, अंतर्मुख होकर उसकी भावना करने से मोक्षदशा हो जाती है, इसलिये वही मोक्ष का मूल है, और वह एक ही मोक्षार्थी जीव का अवलम्बन है। अध्यात्म-उपदेश सुनकर जो जीव ऐसे एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है और रागादि पर भावों या निमित्तादि पर द्रव्यों के ग्रहण की बुद्धि छोड़ता है वही वास्तव में चतुर अर्थात मोक्षार्थी है। मेरे चैतन्य का शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप रहित है, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा जानकर शुद्ध चैतन्य में अन्तर्मुख होकर उस एक का ही ग्रहण करने योग्य है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। मुमुक्षु को शुद्ध चैतन्यस्वरूप के ही ग्रहण से पर भावों का प्रत्याख्यान हो जाता है; इसलिये श्री पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि हे मित्र! मेरा ऐसा उपदेश सुनकर तुरन्त ही उग्र प्रयत्नपूर्वक तू इस चैतन्यचमत्कार स्वभाव में अपनी वृत्ति कर।

यहाँ टीकाकार ने 'हे सखा!' ऐसा प्रेमपूर्ण सम्बोधन किया है, यानी हमें तो अपने चैतन्य के उग्र अवलम्बन से प्रत्याख्यान वर्त रहा है, और तू भी हमारा उपदेश सुनकर अपने चैतन्य का उग्र अवलम्बन कर—जिस से तुझे भी मुझ जैसा प्रत्याख्यान होगा और हम दोनों समान हो जायेंगे। इसप्रकार, 'हे सखा! हे मित्र!'—ऐसा सम्बोधन कर के श्रोता को भी अपने जैसा बनाना चाहते हैं।

हमारा उपदेश सुनकर क्या करना चाहिए?—तुरन्त ही और उग्ररूप से चैतन्यस्वरूप में वृत्ति करना चाहिए। बहिर्मुख वृत्ति का हमारा उपदेश है ही नहीं। चैतन्यस्वरूप की ओर उन्मुख होकर उस में एकाग्र होना ही हमारे

सर्व उपदेश का रहस्य है। जितने ज्ञानी हैं उन सबके उपदेश का सार यह है कि अपना सहज ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को जानकर उसीमें वृत्ति करना। यही मोक्षका कारण है। हे भव्य ! यदि तुझे आत्मा का रंग लगा हो तो अब हमारा उपदेश सुनकर अपनी बुद्धि को चैतन्यस्वरूपोन्मुख कर, अपनी बुद्धि को अन्तरांन्मुख करके चैतन्य का ही ग्रहण कर, और इसके अतिरिक्त परभाव के ग्रहण की बुद्धि छोड़। उग्ररूप से अर्थात् अप्रमादभाव से चैतन्यस्वरूप में वृत्ति करके उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें लीनता करना वह मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

इस नियमसार के टीकाकार पद्मप्रभ मुनिराज महान संत हैं; आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में झूलते हैं, चैतन्यस्वरूप का खूब अवलम्बन वर्त रहा है;—इस प्रकार स्वयं तो अंतरस्वरूप के अवलम्बन से मोक्ष की साधना कर रहे हैं, और श्रोता से भी कहते हैं कि हे सखा ! तू भी चल न मेरे साथ ! हमारा श्रोता हम से अलग रह जाये—यह कैसे हो सकता है ? हे मित्र ! हमारा उपदेश सुनकर, हमारी भाँति तू भी तुरन्त ही चैतन्यस्वरूप में उग्ररूप से अपनी वृत्ति कर। चैतन्य का उग्र अवलम्बन करने से तुझे भी हमारे जैसी दशा प्रगट हो जायेगी और अल्पकाल में मोक्ष हो जायेगा।...

—तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे ! मद्वचः सारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कार मात्रे ॥

[प्रवचन से]

सम्यक्त्वी का पुरुषार्थ

देखो, यह सम्यक्त्वी का पुरुषार्थ ! ऐसा पुरुषार्थ जीव ने पूर्वकाल में कभी नहीं किया। कोई कहे कि हम पुरुषार्थ तो बहुत करते हैं, परन्तु सम्यक्त्व नहीं होता।—तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई ! तेरी बात झूठ है; यथार्थ कारण दे और कार्य न हो ऐसा नहीं हो सकता। यदि कार्य प्रगट नहीं होता तो समझ ले कि तेरे प्रयत्न में भूल है। सम्यग्दर्शन होने की जो रीति है, उस रीति से अन्तर में यथार्थ प्रयत्न करे और सम्यग्दर्शन न हो—ऐसा नहीं हो सकता। वास्तव में अपूर्व सम्यग्दर्शन का सच्चा उपाय क्या है वह जीव ने जाना ही नहीं, और दूसरे विपरीत उपाय को सच्चा उपाय मान लिया है। जहाँ उपाय ही मिथ्या हो वहाँ सच्चा कार्य कहाँ से

प्रगट हो ? इसलिये यहाँ समयसार की ग्यारहवीं गाथा में आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का सच्चा और अचूक उपाय बतलाया है। यदि इस उपाय को समझ ले और शुद्धनय का अवलम्बन लेकर अन्तर के ज्ञानानंदस्वभाव को पकड़े तो सम्यग्दर्शन का अपूर्व अनुभव और भेदज्ञान अवश्य हो जाये।

प्रश्नः—यहाँ शुद्धनय का अवलम्बन लेने को कहा, परन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है—पर्याय है; क्या उस अंश के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तरः—वास्तव में शुद्धनय का अवलम्बन कब कहलाता है ?—अकेले अंश को पकड़कर जो उसी के अवलम्बन में रुका है, उस के तो शुद्धनय है ही नहीं; ज्ञान के अंश को अंतरोन्मुख करके जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसी के शुद्धनय होता है, और ऐसी अभेद दृष्टि की तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया—ऐसा कहा जाता है। इसलिये 'शुद्धनय का अवलम्बन'—ऐसा कहने से उसमें भी द्रव्य—पर्याय की अभेदता की बात है; परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद होकर जो अनुभव हुआ उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है; उसमें द्रव्य—पर्याय के भेद का अवलम्बन नहीं है। यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का अंश है—पर्याय है, परन्तु वह शुद्धनय अंतर के भूतार्थस्वभाव में अभेद हो गया है इसलिये वहाँ नय और नय का विषय पृथक् नहीं रहे। जब ज्ञान पर्याय अन्तरोन्मुख होकर शुद्धनय के साथ अभेद हुई तब शुद्धनय हुआ। यह शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है; जिसप्रकार मैले पानी में कतकफल डालने से वह निर्मल हो जाता है उसीप्रकार कर्म से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है; शुद्धनय से भूतार्थस्वभाव का अनुभव करने से आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है। देखो, यह सच्ची औषधि! अनादि से जीव को मिथ्यात्वरूपी रोग लागू हुआ है, वह इस शुद्धनयरूपी औषधि से मिटता है। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा शुद्धनय का अवलम्बन लेकर शुद्धनय का अनुभव करते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है और अनादिकालीन भ्रमणा रोग दूर हो जाता है।

यह बात अपूर्व समझने योग्य है, इसे समझकर अंतर में इसका यथार्थ निर्णय करना वह सम्यक्दर्शन का कारण है। वास्तव में तो यही करने योग्य है; इसके अतिरिक्त अन्य सब थोथे हैं; उनमें कहीं भी आत्मा का हित नहीं है।

[—श्री मानस्तंभ—प्रतिष्ठा—महोत्सव के प्रवचन से]

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१४]

अकार्यकारणत्वशक्ति

ज्ञानस्वरूपी आत्मा में अनंत-शक्तियाँ विद्यमान हैं उनका यह वर्णन चल रहा है; अभीतक तेरह शक्तियों का विवेचन हो गया है। चौदहवीं अकार्यकारणत्व है। आत्मा के द्रव्य, गुण या पर्याय को कोई परवस्तु नहीं करता इसलिये आत्मा अकार्य है, और आत्मा किसी परवस्तु के द्रव्य,-गुण या पर्याय को नहीं करता इसलिये आत्मा अकारण है, पर के साथ के कार्य-कारण भाव से रहित आत्मा स्वयं सर्व से भिन्न एक द्रव्यस्वरूप है। ऐसे आत्मा को जो पहिचाने उसके स्वभाव का कार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता। आत्म-स्वभाव के अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट हुई वह आत्मा का कार्य है और आत्मा ही उसका कारण है। इसके अतिरिक्त कोई भी पर वस्तु आत्मा के कार्य का कारण है ही नहीं। आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं परन्तु उसमें कोई ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं कि जिससे आत्मा का पर कारण हो। आत्मा का कारण पर नहीं है और पर का कारण आत्मा नहीं है; आत्मा के कारण-कार्य आत्मा में ही हैं और पर के कारण-कार्य पर में हैं।

यह अकार्यकारणत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, इसलिये वास्तव में तो क्षणिक विकार का कार्य-कारणपना भी आत्मा में नहीं है। यदि त्रिकाली आत्मा विकार का कारण हो, तब तो विकार सदैव होता ही रहे—परन्तु ऐसा नहीं है। और आत्मा विकार का कार्य भी नहीं है; अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय वह कारण और आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन वह कार्य—ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें प्रगट हुईं वे आत्मा से अभेद हैं; इसलिये जिसप्रकार व्यवहार रत्नत्रय के कारण से आत्मद्रव्य नहीं बनता उसी प्रकार उसकी निर्मल पर्याय भी नहीं बनती। कारण-कार्य अभेद हैं; यहाँ विकार के साथ भी आत्मा का कारण-कार्यपना स्वीकार नहीं किया है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि

कर्म के कारण विकार होता है! यहाँ तो आत्मा की त्रिकाली शक्तियों की बात है; त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखने से आत्मा में विकार होता ही नहीं, इसलिये आत्मा विकार का कारण नहीं है—ऐसा समझना चाहिए।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियां त्रिकाल हैं, परन्तु शरीर-मन-वाणी या पुण्य-पाप—वे कोई आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में नहीं हैं; इसलिये उन शरीर-मन-वाणी द्वारा या पुण्य-पाप द्वारा आत्मा की महिमा नहीं है, परन्तु अपनी अनंत शक्तियां द्वारा ही आत्मा की महिमा है। जिस प्रकार हलवाई की दुकानपर अफीम या घड़े नहीं मिलते परन्तु मावा मिलता है, और अफीम-वाले की दुकान पर मावा नहीं किन्तु अफीम ही मिलती है; जिसके पास जो हो वह उसीके पास से मिलता है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञान—आनंदादि अनंत गुणों का भण्डार है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करने से उसमें से गुण मिलते हैं, किन्तु विकार या जड़ उसमें से नहीं मिल सकते। पुण्य-पाप तो अफीम के गोले समान हैं उनकी दुकान अलग है; और शरीर-मन-वाणी की क्रिया वह कुंभार के घड़े जैसी है, उसमें से कहीं से आत्मा का धर्म मिले ऐसा नहीं है; और आत्मस्वभाव की दुकान से वह किसी काल नहीं मिल सकती। जड़ का कोई भी तत्त्व अथवा जड़ की क्रिया या पुण्य-पाप के विकारी भावों को आत्मा के अंतरस्वरूप में ढूँढे तो वे नहीं मिल सकते, और जड़ की क्रिया में या विकारी भाव में आत्मा के अंतरतत्त्व को ढूँढे तो वह भी नहीं मिल सकता। जैसे—अफीम वाले की दुकान पर जाकर कोई कहे कि—'शुद्ध दूध का दस सेर मावा दे दीजिये!'—तो वह मूर्ख ही माना जायेगा। अफीमवाले के पास अफीम का मावा होता है किन्तु दूध का मावा नहीं होता। और कुंभार के घर जाकर कोई कहे कि—'दस सेर ताज़े पेड़े दे दीजिये!'—तो वह भी मूर्ख ही कहलायेगा। कुंभार के घर तो मिट्टी के पिण्ड होते हैं—वहाँ पेड़े नहीं मिल सकते। और हलवाई की दूकान पर आकर कोई कहे कि—'पाँच तोला असली अफीम दे दीजिये, अथवा पाँच घड़े दे दीजिये।'—तो वह भी मूर्ख ही है। उसी प्रकार आत्मा अनंत गुणों की मूर्ति हलवाई की दूकान जैसा है; उसके पास से आनंदरस की प्राप्ति होती है, उसके बदले विकार में या जड़ की क्रिया में आनन्द लेने जाये अथवा उससे धर्म माने तो वह जीव परमार्थतः महान मूर्ख-मिथ्यादृष्टि है; जो जीव शरीर की क्रिया से या पुण्य से धर्म मानता है वह जीव लोकव्यवहार में भले चाहे जैसा बुद्धि-शाली माना जाता हो, परन्तु परमार्थ-

मार्ग में तो वह मूर्ख ही है। और जिसप्रकार हलवाई की दुकान पर अफीम या घड़े लेने के लिये जानेवाला मूर्ख है, उसी प्रकार चिदानन्द भगवान आत्मा के पास जड़ की क्रिया और विकार का कराना मानता है वह भी मूढ़—मिथ्या दृष्टि ही है । अज्ञानी शरीर की क्रिया में और पुण्य में आत्मा का बड़प्पन मानते हैं, परन्तु शरीर की क्रिया का या पुण्य का कारण हो ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है—इसका अज्ञानी को भान ही नहीं है।

आत्मा के स्वभाव में ऐसा अकार्यकारणपना है कि अपने स्वभाव से अन्य ऐसे कोई भी परद्रव्य या परभावों के साथ उसे कार्यकारणपना नहीं है। शरीर-मन वाणी या देव-गुरु-शास्त्र सब आत्मा से अन्य हैं। उनसे इस आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता और यह आत्मा उनके कार्य को नहीं करता। और पुण्य-पाप भी आत्मा के स्वभाव से अन्य हैं इसलिये उनसे आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कुछ कार्य हों—ऐसा नहीं है; और आत्मा कारण होकर उन विकारीभावों रूप कार्य को उत्पन्न करे—ऐसा भी नहीं है। ऐसा आत्मा का अनादि अनंत अकार्यकारण स्वभाव है। अपना कार्य पर से नहीं होता और स्वयं पर का कार्य नहीं करता—ऐसी अकार्यकारणत्व शक्ति तो यद्यपि समस्त द्रव्यों में है, परन्तु इस समय आत्मा की पहिचान कराने के लिये उसकी शक्तियों का वर्णन चलता है। किसी भी द्रव्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि अन्य के कार्य को करे। और कोई भी द्रव्य ऐसा पराधीन नहीं है कि अपने कार्य के लिये पृथक् कारण की अपेक्षा रखे।—ऐसा वस्तुस्वरूप है; यह जैनदर्शन का रहस्य है।

ऐसे यथार्थ वस्तुस्वरूप की लोगों को खबर नहीं है, इसलिये अज्ञान के कारण वे ऐसा देखते हैं कि मैंने पर का कार्य किया और पर के कारण मेरा कार्य हुआ। मकान के ऊपर मुंडेर डालने के लिये सौ मन की कैंची ऊपर चढ़ रही हो, वहाँ भ्रम से- संयोगी दृष्टि से—अज्ञानी ऐसा समझता है कि पचास मजदूरों ने मिलकर शक्ति लगायी इसलिये यह कैंची ऊपर उठी है। अब यथार्थ दृष्टि से देखने पर वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि मजदूर और कैंची दोनों बिलकुल पृथक्-पृथक् वस्तुयें हैं, इसलिये किसी के कारण दूसरे में कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। मजदूरों का कार्य मजदूरों में है और कैंची का ऊपर उठने का कार्य कैंची में है। इसलिये कैंची उसके अपने कारण ऊपर उठी है, मजदूरों के कारण नहीं।

और सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर कैंची स्वयं भी मूल वस्तु नहीं है; कैंची तो अनंत रजकणों समूह से उत्पन्न हुई संयोगी वस्तु है; वास्तव में एक रजकण ने दूसरे रजकण का स्पर्श ही नहीं किया है; कैंची का प्रत्येक रजकण स्वयं

अपने भिन्न कार्य को कर रहा है; दो रजकण एकत्रित होकर एकमेकरूप से कार्य करते ही नहीं हैं। यदि इस प्रकार प्रत्येक रजकण के भिन्न-भिन्न कार्य को समझे तो पर की क्रिया करने का अभिमान उड़ जाता है, और आत्मस्वभाव की ओर उन्मुखता हो जाती है।

और तर्क से देखें तो भी मजदूरों ने कैंची को उठाया यह बात नहीं रहती; क्योंकि प्रत्येक मजदूर पृथक्-पृथक् है, एक मजदूर ने दूसरे को स्पर्श नहीं किया है; प्रत्येक मजदूर की शक्ति अपने-अपने में पृथक्-पृथक् है। सभी मजदूरों की शक्ति एकत्रित हुई ही नहीं है, तब फिर मजदूरों ने कैंची को उठाया—यह बात कहाँ रही? क्या एक मजदूर से सौ मन की कैंची उठती है? नहीं उठ सकती। यदि एक मजदूर से कैंची न उठे तो दूसरे से भी नहीं उठ सकती, तीसरे से भी नहीं उठ सकती, इस-प्रकार किसी मजदूर से नहीं उठ सकती। तब फिर सब मजदूर एकत्रित होकर कैंची उठाई यह बात भी नहीं रहती; क्यों कि प्रत्येक मजदूर की शक्ति अपने-अपने में है; किसी की शक्ति अपने में से निकलकर दूसरे में नहीं जाती, इसलिये दो मजदूरों की शक्ति कभी एकत्रित नहीं होती। देखो यह वीतरागी विज्ञान की दृष्टि!! सामने कैंची में दो पैर-जानु एकत्रित होकर कार्य नहीं करते और यहाँ दो मजदूर एकत्रित होकर कार्य नहीं करते; इसलिये किसी के कारण दूसरे का कार्य हुआ—यह बात नहीं रहती। इसप्रकार समस्त वस्तुओं में परस्पर अकार्यकारणपना है।

आत्मद्रव्य का कार्य अन्य किसी वस्तु द्वारा नहीं होता और आत्मा अन्य किसी वस्तु के कार्य को नहीं करता; इस-लिये आत्मा को धर्मकार्य किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता परन्तु एक अपने द्रव्य के आश्रय से ही धर्मकार्य होता है। 'अकार्यकारण' शब्द में जो 'अ' है वह कार्य और कारण दोनों के साथ लागू होता है, अर्थात् आत्मद्रव्य पर का कार्य नहीं है और पर का कारण भी नहीं है। जो जीव स्वरूप में समस्त परद्रव्यों के साथ अपना अकार्य-कारणपना समझे उसे स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मलकार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा में ऐसी शक्ति ही नहीं है कि वह पर के कार्य का कारण हो; और अपने कार्य के लिये पर कारण की अपेक्षा रखे ऐसी पराधीनता भी उसमें नहीं है। ऐसा समझ ले उसे कहीं भी पर के साथ "यह मेरा कार्य और यह मेरा कारण"—ऐसी एकत्वबुद्धि न रहे, इसलिये स्वभाव के आश्रय से निर्मलकार्य प्रगट हो। उसका कारण भी आत्मा स्वयं ही है, अन्य कोई कारण है ही नहीं; प्रत्येक समय की पर्याय स्वयं ही अपने कारण-कार्यरूप से वर्तती है। परम शुद्धदृष्टि में तो कारण-कार्य के भेद ही नहीं है; कारण-कार्य के भेद कहना वह भी व्यवहार है।

निमित्तकारण द्वारा कार्य होता है—ऐसा जो माने वह मिथ्यादृष्टि है; उसे आत्मा के अकार्य-कारण स्वभाव का भान नहीं है। निमित्त की पहिचान कराने के लिये 'इस निमित्त से यह कार्य हुआ'—ऐसा कहा जाता है, परन्तु वह व्यवहार से ही है; वास्तव में निमित्त को कारण-कार्य होना मान ले तो उसके स्व-पर तत्त्व की एकत्वबुद्धि है, उसे यथार्थ कारण-कार्य की खबर नहीं है। कारण और कार्य पृथक्-पृथक् द्रव्यों में होते ही नहीं। कारण एक द्रव्य में हो और उसका कार्य दूसरे द्रव्य में हो—ऐसा नहीं हो सकता; तथापि जो ऐसा मानता है उसे दो द्रव्यों में एकत्वबुद्धि है।

आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों स्वयं सिद्ध हैं। आत्मा किसी ईश्वर का कार्य नहीं है, अर्थात् किसी ईश्वर ने आत्मा को नहीं बनाया है; अमुक पदार्थ एकत्रित होकर उसमें से आत्मा उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है। और निमित्त द्वारा, पुण्य-पाप द्वारा या व्यवहार द्वारा आत्म-द्रव्य की रचना नहीं हो सकती, अर्थात् उन किसी के द्वारा आत्मद्रव्य का अनुभव नहीं होता। कोई कहे कि व्यवहार के कारण आत्मा के सम्य-ग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की रचना हुई है, तो ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की रचना में आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं। आत्मा अपने कार्य में किसी अन्य की सहायता नहीं लेता और न स्वयं किसी अन्य का कारण होता है—ऐसी स्वयंसिद्ध अकार्यकारणत्व शक्ति उसमें त्रिकाल है। भले लाखों वर्ष तक भगवान की भक्ति करे, परन्तु पर के कारण से आत्मा में कार्य हो—ऐसा गुण आत्मा में नहीं है, और उस भक्ति का राग कारण होकर उससे सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट हो जाये ऐसा भी नहीं होता।

आत्मा का कार्य दूसरे से नहीं होता और आत्मा किसी अन्य की क्रिया नहीं करता। पर जीव बचा वहाँ उसके बचने में आत्मा कारण नहीं है; शरीर के हलन-चलन या बोलने में आत्मा कारण नहीं है, पुण्य-पाप के परिणाम हों उनमें भी आत्मद्रव्य कारण नहीं है;—ऐसा आत्मा की अकार्य-कारणत्वशक्ति का सामर्थ्य है। ऐसा स्वभाव समझने से पर के ऊपर दृष्टि नहीं रहती परन्तु द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जाती है। जड़ कर्म हों उनका कारण आत्मा नहीं है। क्षणिक विकारी परिणाम हों उनके कारणरूप से सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है; इसलिये ऐसे द्रव्य के सन्मुख देखनेवाले जीव को क्षणिक विकार की कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती। त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने से विकार की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये त्रिकाली द्रव्य विकार का कारण नहीं है। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से तो

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की ही उत्पत्ति होती है, इसलिये वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का कारण हो ऐसा द्रव्य का स्वभाव है।

व्यवहार रत्नत्रय से आत्मा नहीं बनता। यदि व्यवहार रत्नत्रय से आत्मा बनता हो तो व्यवहार रत्नत्रय का नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जायेगा! और, द्रव्य के आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह तो द्रव्य में अभेद है इसलिये जिसप्रकार व्यवहार रत्नत्रय से द्रव्य नहीं बनता उसीप्रकार निर्मल पर्याय भी उसमे नहीं बनती। पर्याय द्रव्य में से आती है या पर में से? पर्याय तो द्रव्य में से ही आती है इसलिये पर्याय का पिता स्वद्रव्य है। स्वद्रव्य ही अपनी पर्याय का उत्पादक है, उसके बदले अन्य को उत्पादक मानना वह कलंक है। जिसप्रकार पुत्र का जो पिता हो उसके बदले किसी अन्य को पिता बतलाए तो वह लोक-व्यवहार में कलंक है; उसीप्रकार निर्मल पर्यायरूप प्रजा का पिता द्रव्य है; द्रव्य के आश्रय से वह पर्याय प्रगट हुई है उसके बदले अन्य को उसका कारण बतलाना वह कलंक है। पुण्य-पाप में से, निमित्त में से या व्यवहार में से आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता, और द्रव्यदृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव उस पुण्य-पाप का या व्यवहार का कर्ता नहीं है। तब फिर आत्मा देश का, समाज का कुछ करे या शरीर का कुछ करे अथवा पैसादि के लेन-देने की क्रिया करे—यह बात तो है ही नहीं।

जड़ की या पर की क्रिया तो आत्मा से नहीं हुई है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि—पुण्य-पाप आत्मा से हुए ऐसा भी नहीं है। पर्यायदृष्टि में पुण्य-पाप होता है, परन्तु त्रिकाली दृष्टि से देखने पर आत्मा में पुण्य-पाप है ही नहीं; इसलिये आत्मा उसका कर्ता नहीं है। पर्यायबुद्धिवाला जीव यह बात यथार्थ रूप से नहीं मान सकता। आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि अनंत स्वभाव की मूर्ति है, उसमे कोई स्वभाव नहीं है कि जो विकार का कारण हो!—अथवा पर के कार्य को करे!

यह आत्मा हो तो जगत का कार्य हो—ऐसा नहीं है, और जगत के पदार्थ हों उनके कारण आत्मा का कार्य होता है—ऐसा भी नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जो न पहिचाने वह जीव आत्मा से अनभिज्ञ अर्थात् भान रहित है। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं देखा है कि शरीर-मन वाणी इत्यादि बराबर हों तो आत्मा में धर्म का कार्य हो; और आत्मा के कारण शरीर-मन-वाणी बराबर रहते हों ऐसा भी कोई गुण भगवान ने नहीं देखा है। तो हे मूढ़! तू सर्वज्ञ से अधिक चतुर कहाँ से निकला! आत्मा से पर का

कार्य कभी होता ही नहीं तब फिर तू स्वयं पर का कर्तापन क्यों मानता है? यदि शरीर-मन-वाणी इत्यादि के कार्य आत्मा से होते हों तो उनसे आत्मा कभी पृथक् हो ही नहीं सकता और न अपना स्वकार्य करने के लिये उसे कभी निवृत्ति मिलेगी। इसीप्रकार द्रव्य स्वयं कारण होकर यदि पुण्य-पाप की रचना करे तो द्रव्य में से पुण्य-पाप कभी पृथक् ही न हो सकें, इसलिये वीतरागता तो न हो परन्तु भेदज्ञान होने का अवसर भी न रहे। इसलिये द्रव्य स्वयं विकार का कारण नहीं है। ऐसा समझने से स्वभाव और विकार का भेदज्ञान होता है और स्वभाव के अवलम्बन से विकार दूर होकर वीतरागता प्रगट होती है।

(१) यदि अपना कार्य दूसरे से होता हो तो अपने में कुछ करना नहीं रहता; स्वकार्य प्रगट करने के लिये अपने स्वभावसन्मुख देखना भी नहीं रहता।

(२) और यदि आत्मा पर का कार्य करता हो तो वह पर की ओर ही देखता रहे, और अपना कार्य करने के लिये उसे अवकाश न मिले; इसलिये उसमें भी स्वसन्मुख देखना नहीं आता।

जिसे अपने आत्मा का हित करना हो और मोक्षमार्ग की साधना करना हो वह जीव जगत की दरकार नहीं करता। "जगत का क्या होगा?"—ऐसी चिंता में पड़ा रहे तो आत्महित की साधना कब करेगा? जगत का तो उसके अपने कारण से जैसा होना है वैसा हो रहा है; जगत का भार मेरे सिर पर नहीं है, मैं अपने आत्मा का साधक हूँ;—इसप्रकार धर्मी जीव स्वसन्मुख होकर स्वयं अपना हित साध लेता है।

यहाँ भगवान कहते हैं कि—आत्मा में ऐसा अकार्यकारण स्वभाव है कि वह पर का कारण नहीं है, और पर का कार्य भी नहीं है। इस शरीर के परमाणुओं में आत्मा का निवास नहीं है। शरीर से आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता, और आत्मा से शरीर का कोई कार्य नहीं होता, तथापि अज्ञानी जीव पर का मोह करता है। पर में कर्तृत्व का राग और ज्ञातामात्रस्वभाव पर द्वेष रूप तिरस्कार को करता है।

प्रत्येक आत्मा में अनंतशक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। मेरी अनंतशक्तियाँ मुझ में हैं—ऐसा यदि जीव जान ले तो उसे अपनी अनंत महिमा आये और पर की महिमा दूर हो जाये, और क्षणिक विकार की महिमा भी दूर हो जाय, इसलिये पर का स्वामित्व छोड़कर स्वयं अपनी शक्ति की सँभाल करके सिद्ध दशा की साधना करे। संसारी जीव अनादि से अपनी निजनिधि को भूल रहा है; उसे सर्वज्ञदेव उसकी निधि बतलाते हैं। जिसप्रकार पुत्री को ससु-

राल भेजते समय दहेज देते हैं उसी-प्रकार जीव को सिद्ध दशा रूपी ससुराल भेजने के लिये केवली भगवान दहेज देते हैं। कोई पूछे कि—यह आत्मा की अनंतशक्तियों की बात किसलिये सुनाते हो? तो कहते हैं कि अब तुझे संसार से सिद्धदशा में भेजना है, इसलिये तुझे तेरी ऋद्धि सौंपी जा रही है। 'तो आत्मा के साथ क्या देंगे?'—आत्मा में अपनी अनंतशक्ति है, उसे बतलाकर उसकी अनंती निर्मल पर्यायें प्रगट करके आत्मा को सिद्धदशा में साथ भेजेंगे। उसका उपभोग सादि अनंतकाल तक सिद्धदशा में साथ रहेगा। अर्थात् आत्मा की अनंतशक्तियों की प्रतीति करे उसके अल्प-काल में ऐसी सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

'अहो! मेरी अनंतशक्ति मुझमें है, अपने हित के लिये मुझे किसी अन्य का आश्रय नहीं है'—ऐसा समझने से दृष्टि बदल जाती है। जो ऐसा समझा उसने संसार के साथ का सम्बन्ध तोड़-कर आत्मा की सिद्धदशा के साथ सम्ब-न्ध बाँधा है। जिसप्रकार पुत्री जबतक माता-पिता के गृह में होती है तबतक तो ऐसा मानती है कि यह मेरा घर है, और यह हमारी सम्पत्ति है; परन्तु सगाई होते ही उसकी दृष्टि पलट जाती है कि यह घर और सम्पत्ति मेरी नहीं है, यह सब मेरे साथ नहीं आयेंगे; किन्तु जहाँ सगाई हुई है वह घर और उसकी सम्पत्ति मेरी है। उसीप्रकार अज्ञानी जीव अनादिकाल से संसार में पल रहा है; शरीर सो मैं हूँ, पुण्य-पाप मैं हूँ,—इसप्रकार बालकरूप से वह मान रहा है। अब अनंतशक्ति के पिण्ड अपना भगवान आत्मा के साथ उसकी सगाई कराके ज्ञानी कहते हैं कि देख भाई! तुझे सिद्ध होना है न! ...'हाँ'...तो तेरे साथ तेरे अनंत-गुणों की ऋद्धि आयेगी; परन्तु यह शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी, कुटुम्ब अथवा पुण्य-पाप कोई तेरे साथ नहीं आयेंगे। तेरे अनंतगुणों की ऋद्धि सदैव तेरे साथ रहती है, परन्तु शरीर या पुण्य-पाप वे कोई तेरे साथ सदैव रहनेवाले नहीं हैं।—ऐसा समझते ही जीव की दृष्टि पलट जाती है कि अहो! मेरी अनंत-शक्तियाँ मुझमें हैं; उनका ही मैं स्वामी हूँ; वही मेरा स्वरूप है; उन्हें भूलकर मैंने भ्रम से शरीर तथा पुण्य-पाप को अपना स्वरूप माना था, परन्तु वे कोई मेरा स्वरूप नहीं हैं, वे कोई मेरे साथ रहनेवाले नहीं हैं। देखो, सत्य समझते ही दृष्टि पलट जाती है; परसम्मुखदृष्टि थी वह छूटकर स्वसम्मुखदृष्टि हो जाती है; उसमें अपूर्व पुरुषार्थ है।

धर्मात्मा समझता है कि त्रिकाल स्थित रहनेवाला अनंतशक्तिरूप स्वभाव है सो मैं हूँ, और क्षणिक राग-द्वेष मैं

नहीं हूँ, शरीर में नहीं हूँ, जगत की वस्तुयें मुझे कारण नहीं हैं; उनसे मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, और मेरे कारण जगत की वस्तुयें नहीं हैं;—इसप्रकार धर्मात्मा जीव पर का स्वामित्व छोड़कर अपनी स्वभावऋद्धि का स्वामी होता है। पर से लाभहानि होते हैं—ऐसी दृष्टि उसके छूट गई और आत्मा के साथ सगाई की।

अहो ! ज्ञानी कैसी मिष्ट-मधुर बात करते हैं ! परन्तु अज्ञानी जीव को अनादिकालीन मोह है इसलिये ऐसी हितकारी सत्य बात उसे नहीं रुचती; और उल्टा झुंझला उठता है। भाई ! तेरे अनंतगुण त्रिकाल तेरे साथ रहनेवाले हैं; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप या शरीर, कुटुम्बादि कोई तेरे साथ नहीं आयेंगे। इसलिये पर मेरा कारण और मैं पर का कारण—ऐसी बुद्धि छोड़; पर के साथ जो कारणकार्यपना माना है वह मिथ्यात्व है। यहाँ तो कहते हैं कि उस मिथ्या मान्यता का कारण भी त्रिकाली आत्म द्रव्य नहीं है, परन्तु जो ऐसा समझे उसकी पर्याय में मिथ्यात्व रहेगा ही नहीं।

और उपादान-निमित्त की बात सुनकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भाई ! जगत के कार्य तो उसके उपादान से होते हैं, हम तो मात्र उसके निमित्त हैं। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अरे भाई ! अपनी दृष्टि में से एकबार पर के साथ का सब सम्बन्ध छोड़ दे ! निमित्त होने की जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि पर के ऊपर है; जिसकी दृष्टि अनंत गुण के पिण्ड आत्मा पर है उसकी पर के ऊपर दृष्टि ही नहीं है, इसलिये 'मैं पर को निमित्त हूँ'—यह बात उसकी दृष्टि में कहाँ रही ? पर का निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है उसके स्वसन्मुख दृष्टि नहीं है परन्तु उसकी दृष्टि परोन्मुख है। स्वसन्मुख-दृष्टि में तो आत्मा को पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना पर्याय के निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। त्रिकाली आत्मा तो पर का या राग-द्वेष का निमित्तकारण भी नहीं है; यदि त्रिकाली आत्मा रागादि का निमित्तकारण हो तो वह निमित्तपना कभी दूर नहीं हो सकता; सिद्ध में भी राग-द्वेष होते रहेंगे। इसलिये त्रिकाली स्वभाव राग-द्वेषादि का निमित्तकारण भी नहीं है। पर्याय का अशुद्ध उपादान वह राग-द्वेषादि का कारण है, परन्तु वह एक समय पर्यंत का है, उसकी यहाँ बात नहीं है; यहाँ तो आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की बात चल रही है। पुण्य-पाप आत्मा के अशुद्ध उपादान से होते हैं और कर्म उसमें निमित्त है—यह तीनों बातें पर में जाती हैं; आत्मा

के शुद्धस्वभाव में वह कुछ है ही नहीं।

देखो, यह तो द्रव्यदृष्टि के अजर-प्याले की बात है। ऐसी दृष्टि पचाने के लिये अंतर में जीव की कितनी पात्रता होती है! सद्गुरु के प्रति विनय, बहुमान तथा वैराग्यादि की योग्यता उसमें होती ही है। चाहे जैसे स्वच्छन्द पूर्वक वर्ते और यह बात समझ में आ जाये—ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानप्रधान वर्णन में यह सब बात विस्तारपूर्वक आती है; इस समय तो दर्शनप्रधान वर्णन चल रहा है।

आत्मसिद्धि में कहा है कि:—

'सर्व जीव छे सिद्धसम जे समजे ते थाय।'

इसमें आत्मा के स्वभाव की और उसे समझने की बात की है। परन्तु उसे समझनेवाले जीव को कैसे निमित्त होते हैं?—कि—'सद्गुरु आज्ञा जिनदशा निमित्तकारणमांय।' सर्वज्ञ-वीतराग जिन-दशा कैसी होती है उसका विचार और सद्गुरु की आज्ञा उस आत्मा का स्व-रूप समझने में निमित्तकारण हैं; कुदेव-कुगुरु को मानता हो और आत्मा का स्वरूप समझ जाये—ऐसा नहीं हो सकता; उसके लिये यह बात की है। द्रव्यदृष्टि के विषय में अकेला अभेद आत्मा ही है, उसमें निमित्त की बात नहीं आती। ऐसी अभेद दृष्टि से ही विकल्प टूटकर निर्विकल्प का अनुभव होता है। आत्मा अकारण स्वभाव है, उसका अनुभव करने के लिये कोई अन्य कोई कारण है ही नहीं। देव-गुरु का विचार करे, अथवा आत्मा है, वह नित्य है—इसप्रकार भेद से आत्मा के विचार करे, तो वह भी वास्तव में आत्मानुभव का कारण नहीं है। अपने अनुभव में व्यवहार की या पर की सहायता लेना पड़े ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। और आत्मा पर का कारण हो ऐसा भी उस का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न:—क्या आत्मा के बिना बोला जा सकता है? मुर्दे क्यों नहीं बोलते? आत्मा हो तो भाषा बोली जाती है; इसलिये भाषा का कारण आत्मा है या नहीं?

उत्तर:— आत्मा की उपस्थिति हो और भाषा बोली जाये उस समय भी उस भाषा का कारण आत्मा नहीं है, परन्तु जड़ परमाणुओं के कारण भाषा हुई है। यदि भाषा का कारण आत्मा हो तो जबतक आत्मा हो तबतक भाषा निकलती ही रहे! शरीर ठीक रहे वह जड़ की क्रिया है, आत्मा के कारण शरीर ठीक नहीं रहता। सर्प काटे और विष चढ़ जाये, उससमय आत्मा होने पर भी क्यों अचेत पड़ा रहता है?—वह जड़ का कार्य है, आत्मा उसका अकारण है। शरीर निरोगी हो,

वज्रर्षभनाराच संहनन हो, ब्राह्ममुहूर्त का समय हो, निर्जन वन हो, उसमें देव-गुरु-शास्त्र की उपस्थिति हो,-तो यह सब बाह्य पदार्थ कारण होकर आत्मा का कुछ कर देंगे,—ऐसा जो मानता है उसे आत्मा के अकार्यस्वभाव की खबर नहीं है; किन्हीं अन्य कारणों से आत्मा का कार्य हो ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा पर का कारण-कार्य हो तो वह एकद्रव्यस्वरूप न रह-कर अनेकद्रव्यस्वरूप हो जाये। परन्तु आत्मा तो परका कारण नहीं है और पर का कार्य भी नहीं है—ऐसा एक-द्रव्यस्वरूप है; ऐसा उसका अकार्यका-रणस्वभाव है। ऐसे स्वभाव को दृष्टि में लेने से मुक्तिरूपी कार्य प्रगट हो जाता है।

आत्मा की अनंतशक्ति का स्वयं में ही समावेश है। पर से तो वह बिलकुल भिन्न है, इसलिये पर का कुछ करे ऐसी आत्मा की एक भी शक्ति नहीं है। अज्ञानी कहते है कि आत्मा में तो अनंतशक्ति है, इसलिये वह पर का भी कर सकता है! परन्तु ऐसा माननेवाला मूढ़ है, उसने आत्मा को या आत्मा की शक्तियों को जाना ही नहीं है। आत्मा की अनंतशक्तियों का कार्य आत्मा में होगा या आत्मा से बाहर के पदार्थों में होगा? और यदि आत्मा पर का कार्य करे, तो क्या पर पदार्थों में उनका अपना कार्य करने की शक्ति नहीं है? आत्मा पर का करता है—ऐसा मानने-वाले ने परद्रव्यों की शक्ति को भी नहीं जाना है और पर से भिन्न अपनी आत्मशक्ति को भी नहीं जाना है।

आत्मा में एकसाथ अनंतशक्तियाँ होने पर भी, आत्मा ज्ञायक है, आत्मा ज्ञानस्वभाव है—ऐसा कहकर आत्मा की पहिचान करायी जाती है, वहाँ ज्ञान कहने से दूसरी अनंतशक्तियाँ भी ज्ञान के साथ आ जाती है—ऐसा अनेकान्त का स्वरूप है। यह बात स्पष्ट करने के लिये आचार्यदेव ने आत्मा की कुछ मुख्य-मुख्य शक्तियों का वर्णन किया है। अनंतशक्तियाँ हैं वे सब वचन-गोचर नहीं हो सकती; वचन में तो अमुक ही आ सकती हैं। अनंतशक्तियों को एकसाथ प्रतीति में लेते हुए शक्तिमान अभेद आत्मा दृष्टि में आ जाता है और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है और उसमें अपनी अनंतशक्तियाँ अनादिअनंत हैं। अहो! विचार तो करो कि आत्मा में अनंतशक्तियाँ हैं तो उसकी महिमा कितनी!! जीव ने अपनी महिमा का कभी यथार्थरूप से विचार किया ही नहीं। केवलज्ञान तो जिसके एकगुण की मात्र एक समय की पर्याय, ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायें होने का एक ज्ञान गुण का सामर्थ्य है; और ऐसे अनंत गुण जिसमें विद्यमान हैं उस वस्तु की महिमा की क्या बात!! उस वस्तु की महिमा

समझे तो उसमें अन्तर्मुख होकर आनंद का वेदन करे!

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्तिस्वभाव से त्रिकाल सत् है; उसके अस्तित्व में अन्य कोई पदार्थ कारणरूप नहीं है; कोई ईश्वरादि उसका कर्ता नहीं है। आत्मा किसी कारण से नहीं बना है किन्तु स्वयंसिद्ध वस्तु है। किसी भी परवस्तु को या उसके कार्य को आत्मा नहीं करता और आत्मा को या आत्मा के किसी कार्य को परवस्तु नहीं करती। इसप्रकार आत्मा किसी का या पर का कारण नहीं है। शरीरादि जड़ पदार्थों में जो कार्य होता है उसका कारण आत्मा नहीं है, तथा आत्मा में जो कार्य होता है उसमें जड़ पदार्थ कारण नहीं है। आत्मा का ऐसा त्रिकाली स्वभाव है कि स्वयं किसी का कार्य या कारण नहीं है। इसलिये आत्मा किसी अन्य का कार्य नहीं है, और न स्वयं कारणरूप होकर किसी के कार्य को उत्पन्न करता है। कोई पर कारण हुआ और आत्मा उसके कार्यरूप से उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है; तथा आत्मा कारण हुआ और कोई परद्रव्य उसका कार्य हुआ—ऐसा भी नहीं है। इसप्रकार किसी भी परवस्तु के द्रव्य, गुण या पर्याय के साथ कार्य-कारणसंबंध से रहित एकत्वस्वरूप—ऐसा आत्मा का अकार्यकारणस्वभाव है। आत्मवस्तु में ज्ञानादि अनंत गुणों के साथ एक ऐसी "अकार्यकारण" शक्ति भी है। "अकार्य"—आत्मा के द्रव्य, गुण या पर्याय पर से नहीं हुए हैं; और "अकारण"-आत्मा स्वयं परवस्तु के द्रव्य-गुण या पर्याय को नहीं करता।

प्रभु! तेरे आत्मा में जिसप्रकार जाननेरूप ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसी-प्रकार किसी अन्य का कार्य या कारण न हो—ऐसा अकार्य-कारण स्वभाव भी उसमें त्रिकाल है। देखो, ऐसी समझ में तो महान सम्यक् एकान्त है, अर्थात् ज्ञान पर की लीनता से विमुख होकर अपने स्वभाव में स्थित होता है। "मेरा कोई करता है, अथवा मैं किसी का करता हूँ"—ऐसी मान्यता में तो स्व-पर की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या एकान्त हो जाता है; परन्तु "मैं किसी का कार्य या कारण नहीं हूँ; मेरा कोई कर्ता नहीं है"—ऐसे ज्ञान में स्व-पर की पृथकतारूप अनेकान्त है। पर में एकत्वबुद्धि वह मिथ्या एकान्त है और स्व में एकत्वबुद्धि वह सम्यक्-एकान्त है, और स्व-पर के भेदज्ञान की अपेक्षा से वही सम्यक् अनेकान्त है। जो जीव परपदार्थों के साथ अपना कार्य-कारणपना मानता है उसे स्व-पर की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व है; ऐसे जीव को मुनित्व का या श्रावकत्व का कोई धर्म होता ही नहीं। और उनको अनादि

शुभराग व्यवहाराभास है, उपचार से भी धर्म का कारण नहीं।

कोई पूछे कि "मैं किस कारण हूँ? मैं न होऊँ तो क्या आपत्ति है?"

उत्तरः— अरे भाई! "मैं न होऊँ" —इसका अर्थ क्या? तू तो सत् है, तेरा अकारण स्वभाव है इसलिये तेरे अस्तित्व में कोई कारण है ही नहीं। प्रश्नकर्ता तू स्वयं बैठा है; फिर "न होऊँ तो"—यह बात ही कहाँ रही? तथा तू जगत की सत् वस्तु है, तो सत् का अन्य कौन कारण होगा? इसलिये द्रव्य का कोई कारण है ही नहीं।

और कोई ऐसा पूछे कि—द्रव्य का कारण भले कोई न हो, परन्तु "मैं चेतन हूँ और जड़ नहीं हूँ"—इसका कारण क्या? कोई द्रव्य चेतन और कोई जड़—इसका क्या कारण?

उत्तरः— जो चेतन है वह अपने स्वभाव से ही चेतन है, और जो जड़ है वह अपने स्वभाव से ही जड़ है, उस स्वभाव में कोई कारण है ही नहीं; इसलिये यह चेतन क्यों और यह जड़ क्यों—ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता।

इसीप्रकार कोई पर्याय में भी ऐसा पूछे कि—"इससमय ऐसी ही पर्याय क्यों हुई? दूसरी क्यों न हुई?" तो उसका उत्तर यह है कि—उस द्रव्य का पर्यायस्वभाव ही वैसा है। जिस द्रव्य में जिससमय जो पर्याय होने का स्वभाव हो वही होती है, अन्य पर्याय नहीं होती—ऐसा उसका स्वभाव है; उसमें अन्य कोई कारण नहीं है।

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में अकार्यकारणस्वभाव विद्यमान है। "ऐसा क्यों?"—ऐसा कारण ढूँढना नहीं रहता। द्रव्य-गुण-पर्याय जिसप्रकार सत् हैं उन्हें वैसा ही जान लेना आत्मा का स्वभाव है; जानने में बीच में "ऐसा क्यों?"—ऐसा प्रश्न उठाने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

प्रश्नः—वस्तु में अकार्यकारणशक्ति है इसलिये त्रिकाली द्रव्य को या गुण को तो पर का कार्यकारणपना नहीं है—यह बात ठीक है; परन्तु पर्याय तो नवीन प्रगट होती है, इसलिये उसका कारण तो पर है न? पर्याय में तो पर का कार्य-कारणपना है न?

उत्तरः—जो अकार्यकारणस्वभाव है वह द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों में विद्यमान है, इसलिये जिसप्रकार द्रव्य-गुण का कारण कोई अन्य नहीं है, उसीप्रकार पर्याय का कारण भी अन्य कोई नहीं है। अरे भाई! क्या त्रिकाली द्रव्य कभी भी वर्तमान पर्यायरहित होता है? द्रव्य अपनी किसी न किसी पर्याय-सहित ही होता है; पर्यायरहित द्रव्य कभी होता ही नहीं। यदि पर्याय का कारण पर को कहा जाये तो उसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य स्वयं पर्यायरहित अर्थात् द्रव्य ही नहीं है। भेद करके कहना

हो तो द्रव्य कारण और पर्याय कार्य—ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि पर्याय उस द्रव्य की ही है। परन्तु यहाँ तो यह भेद की बात ही नहीं लेना है; यहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्याय—तीनों को अकारण सिद्ध करना है। तब फिर पर्याय का कारण परवस्तु है—यह तो बात ही कहाँ रही? जिसने अकार्यकारणरूप द्रव्यस्वभाव को स्वीकार किया उसकी पर्याय भी अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद हुई है, इसलिये वह पर्याय भी रागादिअशुद्धता का कार्य-कारण नहीं है। और यदि पर का कार्यकारणपना माने तो वह पर्याय परसन्मुख है, उसने अन्तर् के द्रव्य को स्वीकार नहीं किया है, उसकी दृष्टि भिन्न कारण-कार्य पर नहीं होती।

प्रत्येक शक्ति के वर्णन में खूब रहस्य है। इस एक अकार्यकारणशक्ति को बराबर समझे तो आत्मा की स्वतंत्रता समझ में आ जाये; पश्चात् चाहे जैसे संयोगों में भी ऐसा न माने कि पर के कारण मुझे कुछ होता है; और यह भी न माने कि मैं पर का कुछ कर देता हूँ; इसलिए उसकी प्रतीति में कहीं भी रागद्वेष करना नहीं रहा। ऐसी वीतरागी श्रद्धा होने के पश्चात् अल्प राग-द्वेष हो वहाँ धर्मी जानता है कि यह राग-द्वेष कोई पर नहीं कराता और न इन राग-द्वेषों के द्वारा मैं पर के कोई कार्य कर सकता हूँ; मेरे निर्मल द्रव्य-स्वभाव में यह राग-द्वेष हैं ही नहीं, इसलिए मेरा द्रव्य भी राग का कारण नहीं है, मात्र अवस्था की उसप्रकार की भूमिका है परन्तु उतना ही मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार धर्मी जीव को सर्व समाधान और विवेक वर्तता है।

आत्मा का अकार्यकारणस्वभाव होने से उसका त्रिकाल परवस्तु के कारण बिना ही चल रहा है; आत्मा को अपने कार्य के लिये परवस्तु की आवश्यकता हो—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। तथापि, मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता—ऐसा अज्ञानी मान बैठा है, वह उसका मिथ्या अभिप्राय है। यह मिथ्या अभिप्राय ही संसार का मूल कारण है। जहाँ मिथ्या अभिप्राय हो वहाँ तीव्र राग-द्वेष हुए बिना नहीं रह सकते।

मैं एक स्वतःसिद्ध वस्तु हूँ, मेरा कोई कारण नहीं है और न मैं किसी का कारण हूँ। यदि मुझे पर के साथ कारण-कार्यपना हो तो स्वपर की एकता हो जाए, इसलिए मैं पर से भिन्न एक स्वद्रव्यरूप ही न रहूँ किन्तु परद्रव्यरूप हो जाऊँ! परन्तु मैं तो मेरा एक द्रव्य-स्वरूप ही हूँ; किसी भी परद्रव्य के साथ मुझे कारण-कार्यपना नहीं है।—ऐसी यथार्थ समझ करना वह संसार के नाश का कारण है।

—इसप्रकार अकार्यकारणत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

(पृष्ठ १०२ का शेषांश)

यह महान सिद्धान्त है कि जिसमें जो शक्ति स्वतः हो वह पर की अपेक्षा नहीं रखता; और जिसमें जो शक्ति स्वतः न हो वह किसी दूसरे से नहीं हो सकती। वस्तुस्वभाव स्वतंत्र है। जीव का ज्ञानस्वभाव होने से वह अपने ज्ञान-स्वरूप परिणमित होकर जानता है, जानने में उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, उसीप्रकार जड़-पुद्गल भी अपने परिणमन स्वभाव से ही कर्मरूप परिणमित होते हैं; उसमें उन्हें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।

जब कर्म बंध होता है तब वह जीव के विकार के प्रमाण में ही होता है—ऐसा मेल होने पर भी वहाँ भी जीव के विकार के कारण कर्म बँधा—ऐसा नहीं है। तब फिर आत्मा शरीर, मकान, पुस्तकादि की पर्याय को परिवर्तित करे—यह तो बात ही कहाँ रही? पुद्गल में ज्ञानवरण का उदय हो, वहाँ जीव की पर्याय में ज्ञान की हीनता हो, और सामने ज्ञानावरण कर्म का बंध होता हो;—वहाँ ऐसा नहीं है कि ज्ञानावरण कर्म के कारण ज्ञान की हीनता हुई है; और जीव की पर्याय में ज्ञान की हीनता के कारण ज्ञानावरण कर्म का बंध हुआ—ऐसा भी नहीं है।

प्रत्येक का परिणमन स्वतंत्र अपने अपने कारण से है। जब जीव अज्ञानी की आसक्तादि विकारभाव करता है, तब उस विकार के प्रमाण में ही ज्ञाना-वरणादि कर्म बँधते हैं; तथापि जीव ने उन पुद्गलों को कर्मरूप परिणमित नहीं किया है; तब फिर अन्य पदार्थ—जो कि क्षेत्र से भी जीव से पृथक् हैं उनका—जीव कुछ करे यह तो बात ही कहाँ रही? जगत की सर्व वस्तुयें अपने-अपने कारण परिणमित होती हैं। उनमें जीव का अधिकार नहीं है। अरे जीव! तू तो ज्ञान है, ज्ञान और आनन्दरूप परिणमित होने का तेरा स्वभाव है; विकाररूप से परिणमित होने का या पर का कुछ करने का तेरा स्वभाव नहीं है। यह समझकर अपने ज्ञान स्वभाव की प्रतीति कर और पर का अहंकार छोड़ वह सुखी होने का उपाय है।

जगत के सर्व जड़-चेतन पदार्थ स्वयं परिणमित होनेवाले हैं; उनमें आत्मा क्या करेगा? आत्मा उन्हें जानता है, लेकिन उनमें कुछ कर नहीं सकता। जिसप्रकार गर्म पानी में बहुत सी मूँग उबालने के लिये डाली हो, वहाँ जिस मूँग मे उबलने की शक्ति हो वही उब-लती है, कोरडो मूँग नहीं उबलती। तब फिर पानी ने क्या किया। उसी-प्रकार जगत में तो अनंत परमाणु हैं, और धर्मास्तिकायादि भी हैं, उनमें से जिस समय जिन परमाणुओं में कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति है उतने ही परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं;

दूसरे परिणमित नहीं होते। यदि जीव के विकार के कारण पुद्गल कर्म-रूप परिणमित होते हों तो जगत के समस्त पुद्गल कर्मरूप क्यों परिणमित नहीं हो गये? धर्मास्तिकाय क्यों कर्म-रूप परिणमित नहीं हुआ? इसलिये कर्मरूप परिणमित होनेवाले पुद्गल स्वतंत्ररूप से ही कर्मरूप परिणमित होते हैं; जीव उनका कर्ता नहीं है।—ऐसी स्वतंत्रता को स्वीकार किए बिना जीव को अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती; ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना पर का अहंकार दूर नहीं होता, और निराकुल सुख प्रगट नहीं होता। इसी-लिये यह समझकर ज्ञान स्वभाव की प्रतीति करना और पर का अहंकार छोड़ना वह सुख का मार्ग है।

हे वत्स! तू विचार कर कि तेरा सुख कहाँ है? तेरे ज्ञानतत्त्व में ही तेरा सुख है; विभाव में या पर के कार्यों में तेरा सुख नहीं है; इसलिये पर से और विकार से भिन्न ऐसे ज्ञानस्वरूप की प्रतीति कर और पर का अहंकार छोड़। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पर के कार्य मेरे नहीं है और राग मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा जिसे अंतर में भान हो उसे सभी पक्षों का विवेक होता है; उसका अनंत राग दूर हो जाता है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं उनकी पहि-चान पूर्वक उनके प्रति विनय-बहुमान-भक्ति का भाव आता है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का भी जिसे निर्णय और बहुमान नहीं है उसमें तो वास्तव में जैनत्व नहीं है। अहो! मैं ज्ञानानंद-स्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी आत्मस्वभाव की दृष्टि करना वह सच्चा जैनत्व है। मैं ज्ञान हूँ और पर के कार्य पर से होते हैं—इसप्रकार यदि प्रत्येक तत्त्व की स्वतंत्रता का सत्य बात ख्याल में आ जाये तो पर के ऊपर से दृष्टि उठा-कर अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में दृष्टि करने से अपूर्व धर्म हो।—इसके अति-रिक्त अन्य रीति से धर्म नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं
ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा
मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

सम्यग्दर्शन के लिये आत्मार्थी का उल्लास और निर्विकल्प अनुभूति

सम्यग्दर्शन सन्मुख हुए जिज्ञासु जीव को अपना कार्य करने का अत्यंत उल्लास होता है, इसलिये अंतरंग-प्रीति से उसका उद्यम करता है। अपना कार्य यानी सम्यग्दर्शन; सम्यग्दर्शन करना ही उसके जीवन का ध्येय है—वही उसके जीवन का साध्य है; इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये निरन्तर उल्लासपूर्वक प्रयत्न करता है; उसमें प्रमाद नहीं करता। अपना आत्मकार्य साधने के लिये आत्मार्थी के परिणाम निरन्तर उल्लासमान होते हैं। सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अन्य कार्य अपना भासित नहीं होता, इसलिये उसमें रस नहीं है; निजकर्तव्य को एकक्षण भी अन्तर से नहीं भूलता।—ऐसा जीव अल्पकाल में सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

तत्त्वविचार करके भी जब अन्तर में स्वरूप सन्मुख हो तभी निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है। मात्रतत्त्वविचार ही कहीं सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन कब हुआ कहलाता है?—कि जब स्वरूप सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति हो—अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हो—तभी यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है; वही यथार्थ प्रतीति है; इसके बिना यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती। तत्त्वविचार के पश्चात् अन्तर्मुख होकर स्वरूप की निर्विकल्प अनुभूति न करे तबतक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर पाता। अंतर में चैतन्य स्वभाव की महिमा करके उसको निर्विकल्प अनुभूति करना—प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करना—ही सम्यग्दर्शन है। [—प्रवचन से]

❋ धर्मकथा का श्रवण ❋

भगवान की या ज्ञानी की वाणी सुनकर जो जीव उसका आशय समझकर अपने में अभेदस्वभाव के अवलम्बन से धर्म प्रगट करता है, उसीने वास्तव में धर्मकथा सुनी है। जिसे आत्मा के चैतन्यस्वभाव की दृष्टि तो हुई नहीं है और राग तथा भेद के आश्रय से धर्म होना मानता है वह तो अकेले अधर्म का ही पोषण करता है; ऐसे जीव ने धर्म की कथा (शुद्ध आत्मा की कहानी) वास्तव में कभी सुनी ही नहीं है, परन्तु बन्ध की ही कथा सुनी है; भगवान की वाणी सुनते समय भी वास्तव में तो वह बंधकथा ही सुन रहा है, क्योंकि उसकी पराश्रय-व्यवहार की रुचि का जोर बंधभाव पर है, परन्तु अबंध आत्मस्वभाव की ओर उसकी रुचि का जोर नहीं है।

भले ही समवशरण में बैठा हो, और तीर्थंकरदेव की वाणी कानों में पहुँच रही हो, परन्तु उससमय जिस जीव की ऐसी मान्यता है कि 'ऐसी श्रेष्ठ वाणी के कारण मुझे ज्ञान हुआ, अथवा इस श्रवण के शुभराग से मुझे ज्ञान हुआ'—तो वह जीव वास्तव में भगवान की वाणी नहीं सुनता, परन्तु बंधकथा ही सुनता है; भगवान की वाणी का अभिप्राय वह समझा ही नहीं है। अनंतबार समवशरण में जाकर अज्ञानी ने क्या किया?—बंधकथा ही सुनी, किन्तु धर्मकथा नहीं सुनी। 'निमित्त से मेरा ज्ञान नहीं होता, राग से भी मेरा ज्ञान नहीं होता और न मेरा ज्ञानस्वभाव राग का कर्ता है, मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, ज्ञानस्वभाव के अवलंबन से ही मेरा ज्ञान होता है'—ऐसी ज्ञानस्वभाव की रुचि और सन्मुखतापूर्वक जिसने एकबार ज्ञानी के निकट शुद्ध आत्मा की बात सुन ली, उसने धर्मकथा का सच्चा श्रवण किया है, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त किए बिना नहीं रहेगा।

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा, वीर शासन जयन्ती के शुभावसर पर सोनगढ़ में भाई श्री छोटालाल रायचंद खंभार (चूडावाला) तथा उनकी धर्मपत्नी कान्ताबेन-इन दोनों ने पूज्य गुरुदेव के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी, अतः धन्यवाद।

धार्मिक प्रवचन के विशेष दिन

सोनगढ़ में भाद्रपद कृष्णा १२, गुरुवार ता. २६-८-५४ से भाद्रपद शुक्ला ५, गुरुवार ता. २-९-५४ तक के आठ दिन धार्मिक दिवस के रूप में मनाये जायेंगे और जिनमें पू. गुरुदेव के विशिष्ट प्रवचन होंगे। इन दिनों बहुत से मुमुक्षुओं को कामकाज से निवृत्ति का अधिक अवकाश रहता है अतः वे भी लाभ ले सकें इस दृष्टि से यह आठ दिन रखे गये हैं।

श्री मानस्तम्भ फंड खाते बाकी रही रकमें

श्री मानस्तंभ फंड खाते लिखाई गईं अथवा प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर बोली गईं निम्नलिखित रकमें आना बाकी हैं। जिनकी रकमें बाकी हैं उनके पूरे पते मिलते नहीं, अतः उन नामों की सूची यहाँ दी जा रही है। जिन भाई बहिनों की रकमें बाकी हों, वे याद कर अपने पूरे नाम पते सहित भिजवाने की कृपा करें।

व्यवस्थापक
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़

१०१) धनोबाई
६१) कनकबेन
२१) अथाकुंवरबेन
११) गोकलदास गुलाबचंद
३१) खेमचंद छगनलाल अजमेरा
१०२) सेठ मानमलजी
११) रतिलाल वर्धमान मोदी
२१) शारदाबेन जयंतीलाल सेठ
२१) वल्लभदास मथुरादास
२१) वासंतीबेन
१०१) जयंतीभाई, राजकोट
४०) छगनलाल बेचरदास (बारसी के)
६२) कल्याणमल फूलचंद, कलकत्ता
१०१) मंगलाल जैन, कलकत्ता

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

भाद्रपद : २४८० ※ वर्ष दसवाँ ※ अंक पांचवां

: संपादक :

रामजी माणेकचंद दोशी वकील

सिद्ध और संसारी

जैसा सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है वैसे ही स्वभाववाला आत्मा इस देह में विद्यमान है। सिद्ध भगवान में और इस आत्मा के स्वभाव में परमार्थतः कुछ भिन्नता नहीं है, जितना सामर्थ्य सिद्ध भगवान के आत्मा में है उतना सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में भरा है। सिद्ध परमात्मा अपने स्वभावसामर्थ्य की प्रतीतकर उसमें लीनता द्वारा पूर्ण ज्ञान आनंद प्रगट कर मुक्त हो गये हैं; और अज्ञानी जीव अपने स्वभावसामर्थ्य को भूलकर, रागादि में ही अपनापन मानकर संसार में भटकता है।

[११३]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

एक अंक चार आना

जैनस्वाध्याय मन्दिर ∴ सोनगढ़ सौराष्ट्र

कहाँ अटका ?

अज्ञानी जीव संसार से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर देश के, पर के, घर के और शरीर वगैरह के कार्य करने के अभिमान में अटकता है, बहुत तो धर्म के नाम पर दया-व्रत वगैरह के शुभराग में धर्म मानकर वहाँ अटक जाता है; परन्तु शरीरादि की क्रिया से भिन्न और शुभराग से भी पृथक् ऐसे अपने ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा का लक्ष नहीं करता, इसलिये उसके जन्म-मरण के दुःखों का अंत नहीं आता। अनादिकाल से पुण्य किया तो भी जीव संसार में ही भटकता रहा, इसलिये संसार का मूल कारण क्या है ? जानकर उसे दूर करने का उपाय करना चाहिये।

श्री मानस्तंभ फंड खाते बाकी रही रकमें

श्री मानस्तंभ फंड खाते लिखाई गई अथवा प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर बोली गईं निम्नलिखित रकमें आना बाकी हैं। जिनकी रकमें बाकी हैं उनके पूरे पते मिलते नहीं, अतः उन नामों की सूची यहाँ दी जा रही है। जिन भाई बहिनों की रकमें बाकी हों, वे याद कर अपने पूरे नाम पते सहित भिजवाने की कृपा करें।

व्यवस्थापक
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

६१) झबकबेन
२१) जयाकुंवरबेन
११) गोकलदास-गुलाबचंद
३१) खेमचंद छगनलाल अजमेरा
१०२) सेठ मानमलजी
११) रतिलाल वर्धमान मोदी
२१) वल्लभदास मथुरदास
२१) वासंतीबेन
१०१) जयंतीभाई, राजकोट
४०) छगनलाल बेचरदास (भारती के)
६२) कल्याणमल फूलचंद, कलकत्ता
१०१) नंदलाल जैन, कलकत्ता

आत्मधर्म

भाद्रपद : २४८० 卐 वर्ष दसवाँ 卐 अंक पांचवा

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माकी कुछ शक्तियाँ

[१५]

परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा पर से निराला है, उसके स्वभाव में अपने अनंत गुण एकसाथ विद्यमान हैं, उनका यह वर्णन चलता है। अभीतक चौदह शक्तियों का वर्णन हुआ है। चौदहवीं शक्ति में ऐसा कहा है कि आत्मा को किसी भी पर द्रव्य के साथ कार्य-कारणपना नहीं है। अब आत्मा में स्व-पर के ज्ञाता होने का और स्व-पर के ज्ञेय होने का स्वभाव है—वह बात करते हैं। पर और स्वयं जिनका निमित्त है ऐसे ज्ञेयाकार तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने और ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकशक्ति आत्मा में है इसलिये आत्मा स्व-पर का ज्ञाता हो और स्व-पर का ज्ञेय हो ऐसा उसका स्वभाव है। पर का करने की बात उड़ाकर फिर यह

बात की है। आत्मा में पर का करने की शक्ति नहीं है. परन्तु पर को जानने की शक्ति है, और वह भी अकेले पर को जानने को नहीं किन्तु स्व-पर दोनों को जानने की शक्ति है। तथा आत्मा अन्य का कार्य नहीं होता परन्तु अन्य के ज्ञान का ज्ञेय हो ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा मात्र पर को ज्ञात हो और स्वय अपने को ज्ञात न हो—ऐसा नहीं है; परन्तु स्व और पर दोनों का ज्ञेय हो ऐसा उसका स्वभाव है।

आत्मा स्व-पर दोनों को जानता तो है ही, परन्तु पर का कार्य नहीं करता, कार्य तो मात्र स्व का ही करता है। आत्मा स्वयं ज्ञान-रूप होकर स्व-पर को जानता है, आत्मा के ज्ञानाकार में पर ज्ञेय निमित्त हैं, और पर के ज्ञान में यह आत्मा ज्ञात हो ऐसा उसका स्वभाव है। अपने ज्ञान को और पर ज्ञेयों को —इसप्रकार स्व-पर दोनों को ग्रहण करे अर्थात् जाने ऐसी आत्मा की परिणम्यशक्ति है। तथा स्व-पर दोनों के ज्ञान में ग्रहण हो अर्थात् ज्ञात हो ऐसी आत्मा की परिणामक शक्ति है; इसप्रकार आत्मा परिणम्य–परिणामक शक्तिवाला है। इस शक्ति में ज्ञान और प्रमेयत्व दोनों भावों का समावेश हो जाता है।

आत्मा स्वयं अपने को और पर को जाने ऐसी उसकी शक्ति है, और अपने तथा पर के ज्ञान का ज्ञेय हो ऐसी आत्मा की शक्ति है। इस के अतिरिक्त पर के साथ कारण-कार्यादि कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के ज्ञानपरिणाम में भी ज्ञेय निमित्त हैं, और पर जीवों के ज्ञान में स्वय निमित्त है; पर-ज्ञेयों को जानने के स्वभावरूप परिणमित होने की शक्ति तो आत्मा की अपनी है, कहीं पर ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता। और आत्मा स्वयं अपने ज्ञान में ज्ञात हो यह बात भी इस शक्ति में समा जाती है।

वाणी ज्ञेय है, उस ज्ञेय को जानने की आत्मा की शक्ति है परन्तु उस ज्ञेय के कारण ज्ञान हुआ ऐसा नहीं है। और अनंत सिद्ध भगवन्त, अरहन्त भगवंतादि के ज्ञान में प्रमेय होने का आत्मा का स्वभाव है, और स्वयं अपने ज्ञान में अनंत

सिद्ध भगवन्त, अरिहन्त भगवन्तादि को जाने ऐसी आत्मा की शक्ति है। भगवान! यह तेरे सामर्थ्य की बात चल रही है। तुझे अपनी सामर्थ्य की महिमा भासित नहीं हुई है, इसलिये पर की महिमा देकर भटक रहा है; यदि स्वभाव-सामर्थ्य की महिमा को समझ ले तो पर की महिमा दूर हो जाए और परिभ्रमण का अन्त आए। तुझमें अपना स्वय का और पर का ज्ञान करने की शक्ति है, और अपना तथा पर का ज्ञेय होने की शक्ति है। तेरी एक एक पर्याय में स्व पर का ज्ञान करने का और स्व-पर का ज्ञेय होने की शक्ति है। —यह समझ तो 'स्वयं अपने को ज्ञात नहीं हो सकता'—ऐसी शंका न रहे। आत्मा मात्र पर को ही जानता है—ऐसा जो मानता है, उसे आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है। आत्मा में ऐसी दुगुनी शक्ति है कि वह स्व और पर दोनों को एक समय में जान सकता है। शरीर थके अथवा रोग हो उसे जानने की आत्मा की शक्ति है परन्तु शरीर को जानेकी अथवा रोग को दूर करने की आत्मा की शक्ति नहीं है।

जगत में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि उसे जानने की सामर्थ्य आत्मा में न हो। परिपूर्ण जाने ऐसा आत्मा का स्वरूप है, अपूर्ण जाने राग-द्वेष हो वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा की पर्याय में धर्म होता है और स्वयं को उसकी खबर नहीं हो सकती ऐसा जो मानता है उसने आत्मा की इस शक्ति को नहीं माना है। आत्मा में जो धर्मपर्याय प्रगट हुई वह पर्याय स्वयं अपने को जानती है, त्रिकाली द्रव्य-गुण को जानती है और पर को जानती है ऐसी उसकी सामर्थ्य है। ज्ञान कहीं अंधा नहीं है कि वह स्वयं अपने को न जाने। धर्मी जानता है कि 'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी।' आत्मा के ज्ञाता स्वभाव में स्वयं अपने को जानते हुए लोकालोक भी ज्ञात हो—ऐसा स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है।

स्व-पर को जाने और स्व-पर का ज्ञेय हो ऐसी परिणम्य-परिणामक शक्ति मात्र जीव में ही है इसलिये

वह विशेष है; प्रमेयत्व गुण तो समस्त द्रव्यों में है, परन्तु स्व पर को जानने की सामर्थ्य जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं है। जीव में तो ज्ञातापना और प्रमेयत्वपना (-ज्ञेयपना) दोनों हैं, इसलिये जीव की सामर्थ्य दुगुनी है। जड़ द्रव्य में अपने को अथवा पर को जानने की शक्ति नहीं है; मात्र जीव का प्रमेय होने की उसकी शक्ति है, जीव को कुछ करे ऐसी कोई शक्ति जड़ में नहीं है। जड़ में ज्ञान नहीं है इसलिये वे जड़ पदार्थ आत्मा को विषय (प्रमेय) बनाएँ ऐसी उनमें शक्ति नहीं है। आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि स्वयं स्व-पर ज्ञेयों को ज्ञान का विषय बनाए, और स्व-पर के ज्ञानका विषय बने। जो ऐसे स्वभाव को जान ले उसे पर की ओर से उदासीनता हुए बिना नहीं रहती, और स्वभाव-धर्म में शंका नहीं रहती; स्वयं अपने धर्म को वह निःशंक रूप से जान लेता है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जानता हो उस जीव को "मैं अपना कार्य नहीं कर सकता" ऐसा अनुत्साह भाव नहीं रहता, इसलिये पर से उदासीनता होकर स्वभाव का उत्साह बढ़ता है। मैं अपने आत्मा को नहीं पहिचान सकता—ऐसा वह अनुत्साहित नहीं होता, इसलिये जो ऐसी प्रतीति करे उसके आत्मा की कोई शक्ति हीन नहीं रहती, परन्तु अल्पकाल में पूर्णता हो जाती है।

मैं स्व-पर का प्रकाशक हूं और स्व पर के ज्ञान का ज्ञेय होने का मेरा स्वभाव है, ऐसा जानकर स्वयं अपने आत्मा को ही अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाकर एकाग्र होने से उस पर्याय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप—इन चारों आराधनाओं का समावेश हो जाता है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके अपने आत्मा को ज्ञेय बनाना वह मोक्षमार्ग है।

अहो! आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते वीतरागी संतों ने आत्मा की शक्तियों का अद्भुत वर्णन किया है। आत्मा में तो एक साथ अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु भाषा में तो कुछ ही आती हैं; इसलिये यहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन करके फिर "इत्यादि...." कहकर आचार्य देव समेट लेंगे। संत कहते हैं कि

अहो! कितने नाम लिये जाये? शब्द अल्प हैं और आत्मा की शक्तियाँ अनंत हैं, तब फिर भाषा से कैसे पूरा पड़ सका है? अनंत शक्तियों का पृथक्-पृथक् वर्णन हो सके ऐसे शब्द ही कहाँ हैं? और ऐसा समय भी कहाँ है? हमें तो अपने आत्मा का कार्य करना चाहिए। हमें अपना केवलज्ञान लेने का कार्य करना है। हम केवलज्ञान प्रगट करेंगे उसमें अनंत शक्तियाँ प्रत्यक्ष दिखाई देंगी; वाणी में सब कुछ नहीं आता, तथापि यहाँ जो शक्तियों का वर्णन किया है उसमें आचार्यदेव ने बहुत-बहुत रहस्य भर दिया है।

आत्मा में अनादि अनंत एक ऐसी शक्ति है कि स्वयं ज्ञाता भी हो और ज्ञेय भी हो, स्वयं अपना भी हो और पर का भी ज्ञाता हो; और अपना ज्ञेय हो और पर के ज्ञान का भी ज्ञेय हो।—आत्मा की ऐसी शक्ति को परिणम्य परिणामक शक्ति कहते हैं। आत्मा पर को नहीं जानता अथवा स्वयं अपने को नहीं जानता—ऐसा जो मानता है उसने आत्मा की इस शक्ति को नहीं जाना है, इसलिये वह आत्मा को ही नहीं समझा है।

आत्मा में स्व-पर का ज्ञेय होने का स्वभाव है ऐसा कहा, परन्तु उससे ऐसा नहीं समझना कि इन्द्रियज्ञान से भी आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा इन्द्रियज्ञान से ज्ञात नहीं होता ऐसा उसका सूक्ष्म स्वभाव है, और अतीन्द्रिय ज्ञान से ज्ञात हुए बिना न रहे ऐसा उसका स्वभाव है।

आत्मा का ज्ञान स्व-पर दोनों को जानने वाला है, इसलिये सबको जानने का ज्ञान का स्वभाव है, परन्तु कहीं राग-द्वेष करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। चारित्र के अपराध से राग-द्वेष हों उन्हें भी जानने की ज्ञान की शक्ति है, और वे राग-द्वेष ज्ञान के ज्ञेय होते हैं। देखो राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि स्व-पर को जान सकें, परन्तु ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि स्व-पर को जान ले और शरीरादि पर वस्तुओं में ऐसी योग्यता है कि ज्ञान के ज्ञेय हों, परन्तु ज्ञान को कुछ लाभ-हानि करें ऐसी सामर्थ्य उनमें नहीं है। और ज्ञान में ऐसी शक्ति है

कि समस्त ज्ञेयों को जाने, परन्तु किसी ज्ञेय में फेरफार करे ऐसी उसकी शक्ति नहीं है। जिसप्रकार स्वच्छ दर्पण में सामने वाले पदार्थ ज्ञात हों ऐसी उसकी योग्यता है और सामने वाले पदार्थों में भी उस प्रकार की योग्यता है; किन्तु सामने वाले पदार्थों में दर्पण कुछ भी नहीं करता; उसी प्रकार आत्मा के स्वच्छ ज्ञान—दर्पण में समस्त पदार्थ अवभासित हो अर्थात् ज्ञात हो ऐसी उसकी शक्ति और सामने वाले पदार्थों में भी ऐसा प्रमेय स्वभाव है। परन्तु इस समय सामने वाले पदार्थों की शक्ति का वर्णन नहीं करना है, इस समय तो आत्मा की शक्तियों का वर्णन करना है। स्व-पर को जानने की और स्व-पर का प्रमेय होने की आत्मा की शक्ति है। आत्मा की यह शक्ति उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है, इसलिये द्रव्य भी ज्ञात होता है। गुण भी ज्ञात होते हैं और पर्यायें में भी ज्ञात होती है; ज्ञान उन सबको जानता है।

आत्मा का ज्ञान स्वभाव तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है, परन्तु राग-द्वेषादि भाव कहीं द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान नहीं हैं वे तो मात्र चारित्र गुण की एक समय की पर्याय में व्यापक हैं, उसी समय साथ में दूसरे अनंत गुणों की पर्यायें वर्तती हैं, उनमें वह राग व्याप्त नहीं होता। ऐसा होने पर भी अनंत गुणों के शुद्ध पिण्ड पर दृष्टि न रखकर क्षणिक राग जितना ही मैं हूँ—राग हितकर है, ऐसा अज्ञानी अनुभवन करता है, वह मिथ्यात्व है। क्षणिक राग का आदर करके अनंत गुणों का अनादर करना वह अनंत संसार का अर्थात् अनंत दुःख का कारण है।

राग सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं है परन्तु ज्ञान सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है, और प्रमेयत्व भी सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है। आत्मा के ज्ञान में सब कुछ जानने की शक्ति है; कोई भी द्रव्य गुण-पर्याय आत्मा के ज्ञान में ज्ञात हुए बिना नहीं रहते। यदि पूरा न जाने तो उस ज्ञान का परिणमन अपूर्ण है; पूर्ण ज्ञान में कुछ भी ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। वहां दृष्टि के

विषय में तो पूर्ण स्वभावसामर्थ्य की ही बात है। अन्तर्मुख होकर उसकी प्रतीति करने से शरीर-मन वाणी अथवा राग-द्वेष यह सब ज्ञान से पृथक् रहे और ज्ञात करने योग्य ही रहे; आत्मा स्व-पर का ज्ञाता हुआ और स्वयं अपना ज्ञेय भी हुआ—ऐसा ज्ञान करना वह धर्म है। ऐसे ज्ञान के बिना अन्य किसी प्रकार से धर्म नहीं हो सकता।

चौदहवीं अकार्य कारण शक्ति में ऐसा कहा है कि—आत्मा पर का कारण नहीं है। शरीर का हलन चलन ज्ञान में ज्ञात हो ऐसी आत्मा की शक्ति है, परन्तु शरीर के हलन-चलन में कारण हो सके ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है; और पर वस्तु ऐसी पराधीन नहीं है कि वह आत्मा के कारण हलन-चलन करे, और उस में ऐसी भी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा को ज्ञान करने में सहायक हो; उसमें मात्र ज्ञेय होने का स्वभाव है और आत्मा का ज्ञाता स्वभाव है। बस! पर के साथ ज्ञेय ज्ञायक के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। स्व-पर को जानने वाला और स्व-पर के ज्ञान में ज्ञात होने योग्य ऐसा मेरा स्वभाव है, परन्तु उससे आगे बढ़कर रागादि को करे ऐसी कोई त्रैकालिक शक्ति नहीं है। पर्याय में जो क्षणिक रागादि होते हैं वे कहीं पर के कारण नहीं होते परन्तु वह अपनी ही पर्याय का अपराध है, परन्तु सदैव राग का करता ही रहे ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है, और आत्मा शरीरादि पर के कार्य करे अथवा पर वस्तु आत्मा का कार्य करे ऐसा कदापि नहीं होता। निमित्त की मुख्यता से कभी कार्य नहीं होता मात्र कथन-होता है जैसे घी का घड़ा कहा जाता-होता नहीं।

आत्मा स्व-पर का ज्ञेय होता है ऐसा कहा, वहां पर का अर्थात् दूसरे जीवों के ज्ञान का ज्ञेय होता है परन्तु कहीं जड़ का ज्ञेय नहीं होता; क्योंकि जड़ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह किसी को ज्ञेय बना सके। जड़ को किंचित् खबर नहीं है, परन्तु आत्मा को अपनी और जड़ की—दोनों की खबर है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जानने

से स्वयं को अपनी खबर पड़ती है। "सम्यक्दर्शन तो अरूपी सूक्ष्म वस्तु है, इसलिये आत्मा को उसकी खबर नहीं पड़ती"—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। अपने में सम्यक्दर्शन पर्याय प्रगट हुई उसे भी ज्ञेय करने की आत्मा की शक्ति है। यदि स्वयं को अपनी खबर न पड़े तो निःशंकता कैसे हो? और स्वभाव की प्रतीति में निःशंकता हुए बिना साधक जीव वस्तु की साधना कैसे करे? ज्ञान जागृत हुआ और प्रतीति हुई वहां स्वभाव का सन्देह नहीं रहता।

राग-द्वेष में ज्ञान का ज्ञेय होने की योग्यता है, परन्तु उस राग-द्वेष में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह जाने, अथवा जानने को सहायता दे। व्यवहाररत्नत्रय का जो शुभराग है वह ज्ञान का ज्ञेय है, परन्तु वह ज्ञान में सहायक नहीं है। और ज्ञान स्वभाव में ऐसी शक्ति है कि वह स्व-पर सब को जाने, राग को भी जाने; परन्तु राग को उत्पन्न करे अथवा उससे लाभ ले ऐसा उसका (ज्ञान स्वभाव का) स्वरूप नहीं है।

इस जगत के अनंतानंत पदार्थों में कोई जीव है, कोई जड़ है; जीव है वह जीव के कारण है और जड़ है वह जड़ के कारण है, किसी के कारण कोई नहीं है। कोई कहे कि 'यह जीव क्यों?'—तो कहते हैं कि ऐसा ही उसका स्वभाव है; 'यह जड़ क्यों?' तो कहते हैं कि ऐसा ही उसका स्वभाव है। जिस-प्रकार चेतन और जड़ पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से ही चेतन या जड़ हैं, उनका अन्य कोई कारण नहीं है; उसीप्रकार उन चेतन और जड़ पदार्थों की प्रत्येक समय की अवस्था भी अपने-अपने कारण से है। कोई पूछे कि 'ऐसी पर्याय क्यों हुई?'—तो कहते हैं कि ऐसा ही उनका पर्याय स्वभाव है, अन्य कोई उनका कारण नहीं है। जो द्रव्य, जो गुण, जो पर्याय जैसी है, वैसा ही उसे जाने ऐसा आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, ऐसे स्वभाव के निर्णय से सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होती है। ऐसे स्वभाव का निर्णय किये बिना कभी भी सम्यग्ज्ञान या वीतरागता नहीं हो सकती।

आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि शरीरादि की जो क्रिया हो उसके ज्ञानरूप से परिणमित हो, परन्तु शरीरादि की क्रिया को करने रूप परिणमित हो ऐसी आत्मा की शक्ति नहीं है। मिथ्यादृष्टि आत्मा के ज्ञान स्वभाव को नहीं जानता और पर कर्तृत्व मानता है; परन्तु पर का कर्ता तो वह भी नहीं हो सकता, वह अपने राग द्वेष-मोह का कर्ता होता है।

कोई कहे कि इस समय तो जीव को देह का संयोग है न? परन्तु संयोग का अर्थ है पृथक्। जीव और देह इस समय भी पृथक् हैं इसलिये उनका संयोग कहा गया। यदि वे पृथक् न होते किन्तु एकमेक होते तो उसे संयोग नहीं कहा जाता, परन्तु स्वभाव कहा जाता। संयोग तो दो पृथक् पदार्थों का होता है, इसलिये दो पदार्थों का संयोग कहते ही उन दोनों का भिन्नत्व सिद्ध होता है। इस समय भी जीव और शरीर—दोनों 'दो' पदार्थ हैं कि 'एक' है? जो दोनों एक हों तो संयोग नहीं कहा जा सकता। इस समय भी वे दोनों पृथक्-पृथक् दो पदार्थ हैं। इस प्रकार भिन्नत्व के ज्ञानपूर्वक संयोग को जानना वह व्यवहार है; परन्तु भिन्नत्व के ज्ञान बिना मात्र संयोग को जानने जायेगा तो उसमें जड़-चेतन की एकत्वबुद्धि से मिथ्याज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा। देखो, दूध और पानी का संयोग है परन्तु उन दोनों का स्वभाव भिन्न है, इसलिये अग्नि पर चढ़ने से पानी भाप बनकर उड़ जाता है और दूध गाढ़ा हो कर उसका मावा बन जाता है। दोनों एक ही स्थान पर विद्यमान होने पर भी और दोनों को अग्नि का एक-सा निमित्त होने पर भी दोनों के स्वभाव पृथक् हैं इसलिये ऐसा होता है। उसीप्रकार आत्मा और शरीर एक ही क्षेत्र में होने पर भी उनका स्वभाव भिन्न है; आत्मा में तो सिद्ध दशा का अभेद भाव प्रगट होता है और शरीर के परमाणु छिन्न भिन्न होकर उड़ जाते हैं। संयोग के समय भी स्वभाव की भिन्नता है। मिथ्यादृष्टि जीव त्रिकाली स्वभाव को न देखकर मात्र संयोग को देखते हैं, इसलिये

उसकी दृष्टि पर में से नहीं हटती। छहों द्रव्यों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, और प्रत्येक द्रव्य में अपनी-अपनी काललब्धि है। अकेले जीव में ही काललब्धि है। ऐसा नहीं है, परन्तु प्रत्येक परमाणु में भी उसकी अपनी समय-समय की काललब्धि है, सभी स्वतन्त्रतया अपनी काललब्धि से परिणमित हो रहे हैं, जीव उनका कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञाता है।

जीव का स्वभाव स्व-पर ज्ञेयों को "ग्रहण करने का" है, "ग्रहण" का अर्थ यह नहीं है कि हाथ से परद्रव्य को पकड़ता है; जीव के कहीं हाथ-पैर नहीं हैं कि वह परद्रव्य को पकड़े; ग्रहण करना अर्थात् जानना—ऐसा समझना चाहिए। स्व-पर ज्ञेय कहे उसमें त्रिकाली द्रव्य-गुण और उनमें अभेद हुई वीतरागी पर्याय वह स्वज्ञेय है, और व्यवहार रत्नत्रय का राग वह पर ज्ञेय है, क्योंकि वह जीव का स्वभाव नहीं है। यह समझने से श्रद्धा ज्ञान में शुद्ध चैतन्य का ग्रहण हुआ और विपरीत मान्यता का त्याग हुआ वह अपूर्व धर्म है। यहां द्रव्यदृष्टि से आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की बात है; यदि उसकी श्रद्धा करे तो पर्याय के रागादि की मुख्यता न रहे परन्तु ज्ञान-स्वभाव की मुख्यता—अधिकता रहे; इसलिये जो रागादि हो उनमें पर्यायबुद्धि न रहे।

बीस वर्ष का इकलौता पुत्र बीमार हो जाये वहाँ ज्ञान उसे जानता है, तथा बचाने की इच्छा होती है उसे भी ज्ञान जानता है; परन्तु ज्ञान में या इच्छा में ऐसी शक्ति नहीं है कि पुत्र के शरीर को निरोगी बना दे। इच्छा और राग—दोनों ज्ञान के ज्ञेय हैं; ज्ञान वास्तव में इच्छा को भी नहीं करता, तब फिर वह पर को बचाए यह बात ही कहां रही?

समवशरण में साक्षात् भगवान विराज रहे हों उनकी सेवा का भाव हो और भगवान की मूर्ति की स्थापना करके उनकी भक्ति का भाव आये, परन्तु वहां धर्मात्मा जानते हैं कि वास्तव में भगवान इस आत्मा का कुछ भी नहीं कर देते; भगवान भी मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। इसीप्रकार अष्टकर्म भी ज्ञान के ज्ञेय हैं,

राग कराके आत्मा को परिभ्रमण कराएँ ऐसी शक्ति उनमें नहीं है। कर्मों में ऐसा कोई गुण नहीं है कि वे आत्मा को परिभ्रमण कराएँ; तबफिर कर्म आत्मा को परिभ्रमण कराते हैं यह बात कहां से लाया? कर्म भी ज्ञेय हैं और तुझमें उन्हें भी जानने की शक्ति है। देखो यह ज्ञानसामर्थ्य की महिमा! अमुक निमित्त से लाभ होता है और अमुक से हानि होती है यह बात ही नहीं रहती; ज्ञान में सब ज्ञेय है, उसमें वीतरागभाव है। यह इष्ट और यह अनिष्ट ऐसा ज्ञान में नहीं है और ज्ञेय में भी नहीं है। इसमें ज्ञान की पुष्टि होती है और निमित्ताधीन दृष्टि नाश होती है।

विकार को करे ऐसा भी आत्मा का त्रिकालीस्वभाव नहीं है; तबफिर जड़ को या पर को करे--यह तो बात ही कहां रही? जिसप्रकार ईश्वर जगत का कर्ता है—ऐसा माननेवाले अन्यमती मिथ्यादृष्टि हैं, उसीप्रकार कोई जैनमतानुयायी भी यदि ऐसा माने कि जड़कर्म जीव के गुण-दोष का कर्ता हैं; आत्मा पर का कर्ता है, तो वे भी मिथ्यादृष्टि ही हैं। जीव कर्मों को नहीं करते और कर्म जीव को परिभ्रमण नहीं करावे; जीव न तो शरीर में रहता है और न शरीर को चलाता है; जीव तो नित्य अपने अनंतगुणधाम असंख्यप्रदेशों में रहता है। वास्तव में जीव या शरीर कोई मरते नहीं हैं, क्योंकि जीव का या शरीर के रजकणों का सर्वथा नाश नहीं होता, मात्र उनकी अवस्था अपने-अपने कारण बदलती रहती है। इसलिये मैं पर जीव को मारता हूं या बचाता हूं—ऐसी मान्यता वह अज्ञान है। आत्मा में ऐसी शक्ति है कि स्व-पर सबको जाने और स्व-पर के ज्ञान में ज्ञात हो। आत्मा के ऐसे स्वभाव को समझे बिना राग कम करके पुण्य-बंध करे तो भी मिथ्याअभिप्राय के कारण चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करेगा ही परन्तु जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा।

यह आत्मा की त्रिकाली शक्तियों का वर्णन चल रहा है। आत्मा की कोई भी शक्ति पर के या राग के आश्रय से नहीं है, क्षणिक पर्याय के अथवा एक-एक शक्ति के आश्रय से भी वह नहीं है, परन्तु अनंतशक्ति के पिण्डरूप आत्मद्रव्य के आश्रय से ही सब शक्तियां विद्य-

मान हैं; इसलिये उस द्रव्यसन्मुख देखकर ही इन समस्त शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति हो सकती है।

आत्मा में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह दूसरों को समझा दे; परन्तु दूसरों के ज्ञान में ज्ञात हो और स्वयं दूसरों को जाने ऐसी उसकी सामर्थ्य है। ज्ञानस्वभाव की महिमा का विश्वास करने से अपने में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य प्रगट हो जाता है, और अन्य जिन जीवों में उसप्रकार का ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो उनके ज्ञान में ज्ञेय होने का भी आत्मा का स्वभाव है। यदि कोई ऐसा माने कि केवली भगवान इस आत्मा की तीनोंकाल की पर्यायों को वर्तमान में नहीं जानते, किन्तु जब जो पर्याय हो उससमय उसे जानते हैं;—तो उसने आत्मा के प्रमेय स्वभाव को ही नहीं माना है और केवली को भी नहीं माना है; वह जीव स्थूल मिथ्यादृष्टि है। अपने स्वभाव से ही स्व-पर को जाने ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है उसके बदले जो वाणी–शास्त्रादि से ज्ञान का होना मानता है उसे भी आत्मा के ज्ञान-स्वभाव की खबर नहीं है। पर पदार्थों में आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय होने का स्वभाव है, परन्तु वे ज्ञान के कारण हों ऐसा तो उनका भी स्वभाव नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ज्ञान में ज्ञात हों ऐसा स्वभाव है; यदि तीनों ज्ञान में ज्ञात न हों तो वे ज्ञेय नहीं रहते और उनका सत्पना ही सिद्ध नहीं होता; और यदि ज्ञान में उन तीनों को जानने का सामर्थ्य न हो तो वह ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञान का स्वभाव सबको जानने का है और ज्ञेय का स्वभाव ज्ञान में प्रमेय होने का है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को न जाने और वस्तु को मात्र नित्य ही माने अथवा सर्वथा क्षणिक ही माने तो वह ज्ञान अप्रमाण है उसे प्रमाण ज्ञान ही नहीं है परन्तु मिथ्याज्ञान है; उस ज्ञान के अनुसार प्रमेय वस्तु जगत में नहीं है और जैसी वस्तु है वैसा उसे ज्ञान नहीं है। आत्मा के परिणम्यपरिणामक स्वभाव को बराबर समझ ले तो मिथ्याज्ञान न रहे। इस एक शक्ति में स्व-पर प्रकाशक ज्ञान और प्रमेयत्व—दोनों की सिद्धि हो जाती है।

—यहां पन्द्रहवीं परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति का वर्णन पूरा हुआ। ★

आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध जीव को

आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं

हे भाई ! हमने तुझे तेरा जड़ से भिन्न चैतन्यतत्त्व बतलाया, उसे जानकर अब तू प्रसन्न हो...सावधान हो...और चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही स्वद्रव्यरूप से अनुभव कर ।

[१]

जिसे देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है और अज्ञानभाव से 'शरीर ही मैं हूँ, शरीर के कार्य मुझसे होते'—ऐसा जो मान रहा है, ऐसे मूढ़ जीव को आचार्यदेव करुणापूर्वक समझाते हैं कि—अरे मूढ़ ! तेरा आत्मा सदैव चैतन्यस्वरुप है, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा जड़ कहाँ से हो गया? जो तू जड़ को अपना मानता है ? तेरा आत्मा तो सदैव चैतन्यस्वरूप ही है, वह कभी जड़रूप नहीं हुआ है, चैतन्यस्वरूप आत्मा का कभी जड़ के साथ एकत्व नहीं हुआ है, सदैव भिन्नत्व ही है; इसलिये हे भाई! अब तू जड़ के साथ एकत्व की मान्यता छोड़ और अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को देख। तेरे आत्मा का विलास जड़ से भिन्न चैतन्यस्वरूप है, ऐसे चैतन्यविलास से एक आत्मा को ही स्वतत्त्वरूप से देख ।

× × ×

[२]

यह बात किसे समझाते हैं ?—जो अनादि से धर्म का बिलकुल अनभिज्ञ है, जिसे शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की खबर नहीं है—ऐसे अज्ञानी को यह बात समझाते हैं। वह जीव अज्ञानी होने पर भी आत्मा का स्वरूप समझने का कामी है—जिज्ञासु है और विनयपूर्वक यह बात सुनने के लिये खड़ा है, इसलिये वह आत्मा को समझने की पात्रतावाला है, इसलिये आचार्यदेव जिसप्रकार समझायेंगे उसीप्रकार वह समझ जायेगा ।

× × ×

[३]

भाई रे ! अब तू सावधान हो, और अपने चैतन्यस्वरूप को सम्हाल। अभीतक तो अज्ञान के कारण जड़-चेतन की एकता मानकर तूने भव-भ्रमण किया, किन्तु तुझे जड़ से भिन्न तेरा शुद्ध चैतन्यस्वरूप बतलाते हैं, उसे जानकर तू सावधान हो। सावधान होकर ऐसा जान कि अहो ! मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, पूर्वकाल में भी मैं चैतन्यस्वरूप था। जड़ शरीर मुझसे सदैव अत्यन्त भिन्न है; मेरा चैतन्यस्वरूप जड़ से भिन्न रहा है,—ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप को जानकर तू प्रसन्न हो...आनंद में आ। अपने चैतन्यस्वरूप को पहिचानते ही तुझे अन्तर में अपूर्व प्रसन्नता और आनंद होगा। 'मैं चैतन्य परमेश्वर हूं, जैसे परमात्मा हैं वैसा ही मेरा स्वरूप है, तेरा स्वरूप कुछ बिगड़ा नहीं है'—ऐसा समझकर अपना चित्त उज्ज्वल कर....हृदय को उज्ज्वल कर....प्रसन्न हो और आह्लाद कर कि अहो ! ऐसा मेरा आनन्दघन चैतन्यभावस्वरूप ! भाई ! ऐसा अनुभव करने से तेरा अनादि का मिथ्यात्व दूर हो जायेगा और भवभ्रमण का अन्त आ जायेगा।

× × ×

[४]

आत्मा नित्य चैतन्यस्वरूप है और रागादि भाव तो अनित्य बन्धस्वरूप हैं। हे भाई ! तेरे आत्मा को बन्धन की उपाधि की अति निकटता होने पर भी बंध के साथ एकमेकता नहीं है; रागादि भाव तेरे चैतन्यस्वरूप भावरूप नहीं हो गये हैं। ज्ञान को और राग को ज्ञेय-ज्ञायकपना है, और एकक्षेत्रावगाहपना है, किन्तु उनके एकत्व नहीं है; ज्ञान और राग का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। ऐसा होने पर भी जो जीव ज्ञान और राग को एकमेकरूप मान रहा है उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे दुरात्मा ! हाथी इत्यादि पशु जैसे स्वभाव को तू छोड़-छोड़ ! जिसप्रकार हाथी लड्डू और घास के स्वाद का विवेक किये बिना उन दोनों को एकमेक करके खाता है, उसीप्रकार तू भी जड़ और चेतन का विवेक किए बिना दोनों का एकरूप अनुभव करता है, —उसे अब तू छोड़, और, परम

विवेक से भेदज्ञान करके अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को जड़ से और विकार से अत्यन्त भिन्न जान। यहाँ 'हे दुरात्मा!' —ऐसा कहा उसका अर्थ यह है कि: अरे भाई! चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर जड़ स्वरूप को अपना माननेरूप जो मिथ्यात्व भाव है वह दुरात्मपना है; उसे तू छोड़, और 'मैं चैतन्यस्वरूप सदैव उपयोगमय आत्मा हूँ—ऐसा समझकर तू पवित्रात्मा बन।—इसप्रकार दुरात्मपना छोड़कर पवित्रात्मपना प्रगट करने की प्रेरणा की है।

× × ×

[५]

श्री सर्वज्ञ भगवान की साक्षी देकर आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे जीव! सर्वज्ञभगवान ने तो जीव को नित्य उपयोग स्वभावरूप देखा है। सुनने वाला शिष्य व्यवहार से तो सर्वज्ञभगवान को मानने वाला है इसलिये आचार्यदेव सर्वज्ञ की साक्षी देकर समझाते हैं कि—हे भाई! अपने सर्वज्ञभगवान समस्त विश्व को प्रत्यक्ष 'जाननेवाले' हैं, उन सर्वज्ञभगवान के ज्ञान से तो ऐसा प्रसिद्ध किया गया है कि जीवद्रव्य सदैव उपयोगमय है, और शरीरादिक तो अचेतन हैं। यदि तू ऐसा कहता है कि—'शरीरादि पुद्गल द्रव्य मेरे हैं'—तो हे भाई! सर्वज्ञभगवान ने सदैव चेतनरूप देखा है ऐसा जीवद्रव्य अचेतन कहाँ से गया कि जिससे तू पुद्गल द्रव्य को अपना मानता है। जिसप्रकार प्रकाश और अंधकार में एकता नहीं है किन्तु अत्यन्त भिन्नता है, उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा और जड़ में एकता नहीं है किन्तु अत्यन्त भिन्नत्व है। जिसप्रकार जड़ के साथ एकता नहीं है उसीप्रकार रागादिक के साथ भी चैतन्यस्वरूप की एकता नहीं है, चैतन्यस्वरूप राग से भी भिन्न है, चैतन्य और राग की एकमेकता नहीं हुई है। इसलिये हे शिष्य! तू अपने आत्मा को शरीर और राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप जान, चैतन्यस्वरूप आत्मा एक ही तेरा स्वद्रव्य है—ऐसा तू अनुभव कर।

जिनका ज्ञान सर्वप्रकार से शुद्ध है, ऐसे सर्वज्ञभगवान ने अपने दिव्यज्ञान में ऐसा देखा है कि आत्मा सदैव उपयोगस्वरूप है। जो

जीव इससे विपरीत मानता हो उसने वास्तव में सर्वज्ञभगवान को नहीं पहिचाना है। यदि सर्वज्ञभगवान के ज्ञान का निर्णय करे तो, आत्मा सदैव उपयोगस्वरूप है—ऐसा निर्णय भी होता ही रहे। सर्वज्ञभगवान के आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है और राग किंचित् भी नहीं है—इसलिये उसका निर्णय करने से ज्ञान और राग की भिन्नता का निर्णय होता ही जाता है। इसप्रकार हे भाई! तेरे चैतन्यस्वरूप आत्मा को राग से भी भिन्नता है तब फिर शरीरादि मूर्त द्रव्यों के साथ एकता तो कहाँ से हो सकती है? इसलिये उस एकत्व की भ्रमणा छोड़कर 'मैं चैतन्य ही हूँ'—ऐसा तू अनुभव कर।

× × ×

[६]

जिस प्रकार पिता दो हिस्से करके पुत्र को समझाता है कि देख भाई! यह तेरा हिस्सा; अपना भाग लेकर तू संतुष्ट हो; उसी प्रकार यहां जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य दो हिस्से करके आचार्य देव समझाते हैं कि देख भाई! चैतन्यद्रव्य नित्य उपयोग-स्वभावरूप है वह तेरा हिस्सा है, और 'नित्य उपयोगस्वभाव' के अतिरिक्त अन्य पुद्गलद्रव्य का हिस्सा है; हे जीव अब तू अपना हिस्सा ले ले और सन्तुष्ट हो। उपयोग स्वभाव—ज्ञायकभाव के अतिरिक्त अन्य सबमें से आत्मबुद्धि छोड़कर इस एक ज्ञायकभाव का ही अपने स्वभाव रूप अनुभव कर... उसीमें एकाग्र हो।

[७]

जिस प्रकार नमक में से पानी हो जाता है और पानी से नमक हो जाता है, उसी प्रकार जीव कभी पुद्गल रूप नहीं होता और पुद्गल कभी जीव रूप नहीं होता। इसलिये नमक के पानी की भांति जीव-अजीव की एकता नहीं है, किन्तु प्रकाश और अन्धकार की भांति जीव-अजीव की भिन्नता है। जीव तो चैतन्य प्रकाशमय है और पुद्गल तो जड़—अंध है, उनके अत्यन्त भिन्नता है। यहां "नमक का पानी" —ऐसा दृष्टान्त देकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! जिस प्रकार नमक गल कर पानी रूप हो जाता है उसी प्रकार तेरी परिणति अजीव

को अपना मानकर उस ओर उन्मुख होने पर भी उस अजीव के साथ तो एकाकार —एकमेक नहीं हो सकती, इसलिये उस अजीव से अपनी परिणति को अन्तर में उपयोगस्वरूप जीव द्रव्य की ओर उन्मुख करे तो वहां वह एकाकार होती है; इसलिये वही तेरा स्वरूप है—ऐसा तू जान। तेरी परिणति पर के साथ तो एकरूप नहीं हो सकती, तेरे उपयोगस्वरूप जीव द्रव्य में ही वह एकाकार होती है, इसलिये 'यह उपयोग स्वरूप जीव द्रव्य ही मैं हूँ'—इस प्रकार एक उपयोग स्वरूप जीव द्रव्य का ही स्वद्रव्य रूप अनुभव करके उसी में अपनी परिणति को एकाकार कर और परद्रव्य को अपना मानने रूप मोह को अब तो तू छोड़ रे छोड़!

[८]

देह सो मैं हूँ, देह की क्रिया मेरी है,—ऐसा जो अज्ञानी मानता है उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़! जीव तो उपयोग स्वरूप है और शरीरादि पुद्गल तो जड़ स्वरूप हैं; उपयोग स्वरूप जीव और जड़ स्वरूप पुद्गल का एकत्व कभी नहीं हो सकता। तू कहता है कि चैतन्यमय जीव 'मैं' हूँ और शरीरादि अजीव भी 'मैं' हूँ—इस प्रकार चैतन्य और जड़ दोनों द्रव्य रूप से तू अपने को मानता है। किन्तु भाई रे! तू एक, जीव और अजीव-एसे दोनों द्रव्यों में किसप्रकार रह सकता है? तू तो सदैव अपने उपयोग स्वरूप में विद्यमान है; पुद्गल तो जड़ है, उसमें तू विद्यमान नहीं है। इसलिये अकेले चैतन्यमय स्वद्रव्य का तू अपने रूप अनुभव कर, उसीमें 'मैं' पने की दृढ़ प्रतीत कर और उससे भिन्न अन्य समस्त पदर्थों में से मैंपना छोड़ दे।

[९]

'अहो! मैं तो एक चैतन्यमय जीवतत्त्व, मैं अजीव में कैसे व्याप्त हो सकता हूँ? मैं तो अपने उपयोगस्वरूप में ही हूँ और पर तो पर में ही है, मैं कभी अपने उपयोगस्वरूप को छोड़कर पररूप हुआ ही नहीं हूँ,'—ऐसा श्री गुरु ने तुझे समझाया, इसलिये हे भव्य! 'मैं स्वयं अपने उपयोगस्वभाव में ही हूँ'—ऐसा जानकर, प्रसन्न होकर

सावधान हो, और अन्तर्मुख होकर ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप का अनुभवकर, उसके अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग कर, हमने तो तुझे तेरा चैतन्यस्वरूप देहादि सर्व से पृथक् और स्वयं तुझ से ही परिपूर्ण सदा उपयोगमय बतलाया, उसे जानकर तू प्रसन्न हो, सावधान हो और उसका अनुभव कर, उसमें तुझे आत्मा के अपूर्व आनन्द का स्वसंवेदन होगा।

× × ×

—इसप्रकार आचार्यदेव ने चैतन्यस्वरूप में प्रसन्नता सावधानी और अनुभव करने को कहा।

श्रीगुरु के ऐसे कल्याणकारी उपदेश को झेलनेवाला शिष्य विनय और बहुमानपूर्वक कहता है कि—हे प्रभो! अनादिकाल से मैं अपने भिन्न चैतन्यतत्त्व को भूलकर विकार में और पर में अपनत्व मानकर कर्तृत्व बुद्धिरूप मूर्खता से मैं आकुल-व्याकुल हो रहा था, अब आपने ही परम करुणा करके बारम्बार मुझे प्रतिबोध दिया और पर से अत्यन्त भिन्न चैतन्यस्वरूप से परिपूर्ण मेरा स्वद्रव्य समझाकर मुझे निहाल किया। अहो, ऐसा परम महिमावन्त, अपना स्वद्रव्य समझने से मुझे प्रसन्नता होती है, पर में एकाकार हुई एकत्वबुद्धि दूर होकर अब चैतन्यस्वरूप में सावधानी होती है, मेरा उत्साह निजस्वरूप की ओर ढलता है और मैं अपना नित्यउपयोगस्वरूप से अतिन्द्रियज्ञानानंदस्वभाव का अनुभव करता हूँ। अब रागादि भाव या परद्रव्य मेरे स्वरूप में एकमेकरूप से किंचित् भासित नहीं होते। अहो नाथ! आपने दिव्य मंत्रों द्वारा हमारी मोहमूर्च्छा दूर करके हमें सजीवन किया......

—इसप्रकार, समझनेवाला शिष्य अत्यन्त विनय और बहुमान पूर्वक श्रीगुरु के उपकार की घोषणा करता है।

× × ×

आचार्यदेव ने अनेकानेक प्रकार से जीव-अजीव का भिन्नत्व बतलाया, और अजीव से भिन्न शुद्ध-चैतन्यस्वरूप आत्मा की समझ दे कर, प्रसन्नतापूर्वक सावधानी से उसका अनुभव करने को कहा; कोई जीव इतने से भी जागृत न हो तो उसे अति उग्र प्रेरणा करके आचार्यदेव

२३ वें कलश में कहते हैं कि—अरे भाई! तू मरकर भी चैतन्य-मूर्ति आत्मा का अनुभव कर। आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई! शरीरादिक मूर्त द्रव्यों से भिन्न ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा का तू किसी भी प्रकार महाप्रयत्न करके अनुभव कर—जिससे परके साथ एकत्व का तेरा मोह छूट जाये।

[—आत्मा का अनुभव करने की प्रेरणा वाला इस २३वें कलश का प्रवचन अगले अंकों में पढ़ें। इसका शीर्षक होगा।—"आत्म-कल्याण की अद्भुत प्रेरणा" आत्म-कल्याण के लिये आतुर जिज्ञासुओं को वह लेख पढ़ने से ऐसा लगेगा कि अहो! आत्मकल्याण की ऐसी वात्सल्यपूर्ण अद्भुत प्रेरणा महा उपकारी संतों के अतिरिक्त दूसरा कौन दे सकता है?]

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है?

प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उसपर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचन का सार

लेखांक १६] [अंक १११ से आगे

★ 'प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है?'—ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है।

★ उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंतनयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।

★ उस आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है, उसमें से २५ नयों पर के प्रवचन अभीतक आ गये हैं; उसके आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।

× × × ×

(२६) नियतिनय से आत्मा का वर्णन

अनंतधर्मवाला चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रमाणज्ञान से ज्ञात होता है; उसका २५ नयों से अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अब, नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और दैव—इन पाँच बोलों का वर्णन करते हैं; उनमें प्रथम नियतिनय से आत्मा कैसा है वह कहते हैं।

आत्मद्रव्य नियतनय से नियत-स्वभावरूप भासित होता है; जिसप्रकार उष्णता वह अग्नि का नियत स्वभाव है उसीप्रकार नियतिनय से आत्मा भी अपने नियतस्वभाववाला भासित होता है। आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव को यहाँ नियतस्वभाव कहा है; उस स्वभाव को देखनेवाले नियतनय से जब देखो तब आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव रूप से एकरूप भासित होता है। पर्याय में कभी तीव्रराग, कभी मंदराग और कभी रागरहितपना, और कभी राग बदलकर द्वेष, कभी मतिज्ञान और कभी केवलज्ञान, एक समय मनुष्य और दूसरे समय देव—इसतरह अनेक प्रकार होते हैं;—उनका वर्णन आगे आनेवाले बोल में आत्मा के अनियत स्वभावरूप से

करेंगे। यहाँ आत्मा के नियत स्वभाव की बात है। जैसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानंद स्वभाव है वैसे ही नियतस्वभावरूप से आत्मा सदैव प्रतिभासित होता है; पर्याय अल्प हो या अधिक हो, विकारी हो या निर्मल हो, परन्तु नियतस्वभाव से तो आत्मा सदैव एकरूप है। ऐसे नियत स्वभाव को जो देखता है उसे अकेली पर्यायबुद्धि नहीं रहेगी किन्तु द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होगा। पर्यायबुद्धिवाला जीव आत्मा को एकरूप नियतस्वभाव से नहीं देख सकता और न उसके नियतनय होता है।

यहाँ द्रव्य के त्रिकाली स्वभाव को ही नियत कहा है; जिसप्रकार उष्णता वह अग्नि का नियतस्वभाव है, अग्नि सदैव उष्ण ही होती है; ऐसा कभी नहीं हो सकता कि अग्नि उष्णतारहित हो। उसीप्रकार चैतन्यपना आत्मा का नियत स्वभाव है; उस स्वभाव से जब देखो तब आत्मा एकरूप चैतन्य स्वरूपमय ज्ञात होता है। यद्यपि पर्याय में भी नियतपना अर्थात् क्रमबद्धपना है; जिस समय जिस पर्याय का होना नियत है वही होती है; उसके क्रम में परिवर्तन नहीं होता—ऐसा पर्याय का नियत स्वभाव है; परन्तु इससमय यहाँ उसकी बात नहीं है; यहाँ तो निमित्त की अपेक्षारहित आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वाभाविक धर्म है उसका नाम नियतस्वभाव है और वह नियतनय का विषय है।

जिसप्रकार अग्नि का उष्णस्वभाव है वह नियत ही है,—निश्चित् ही है; अग्नि सदैव उष्ण ही होती है। उसीप्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव नियत—निश्चित्—सदैव एकरूप है; नियतस्वभाव से आत्मा अनादि-अनंत एकरूप नियत परम पारिणामिक स्वभावरूप ही भासित होता है; बंध—मोक्ष के भेद भी उसमें दिखाई नहीं देते। बंध और मोक्ष की पर्यायें नियत अर्थात् स्थायी एकरूप नहीं हैं परन्तु अनियत हैं। उदय—उपशम—क्षयोपशम या क्षायिक—यह चारों भाव भी अनियत हैं; परमपारिणामिक स्वभाव ही नियत है। आत्मा का सहज निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव ही नियत है। नियतनय आत्मा को सदैव ज्ञायक स्वभावरूप ही देखता है। आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है वह नियत—निश्चित् हुआ अनादि-अनंत स्वभाव है; उसमें कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जाननेवाला जीव पर्याय के अनेक प्रकारों को भी जानता है, तथापि उसे पर्यायबुद्धि नहीं होती। आत्मा के नियत एकरूप ध्रुव स्वभाव को जानने से उसी का आश्रय होता है; इसके अतिरिक्त किसी निमित्त, विकल्प या पर्याय के आश्रय की मान्यता नहीं रहती। इसप्रकार प्रत्येक नय से

शुद्ध आत्मा की ही साधना होती है। जो जीव अंतरंग में शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को नहीं देखता उसके एक भी सच्चा नय नहीं होता।

जैसे कोई कहे कि—ऐसा नियम बनाओ जिसमें कभी परिवर्तन न हो। उसीप्रकार यह नियतनय आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम बाँधता है कि जो कभी पलट न सके. आत्मा का नियम क्या है?—कि अपने शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव से त्रिकाल रहना ही उसका नियम है; अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को वह कभी नहीं छोड़ता। जो आत्म-स्वभाव के ऐसे नियम को जानता है वह नियम से मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, यह आत्मस्वभाव के गीत! संतों के अंतर् अनुभव में से यह झन्कार उठी है कि अरे जीव! तूने अपने नियत परमानन्द स्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है; तेरा सहज ज्ञान और आनंद स्वभाव तुझमें नियत है; तू सदैव अनाकुल शांत रस का कुण्ड है; यदि अग्नि कभी अपनी उष्णता को छोड़ दे तो भगवान आत्मा अपने पवित्र चैतन्य स्वभाव को छोड़े! परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट होने के सामर्थ्य से सदैव परिपूर्ण ऐसा तेरा नियत स्वभाव है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म प्रगट होता है; इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य से धर्म नहीं आता। एक बार अंतर में अपने ऐसे नियत स्वभाव को देख!

नियतनय से देखने पर पवित्रता का पिण्ड आत्मा स्वयं चैतन्यस्वभाव से नियत ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है। यह धर्म आत्मा को सदैव अपने परम शुद्ध अमृत रस में डुबा रखता है; अपने शांत उपशम रस में स्थिर-नियत रखता है। नरक में या स्वर्ग में; अज्ञान दशा के समय या साधक दशा के समय, निगोद में था तब या सिद्धदशा में होगा तब—कभी भी वह अपने स्वभाव को बदलकर अन्यरूप नहीं हो जाता—ऐसा आत्मा का नियत-स्वभाव है। जो ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसके पर्याय में भी ऐसा ही नियत होता है कि अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करे।

एक ओर देखने से अनुकूलता में राग और फिर वह बदलकर प्रतिकूलता में द्वेष—इसप्रकार आत्मा अनियत-स्वभाव से ख्याल में आता है; और दूसरी ओर से देखने पर तीनलोक की चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पड़े तथापि आत्मा कभी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियत स्वभाव है।—इस-प्रकार दोनों स्वभावों से जो आत्मा को जानता है उसे ध्रुव एकरूप स्वभाव की महिमा आकर उसमें अंतरोन्मुखता हुए बिना नहीं रहेगी।

जिसप्रकार, अग्नि में उष्णता न हो ऐसा कभी नहीं हो सकता; उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानानंद स्वभाव अनादि अनंत एकरूप है उसका नाम नियतस्वभाव है। अग्नि का स्वभाव ऐसा नियत है कि उसमें उष्णता होती ही है; उसीप्रकार आत्मा में ऐसा नियत धर्म है कि अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव से वह कभी पृथक् नहीं होता। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव अनंत सहजानंद की मूर्ति है; उस स्वभाव को देखने वाले ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते कि, किन्हीं अनुकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नवीन उत्पन्न होता है अथवा प्रतिकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नष्ट हो जाता है या उसमें परिवर्तन हो जाता है। इसलिये उन ज्ञानियों को चाहे जैसे अनुकूल–प्रतिकूल प्रसंगों में भी अनंतानुबंधी राग-द्वेष होते ही नहीं। वे जानते हैं कि हमारा आत्मा त्रिकाल चैतन्य ज्ञायकरूप से नियत है; हमें अपने ज्ञायकस्वभाव से छुड़ाने की किन्हीं संयोगों की तो शक्ति नहीं है, और पर्याय के क्षणिक विकार में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि हमें अपने स्वभाव से पृथक् कर दे। जिसप्रकार लोग नियम लेते हैं कि हम अमुक वस्तु नहीं खाएँगे; उसीप्रकार आत्मा के नियतस्वभाव का ऐसा नियम है कि तीनकाल में कभी भी अपने चैतन्यस्वभाव को छोड़कर विभावरूप नहीं होता। जो घड़ी-घड़ी में बदले उसे नियम नहीं कहा जाता।

देखो, यह काहे की बात चल रही है? यह भगवान आत्मा के गीत गाए जा रहे हैं; आत्मा में जो धर्म हैं उनकी यह महिमा गायी जा रही है। अज्ञानी को अनादिकाल से अपने स्वभाव की महिमा नहीं रुचती और वह पर की महिमा करता है। जहाँ उच्चप्रकार के हीरे-जवाहिरात या आभूषणों की महिमा सुनता है वहाँ उनकी महिमा आ जाती है; परन्तु आत्मा स्वयं तीनलोक का प्रकाशक चैतन्य हीरा है उसके स्वभाव की महिमा गायी जा रही है, उसे सुनने में अज्ञानी को रुचि या उत्साह नहीं आता। यहाँ तो जिसे आत्मा का स्वभाव समझने की जिज्ञासा जागृत हुई है उसे आचार्यदेव समझाते हैं। आत्मा का शुद्धस्वभाव त्रिकाल नियमित है; उसी के आधार से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है; इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य में से, विकार में से या क्षणिक पर्याय में से शुद्ध पर्याय नहीं आती। भगवान आत्मा ने अपनी पवित्रता के पिण्ड को कभी छोड़ा नहीं है। पर्याय में जो शुद्धता प्रगट होती है वह तो पहले नहीं थी और नवीन प्रगट हुई, इसलिये वह अनियत है; और शुद्ध स्वभाव ध्रुवरूप से सदैव ऐसे का ऐसा ही है;

इसलिए वह नियत है। पर्याय जिस-समय जो होना हो वही होती है;—इसप्रकार से पर्याय का जो नियत है उसकी इस नियतनय में बात नहीं है परन्तु यहाँ तो द्रव्य के नियतस्वभाव की बात है; क्योंकि नियत के समक्ष फिर अनियतस्वभाव का भी कथन करेंगे; उसमें पर्याय की बात लेंगे। पर्यायों के नियतपने की (क्रमबद्ध पर्याय की) जो बात है उसमें नियत और अनियत ऐसे दो प्रकार नहीं हैं; उसमें तो नियत का एक ही प्रकार है कि समस्त पर्यायें नियत ही हैं—कोई भी पर्याय अनियत नहीं है। परन्तु इससमय तो आत्म-वस्तु में नियतस्वभाव और अनियतस्व-भाव—ऐसे दोनों धर्म उतारना है; इसलिये यहाँ नियत अर्थात् द्रव्य का एकरूप स्वभाव; पर्याय का क्रम नियत है परन्तु पर्यायस्वभाव त्रिकाल एक-समान रहनेवाला नहीं है इसलिये उसे यहाँ अनियत स्वभाव कहा है। जब पर्याय का नियतपना (—क्रमबद्धपना) कहना हो उससमय तो विकार भी नियत कहा जाता है; ज्ञान नियत है, ज्ञेय नियत हैं, विकार नियत है, संयोग और निमित्त भी नियत हैं, जो हों वही होते हैं, अन्य नहीं होते, जिससमय जो होना है वह सब नियत ही है। ऐसे नियत के निर्णय में भी ज्ञानस्वभाव की ही दृष्टि हो जाती है, और वस्तु का नियत-अनियत स्वभाव कहा उसके निर्णय में भी ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हो जाती है। द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर राग को अनियत धर्मरूप से जानता है, इसलिये उस राग में स्वभावबुद्धि नहीं होती; इसप्रकार आत्मा के नियत स्वभाव को जानने पर राग से भेदज्ञान हो जाता है।

राग होता है वह आत्मा का अनि-यतस्वभाव है—ऐसा जाने, अथवा राग को उससमय की पर्याय के नियतरूप से जाने, तो भी उन दोनों में, "आत्मा का नियतस्वभाव उस राग से भिन्न है" ऐसा भेदज्ञान होकर स्वभावदृष्टि होती है।

जो जीव त्रिकाली द्रव्य के नियत-स्वभाव को जाने वही जीव त्रिकाल की पर्यायों के नियतपने को यथार्थ जानता है, और क्षणिक भावों के अनियतपने को भी वही जानता है। पर्याय में राग हुआ वह आत्मा का अपना अनियत-धर्म है, इसलिये कर्म के उदय के कारण राग हुआ यह बात नहीं रहती। आत्मा का स्थायी स्वभाव वह नियत है और क्षणिक भाव वह अनियत है। पूर्व अनादिकाल में आत्मा नरक-निगोद आदि चाहे जिस पर्याय में रहा, तथापि आत्मा के नियतधर्म को उसने अपने शुद्धस्वभाव से एकरूप बना रखा है; जहाँ-जहाँ परिभ्रमण किया वहाँ सर्वत्र

अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को अपने साथ रखकर भटका है। यदि ऐसे अंतर्‌स्वभाव का ज्ञान करे तो वर्तमान में अपूर्व धर्म होता है।

नियतनय का विषय त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्य है और अनियतनय का विषय पर्याय है। "अनियत" का अर्थ अक्रमबद्ध—अनिश्चित् अथवा उल्टी-सीधी पर्याय—ऐसा नहीं समझना; परन्तु पर्याय वह आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव नहीं है किन्तु वह पलट जाता है उस अपेक्षा से उसे अनियत धर्म समझना। पर्याय तो त्रिकाल के प्रत्येक समय की जैसी है वैसी नियत है; उसमें कुछ उल्टा-सीधा नहीं हो सकता। बस ! तू अपने ज्ञान की प्रतीति करके उसका ज्ञाता रह जा। शरीरादि मेरे हैं—यह बात भूल जा, और राग को बदलूं—यह बात भी भूल जा; शरीरादि और रागादि—सबको जाननेवाला तेरा ज्ञानस्वभाव है उसे सँभाल; वह तेरा नियतस्वभाव है। अपने नियतस्वभाव को तूने कभी छोड़ा नहीं है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है—इसप्रकार द्रव्य के नियतस्वभाव का निर्णय करे तो वह स्वभावदृष्टि से रागादि का ज्ञाता हो गया।

द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर, राग को पर्याय के नियत रूप से जाने तो उसमें भी राग का ज्ञाता हो गया।

राग आत्मा का अनियत स्वभाव है अर्थात् वह आत्मा का त्रिकाल स्थायी स्वभाव नहीं है—ऐसा जाने तो उसमें भी राग और स्वभाव का भेदज्ञान होकर राग का ज्ञाता रह गया।

—इसप्रकार चाहे जिस रीति से समझे परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करना ही आता है और वही धर्म है।

"नियतवाद" का बहाना लेकर अज्ञानी लोग अनेक प्रकार की अंधाधुंधी चलाते हैं। सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है उसीप्रकार नियम से होता है—इसप्रकार सर्वज्ञ की श्रद्धापूर्वक के सम्यक् नियतवाद को भी अज्ञानी गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं; परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव के निर्णय का महान पुरुषार्थ आता है उसकी उन्हें खबर नहीं है। तथा दूसरे स्वच्छन्दी जीव, सर्वज्ञ के निर्णय के पुरुषार्थ को स्वीकार किए बिना अकेला नियत का नाम लेकर पुरुषार्थ को उड़ाते हैं उन्हें भी नियतस्वभाव की खबर नहीं है।

गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है। वह जीव तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं करता, सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता; परन्तु विकार का और पर का स्वामी होकर कहता है कि "जो नियत

होगा वह होगा।" परन्तु "जो नियत होगा वह होगा"—ऐसा जाना किसने उसका निर्णय कहाँ किया?—अपने ज्ञान में। तो तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति है? ज्ञान की बड़ाई और महिमा को जानकर, उसके सन्मुख होकर, ज्ञेयों के नियत को जो जानता है वह तो मोक्ष-मार्गी साधक होगया है उसकी गोम्मटसार में बात नहीं है, परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना और सर्वज्ञ को श्रद्धा किए बिना मात्र परसन्मुख देखकर नियत मानता है वह मिथ्या नियतवादी है और उसीको गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया कि अहो! सब नियत है; जिस समय जैसा होना है वैसा ही क्रमबद्ध होता है; मैं तो स्व-पर प्रकाशी ज्ञाता हूँ। ऐसा निर्णय वह सम्यग्दृष्टि का सम्यक् नियतवाद है। इस नियत में द्रव्य-पर्याय सबका समावेश हो जाता है; अज्ञानी का नियतवाद ऐसा नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी रुचि का सम्यक्-पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभ-अशुभ भावों की रुचि छोड़ दी है उसीने वास्तव में सम्यक् नियतवाद को माना है; उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ है, मोक्ष का मार्ग है। उसका वर्णन स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१–३२२ वीं गाथा में है; सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कैसा चिंतवन करता है वह उसमें बतलाया है।

यहाँ प्रवचनसार में जो नियतधर्म कहा है वह तीसरी बात है। यहाँ तो आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप शुद्ध निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है उसका नाम नियत धर्म है। स्वभाववान कभी अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियतधर्म है। यह नियतधर्म तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी जीवों में है, परन्तु ज्ञानी ही उसे नियतनय द्वारा जानते हैं। नियतधर्म सभी आत्माओं में है, परन्तु नियतनय सभी आत्माओं के नहीं होता; जो ज्ञानी आत्मा के नियतस्वभाव को जाने उसीके नियतनय होता है।

इस प्रकार नियतनय के तीन प्रकार हुए:—

(१) गोम्मटसार में कहा हुआ ज्ञान की प्रतीतिरहित गृहीतमिथ्यादृष्टि का नियतवाद।

(२) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा हुआ ज्ञानी का नियतवाद; उसमें सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव की भावनापूर्वक सर्वज्ञदेव के देखे हुए वस्तुस्वरूप का चिंतन करता हुआ, जैसा होता है वैसा पर्याय के नियत को जानता है; उसमें विषमभाव नहीं होने देता।

इसलिये यह ज्ञानी का नियतवाद तो वीतरागता और सर्वज्ञता का कारण है।

(३) इस प्रवचनसार में कहा हुआ नियतस्वभाव; नियतनय से सभी जीव त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभाव से नियत हैं।

उपरोक्त तीनप्रकारों में से गोम्मटसार में जिस नियतवाद को गृहीतमिथ्यात्व में गिना है वह अज्ञानी का है; उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित नियतवाद तो सर्वज्ञ की श्रद्धा सहित और ज्ञातादृष्टा स्वभाव की सन्मुखता के पुरुषार्थ सहित ज्ञानी का सम्यक् नियतवाद है। और प्रवचनसार में जिस नियतवाद की बात है वह समस्त जीवों का त्रिकाल एकरूप शुद्ध चिदानंदस्वभाव है उसकी बात है। आत्मा अपने असली चैतन्यस्वभाव को कभी नहीं छोड़ता ऐसा उसका नियतस्वभाव है। जो जीव ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसे विकार पर बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि विकार आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है इसलिये इस नियत में उसका स्वीकार नहीं है। इस तीसरे बोल की अपेक्षा से तो विकार आत्मा का "अनियतभाव" है, और दूसरे बोल की अपेक्षा से तो विकार भाव भी "नियत" है, क्योंकि उससमय उसी पर्याय का क्रम नियत है।

विकार होता है वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, इसलिये अनियतरूप से उसका वर्णन करेंगे; परन्तु उस अनियत का अर्थ ऐसा नहीं है कि उस समय की उस पर्याय के क्रम में भंग पड़ा! आत्मा को पर्याय में कभी विकार होता है और कभी नहीं होता; और न वह सदैव एक-सा रहता है—इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु पर्याय के क्रम की अपेक्षा से तो वह भी नियत ही है। वस्तुस्वभाव त्रिकाल व्यवस्थित परिणमित हो रहा है; उसकी तीनोंकाल की पर्यायों में इतनी नियमितता है कि उसके क्रम का भंग करने में अनंत तीर्थंकर भी समर्थ नहीं है। पर्यायों के ऐसे व्यवस्थितपने का निर्णय करने वाला जीव स्वयं त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख देखकर वह निर्णय करता है इसलिये वह स्वयं स्वभावोन्मुख और मोक्षपथ में बैठा हुआ साधक हो गया है। क्रमरूप पर्यायें एकसाथ नहीं होती इसलिये उस क्रम की प्रतीति करने वाले की दृष्टि अक्रमरूप द्रव्य स्वभाव पर होती है, और उसी में मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ आ जाता है।

धर्मी जीव नियतनय से ऐसा जानता है कि मैंने अपने स्वभाव को सदैव ऐसे का ऐसा नियत बना रखा है; मेरे स्वभाव में कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं;

विकार के समय मेरे स्वभाव में से कुछ कम नहीं हो जाता और न केवलज्ञान होने से कुछ बढ़ जाता है; पर्याय में विकार हो या निर्विकारीपना हो, परन्तु अपने नियत स्वभाव मे तो सदैव एकरूप हूँ। इसप्रकार द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा का नियत धर्म है परन्तु उसी के साथ पर्याय अपेक्षा से अनियत धर्म भी विद्यमान है उसे भी धर्मी जानता है; उसका वर्णन अगले बोल मे करेंगे।

❀ ❀ ❀

अग्नि कभी ठण्डी हो और कभी गर्म हो—ऐसे दो प्रकार उसमें नहीं हैं; अग्नि गर्म ही होती है—ऐसा एक नियत प्रकार है। उसीप्रकार नियतनय से आत्मा में भी ऐसा नियत स्वभाव है कि वह सदैव एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही रहता है। जिसप्रकार अग्नि कभी अपनी उष्णता से पृथक् नहीं होती ऐसा उसके स्वभाव का नियम है; उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम है कि वह अपने शुद्ध चैतन्यत्व से कभी पृथक् नहीं होता।

यहाँ त्रिकाली शुद्ध स्वभाव के नियम को नियत कहा है। गोम्मटसार का नियतवादी तो ज्ञान स्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ से रहित है इसलिये वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। और द्वादशानुप्रेक्षा में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थसहित सम्यग्दृष्टि के सम्यक् नियतवाद का वर्णन है। जिस पदार्थ की जिस समय, जिस प्रकार जिस अवस्था का होना सर्वज्ञदेव के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है उस पदार्थ की उस समय उसीप्रकार वैसी ही अवस्था नियम से होती है; कोई इन्द्र नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसमे फेरफार नहीं कर सकते—ऐसा वस्तुस्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टि को साथ में ऐसी भी प्रतीति है कि मैं ज्ञाता हूं। इसलिये पर से उदासीन होकर वह उसका ज्ञाता रहा, और अपनी पर्याय का आधार द्रव्य है उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुआ; द्रव्यदृष्टि से उसे क्रमशः पर्याय की शुद्धता होने लगती है।—ऐसा वह सम्यक्नियतवाद है।

देखो, गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा, और यहाँ सम्यग्दृष्टि के नियतवाद को यथार्थ कहा। कहाँ कौन-सी अपेक्षा है वह गुरुगम से समझना चाहिए।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे तहां समजवुं तेह,
त्यां त्यां ते ते आचरे आत्मार्थी जन एह।

कुछ लोग तो 'नियत'—ऐसा शब्द सुनकर ही भड़क उठते हैं; परन्तु भाई! तू जरा समझ तो कि ज्ञानी क्या कहते हैं? 'क्रमबद्ध जैसा होना नियत है वैसा ही होता है'—ऐसा जानने का बीड़ा किसने उठाया? जिस ज्ञान ने वह बीड़ा उठाया है वह अपने

ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बिना वह बीड़ा नहीं उठा सकता; क्रमबद्ध जैसा होना नियत है वैसा ही होता है—ऐसा बीड़ा उठानेवाले ज्ञान में ज्ञान-स्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ—इत्यादि सभी समवाय आ जाते हैं।

(१) यहाँ कहा हुआ नियत धर्म सभी जीवों में है।

(२) द्वादशानुप्रेक्षा में कथित सम्यक् नियतवाद सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

(३) गोम्मटसार में कथित मिथ्या नियतवाद गृहीत मिथ्यादृष्टि के ही होता है।

—इसलिये नियत का जहाँ जो प्रकार हो वह समझना चाहिए; मात्र 'नियत' शब्द सुनकर भड़कना नहीं चाहिए।

'नियत स्वभाव' भी आत्मा का एक धर्म है; और उस धर्म से आत्मा को जानने पर उसके दूसरे अनंत धर्मों की स्वीकृति भी साथ ही आ जाती है। आत्मा में अनंत धर्म एकसाथ ही हैं; उनमें से एक धर्म की यथार्थ प्रतीति करने से दूसरे समस्त धर्मों की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है और प्रमाण ज्ञान होकर अनंत धर्मों के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है।

पाँच समवाय कारणों में जो भवितव्य अथवा नियति आता है वह सम्यक् नियतवाद है; उसके साथ दूसरे चारों समवाय आ जाते हैं। न होनेवाला हो जाये—ऐसा कभी होता ही नहीं; जो होता है वह सब नियत ही है। परन्तु उस नियत के निर्णय में ज्ञाता स्वभाव का 'पुरुषार्थ' है, उस समय जो निर्मल स्वपर्याय प्रगट हुई वही उस समय का 'काल' है; स्वभाव में जो पर्याय थी वही प्रगट हुई है, इसलिये उसमें 'स्वभाव' भी आ गया; और जितने अंश में निर्मल पर्याय प्रगट हुई उतने अंश में कर्म का अभाव है—वह 'निमित्त' है।—इसप्रकार एक समय में पाँचों बोल एकसाथ आ जाते हैं। उनमें नियत-अनियतरूप अनेकान्त उतारना हो तो जो भवितव्य है वह 'नियत' और नियत के अतिरिक्त अन्य चार बोल हैं वह 'अनियत'—इसप्रकार नियत-अनियतरूप अनेकान्त वह भगवान का मार्ग है। परन्तु उसमें 'अनियत' शब्द का अर्थ 'आगे-पीछे या अनिश्चित'—ऐसा नहीं समझना चाहिए; किन्तु आत्मा के नियत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का नाम 'अनियत' समझना।

सम्यक् नियत में तो विकारी-अविकारी और जड़ की समस्त पर्यायें आती हैं; क्योंकि समस्त पर्यायों का क्रम नियत ही है; और यहाँ कहे हुए निय-

तस्वभाव में तो अकेला ध्रुवस्वभाव ही आता है; उसमें पर्याय नहीं आती।

पर्याय के नियत का निर्णय भी द्रव्य के निर्णय बिना नहीं किया जा सकता, क्योंकि पर्यायें द्रव्य में से ही आती हैं। निश्चित् पर्याय का निर्णय करने में द्रव्यसन्मुखता का अपूर्व पुरुषार्थ है; वह निर्णय करनेवाले को पर्यायबुद्धि नहीं रहती। वर्तमान पर्याय की बुद्धि अंतर्मुख होकर द्रव्य में प्रविष्ट हो जाये तभी सम्यक् नियत का निर्णय होता है। पर्याय में समय-समय का विकार है वह मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है—इसप्रकार दोनों धर्मों से आत्मा को जाने तो अवस्था विकार की ओर से विमुख होकर चैतन्य स्वभाव की ओर उन्मुख हो जाती है और सम्यग्ज्ञान होता है।

द्रव्य का त्रिकाल नियत स्वभाव है उसकी दृष्टि करे, या पर्याय के नियत का यथार्थ निर्णय करे, अथवा नियत और पुरुषार्थ आदि पाँचों समवाय एकसाथ हैं उन्हें समझे, तो मिथ्याबुद्धि दूर होकर स्वभावोन्मुखता हो जाती है। जिसने नियति का यथार्थ निर्णय किया उसके आत्मा के ज्ञानस्वभाव का, केवली भगवान का और पुरुषार्थ का विश्वास भी साथ ही है। नियति का निर्णय कहो, स्वभाव का निर्णय कहो, केवलज्ञान का निर्णय कहो, पाँच समवाय का निर्णय कहो, सम्यक् पुरुषार्थ कहो—वह सब एकसाथ ही है।

नियत के साथ वाले दूसरे पुरुषार्थ आदि चार बोल हैं उन्हें नियत में नहीं लेते इसलिये उन्हें अनियत कहा जाता है। इसप्रकार नियत और अनियत—ऐसा वस्तुस्वभाव है। अथवा दूसरे प्रकार से—द्रव्य का एकरूप स्वभाव वह नियतधर्म है और पर्याय में विविधता होती है वह अनियतधर्म है; —इसप्रकार नियत और अनियत दोनों धर्म एकसाथ विद्यमान हैं। उनमें नियतिनय से आत्मा के द्रव्य स्वभाव का वर्णन किया; अब अनियतनय से पर्याय की बात करेंगे।

—यहाँ २६वें नियतिनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर.

प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी.

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

आश्विन : २४८० ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक छठवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

❀ सर्वज्ञदेव को नमस्कार हो।

❀ धर्म का मूल सर्वज्ञ है।

मोक्षमार्ग के मूल उपदेशक श्री सर्वज्ञदेव हैं; इसलिये जिसे धर्म करना हो उसे सर्वज्ञ को पहिचानना चाहिए।

❀ निश्चय से जैसा सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव है वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है; इसलिये सर्वज्ञ को पहिचानने से अपने आत्मा की पहिचान होती है; जो जीव सर्वज्ञ को न पहिचाने वह अपने आत्मा को भी नहीं पहिचानता।

❀ समस्त पदार्थों को जानने रूप सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है, किन्तु पर में कुछ फेरफार करे ऐसी शक्ति आत्मा में कभी नहीं है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया [११४] एक अंक चार आना

जैनस्वाध्याय मन्दिर ∴ सोनगढ़ सौराष्ट्र

प्रभावना

पूज्य गुरुदेव के प्रताप से सत्य की प्रभावना में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है, और आपश्री जिस अपूर्व तत्वज्ञान को समझा रहे हैं उसका श्रवण करने के लिये दूर दूर के अनेक जिज्ञासु भी उत्कंठित हो रहे हैं। इस वर्ष पर्यूषण पर्व के अवसर पर इन्दौर, खंडवा और उदयपुर से साग्रह आमंत्रण आने से शास्त्रवांचन के लिये उन स्थानों पर जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ के भाईयों को भेजा था।

श्रीमान् सर सेठ हुकमचंदजी इन्दौर ने अपने यहाँ के जिज्ञासु बंधुओं की इच्छा से तार दिया था। अतः भाईश्री खीमचंद जेठालाल सेठ वहाँ गये थे। भाईश्री अमृतलाल नरसीभाई सेठ तथा ब्र. भाईश्री चन्दुलालभाई को क्रमशः दिगम्बर जैन समाज खंडवा और उदयपुर के आमंत्रण से उन उन स्थानों पर भेजा था।

इन तीनों स्थानों के हजारों भाई बहिनों ने बहुत प्रेमपूर्वक धर्म-लाभ लिया और पूज्य गुरुदेव के द्वारा होनेवाली जैनशासन की प्रभावना देखकर प्रसन्न हुए थे। इन्दौर तथा उदयपुर में 'मानस्तम्भ-प्रतिष्ठा महोत्सव सोनगढ़' की फिल्म भी दिखाई थी जिसका हजारों मनुष्यों ने लाभ लिया था।

सत्य-श्रवण के प्रति उत्साह, उल्लास और उत्कंठा बताने के लिये इन तीनों नगरों के जिज्ञासु धन्यवाद के पात्र हैं।

आत्मधर्म

आश्विन : २४८० 卐 वर्ष दसवाँ 卐 अंक छठवाँ

अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति और सम्यग्दृष्टि की भवभ्रमण से छूटने की निःशंकता

[श्री मानस्तंभ–प्रतिष्ठा–महोत्सव के समय पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(सोनगढ : वीर सं. २४७१ चैत्र शुक्ला २)

सम्यग्दृष्टि शुद्धनयरूपी अतीन्द्रिय चक्षु द्वारा अपने आत्मा को शुद्धरूप से देखता है, अंतर में उसके ज्ञानचक्षु खुल गये हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तू अपनी शुद्धनयरूपी आँखों को खोल और अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञायकस्वरूप से देख।—ऐसी दृष्टि के बिना कभी भवभ्रमण का अंत नहीं आता...जो जीव ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसका परिणमन बदल जाता है, उसे अनन्तभव की शंका दूर हो जाती है और आत्मा में से सिद्धदशा की झन्कार उठती है। अन्तर्मुख होकर आत्मा के भूतार्थस्वभाव का अनुभव करना—वह अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति है।

● भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ●

ध[illegible]

है वह इस समयसार की गाथा में आचार्यदेवने बतलाया है। इस देह में [illegible] प्रत्येक आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है, उस आत्मा के अभेद [illegible]

के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है; वह सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है; वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त किसी निमित्त के, राग के, पर्याय के या व्यवहार के अवलम्बन से धर्म नहीं होता। सम्यग्दर्शन के काल में देव-गुरु—इत्यादि निमित्तों का संयोग हो, परन्तु उनके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन नहीं होता; उस समय जो शुभराग हो उसके अवलम्बन से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, पर्याय में ज्ञान का विकास हो उसके अवलम्बन से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; और अखण्ड आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों के भेद करके लक्ष में लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता—नित्य एकरूप अभेद आत्मा के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त, राग, पर्याय और गुणभेद—इस सारे व्यवहार को अभूतार्थ करके अर्थात् उसकी दृष्टि छोड़कर भूतार्थरूप अभेद आत्मा को दृष्टि में लेना वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन कहो...शांति कहो...हित कहो...श्रेय कहो...कल्याण कहो...धर्म कहो अथवा अनादिकालीन अज्ञान का नाश कहो—उसकी यही रीति है, इसके अतिरिक्त अन्य रीति से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

व्यवहार नय परमार्थ का प्रतिपादक है—ऐसा कहा था, परन्तु वह व्यवहार अंगीकार करने जैसा नहीं है, क्योंकि व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय आत्मा के परमार्थ स्वरूप को बतलाता है, इसलिये वह अंगीकार करने जैसा है; उसके अवलंबन से सम्यग्दर्शन होता है। यद्यपि शुद्धनय स्वयं तो पर्याय है, परन्तु यहाँ अध्यात्मदृष्टि में शुद्धनय और उसका विषय—दोनों अभेद हैं, इसलिये शुद्धनय को भी भूतार्थ कहा है। जो शुद्धनय से आत्मा के परमार्थ स्वरूप को देखते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं। शिष्य ने पूछा था कि व्यवहारनय क्यों अनुसरण करने योग्य नहीं है?—उसके उत्तर में आचार्यभगवान कहते हैं कि शुद्धनय द्वारा आत्मा के परमार्थ स्वभाव का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन होता है, व्यवहारनय का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिये व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

❀ सम्यग्दृष्टि के खुले हुए नेत्र ❀

अनादिकाल से आत्मा को भूलकर जिसे विकार और जड़कर्म की रुचि है, तथा कर्मोदय के कारण जीव को विकार होता है—ऐसा जो मानता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को आत्मा और कर्म के पृथक्त्व का विवेक नहीं है, इसलिये उसे तो कर्म के संयोगवाला अशुद्ध

आत्मा ही भासित होता है; परन्तु कर्म के संयोग से रहित आत्मा का शुद्ध स्वभाव भासित नहीं होता। पर्याय में विकार और कर्म का संयोग होने पर भी धर्मी जीव शुद्धनय द्वारा आत्मा और कर्म की भिन्नता का विवेक करके अंतर में अपना शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को ही अनुभवन करता है। इसप्रकार शुद्धनय द्वारा आत्मा के सम्यक् स्वभाव का अवलोकन करनेवाला सम्यग्दृष्टि है। अज्ञानी के शुद्धनयरूपी नेत्र ही नहीं खुले हैं, इसलिये वह विकार को देखता है, किन्तु शुद्ध आत्मा को नहीं देखता, शुद्ध आत्मा को देखने के लिये वह अंध है। सम्यकदृष्टि तो शुद्धनयरूपी अतीन्द्रिय चक्षु द्वारा अपने आत्मा को शुद्धरूप देखता है, अन्तर मे उसके ज्ञानचक्षु खुल गये हैं।

जिसप्रकार किसी की आँख में कंकरी घुस गई हो, उसे कुछ दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार व्यवहार के आश्रय से लाभ होता है—ऐसी विपरीत मान्यतारूपी कंकरी के कारण अज्ञानी जीव की दृष्टि विमोहित हो गई है, इसलिये वह आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं देख सकता।—ऐसे व्यवहार से विमोहित दृष्टिवाले जीव को आत्मा और कर्म के भिन्नत्व का विवेक नहीं है, जीव का स्वभाव क्या और विकार क्या—उसके भेद की उसे खबर नहीं है; कर्म प्रेरक होकर मुझे विकार कराता है, और मैं कर्म जितना ही हूँ—ऐसा वह मानता है, इसलिये उसे एकाकार ज्ञायकमूर्ति आत्मा ढँक गया है,—उसे वह नहीं देख सकता। उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तू अपने शुद्धनयरूपी नेत्रों को खोल और अपने आत्मा को कर्म से और विकार से भिन्न एकाकार शुद्ध ज्ञायकस्वरूप से देख।—ऐसे आत्मा को देखना वही सच्ची दृष्टि है, और ऐसी दृष्टि ही मुक्ति का कारण है; ऐसी दृष्टि प्रगट किए बिना कभी भवभ्रमण का अन्त नहीं आता।

ॐ अज्ञानी भव को देखता है, ज्ञानी भवरहित स्वभाव को देखता है ॐ

भले ही त्यागी होकर व्रत-तप के शुभभाव करता हो, परन्तु जिसके अंतर में ऐसी संदेह दृष्टि वर्त रही है कि—'मुझे अनंत भव करना होंगे'—वह जीव अनंतानुबन्धी कषाय में विद्यमान है, क्योंकि जहाँ अनंतभव होने की शंका वर्त रही है, वहां उसके कारणरूप अनंतानुबन्धी कषाय विद्यमान ही है। उस जीवने आत्मा के भवरहित स्वभाव को देखा ही नहीं है ? इस ओर अंतर में चैतन्यस्वभाव को अनंत सामर्थ्य की अस्ति से च्युत हुआ, इसलिये अज्ञानी को उससे विरुद्ध ऐसे अनंत भव का अस्तित्व भासित हुआ, ज्ञानी की दृष्टि

में तो अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का अस्तित्व भासित हुआ है, और उस-स्वभाव में भय की नास्ति है इसलिये उसे भय की शंका नहीं होती। अज्ञानी को विपरीत दृष्टि में भय ही दिखाई देते हैं, परन्तु ज्ञानस्वभाव दिखाई नहीं देता; ज्ञानी भूतार्थदृष्टि से अकेले ज्ञानस्वभाव को देखता है, उसमें भय है ही नहीं।

❀ जीव और कर्म के भेद का अभ्यास ❀

अज्ञानी जीव कर्म के प्रभाव से विकार होना मानता है; उसे विकार और विकार के निमित्तरूप कर्म के साथ एकत्वबुद्धि है; परन्तु भिन्न स्वभाव की दृष्टि नहीं है; इसलिये वह जीव व्यवहार से विमोहितदृष्टिवाला है। स्व-परकी एकत्वबुद्धि से जीव संसार में परिभ्रमण करता है, और स्व-पर का भेदज्ञान करके उस भेदज्ञान के अभ्यास के बलसे वह मुक्ति प्राप्त करता है। नियमसार की ८२ वीं गाथा में कहते हैं कि—

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम्।
तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि ॥ ८२ ॥

—अर्थात् जीव और कर्म के भेद का अभ्यास होने से जीव मध्यस्थ होता है, इसलिये चारित्र होता है। और १०६ वीं गाथा में कहते हैं कि—

एवं भेदाभ्यासं यः करोति
जीवकर्मणोः नित्यम्।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स
संयतो नियमात् ॥ १०६ ॥

—इसप्रकार जो सदैव जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है, वह संयत नियम से प्रत्याख्यान धारण करने के लिये शक्तिमान है। जिसे जीव और कर्म के भेद का ज्ञान नहीं है, उसे कभी सम्यक्चारित्र नहीं होता। यहाँ कर्म और जीव के भेद का अभ्यास कहा, —अर्थात् क्या?—कि कर्म से भिन्न शुद्ध ज्ञानानंद आत्मा को जानकर उसमें एकाग्रता का अभ्यास करना उसका नाम जीव और कर्म के भेद का अभ्यास है, और वह मुक्ति का कारण है।

'कर्म के उदयानुसार विकार करना ही पड़ता है, ग्यारहवें गुणस्थान पर चढ़ा हुआ जीव भी कर्मोदय के कारण गिर जाता है'—ऐसी जिसकी मान्यता है उसे कर्म और जीव के बीच का भेदज्ञान नहीं है। कर्मोदय के अनुसार ही विकार होता है,—ऐसा तो किसी जीव को नहीं होता। यदि उदयानुसार ही विकार होता हो, तब तो किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ करना जीव के हाथ में नहीं रहता। बस! जैसा उदय आवे वैसा परिणमित होता रहना—इस मान्यता में तो निगोद में से निकलने का भी अवकाश नहीं रहा। उदय के प्रमाण में विकार होता है—यह मान्यता तो

बिलकुल विपरीत है।

और ग्यारहवें गुणस्थान में तो मोह कर्म का उदय है ही नहीं, तब फिर कर्मोदय के कारण ग्यारहवें गुणस्थान से गिरा—यह बात ही कहाँ रही? ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे गिरनेवाला अपनी पर्याय की उसप्रकार की निर्बलता से ही गिरता है, कर्मोदय के कारण नहीं। अरे! अनादि से निगोद में रहनेवाला जीव भी अपने वैसे विपरीत भावों से वहाँ रहा है। श्री गोम्मटसारजी में भी कहा है कि:—

अत्थि अणंता जीवा जेहिं
ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा
णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१९७॥

जो अनादिकाल से त्रसपने को प्राप्त नहीं हुए हैं—ऐसे अनंत जीव निगोद में हैं; वे अपने सुप्रचुर भावकलंक के कारण ही निगोदवास को नहीं छोड़ते।

अरिहंत भगवान चार अघाति कर्मों के उदय के कारण संसार में रुके हैं—ऐसा जो वास्तव में मानता है वह भी मूढ़ है। वास्तव में वे कर्म के कारण नहीं रुके हैं, परन्तु उनके आत्मा में अभी उसप्रकार के विभाव की योग्यता है इसलिये उन्हें संसार अवस्था है। अभी तो जिसकी ऐसी मान्यता है कि कर्म के कारण जीव को विकार होता है, उस कर्म और आत्मा के भिन्नत्व का भान नहीं है, इसलिये विकार के साथ तो उसे एकत्वबुद्धि होती है। जहाँ विकार में एकत्वबुद्धि हो वहाँ शुद्धात्मा की निःसन्देह प्रतीति नहीं होती; और शुद्धात्मा की प्रतीति बिना अनंतभव का सन्देह यथार्थरूप से दूर हो ही नहीं सकता।

❀ क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय में आनेवाली निःसंदेहता ❀

जहाँ अनंत भव का संदेह है वहाँ धर्म की अंशमात्र रुचि नहीं है

यहाँ कोई विपरीतदृष्टिवाला जीव ऐसा कुतर्क करे कि—'हमें क्रमबद्ध पर्याय में अनंतभव होना होंगे तो अथवा हमें क्रमबद्ध पर्याय में मिथ्यात्व होना होगा तो?'—तो श्री आचार्यदेव उससे कहते हैं कि—अरे मूढ़! तू क्रमबद्ध पर्याय को समझा ही नहीं है। क्रमबद्ध पर्याय की यथार्थ प्रतीति करनेवाले को तो ज्ञानस्वभाव की दृष्टि हो गई, उसका परिणमन ज्ञान की ओर उन्मुख हो गया, उसे अब अनंतभव हो ही नहीं सकते। ऐसा होने पर भी जो ऐसा सन्देह करता है कि 'मेरी क्रमबद्धपर्याय में अनंतभव होंगे तो?'—वह जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है; उसने न तो आत्मा को देखा, न सर्वज्ञ को देखा और न क्रमबद्ध पर्याय को माना; अनंतभव की

शंका वाले जीव को धर्म की अंशमात्र रुचि नहीं हुई है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म तो भव के नाश का कारण है,—ऐसे धर्म का सेवन करे और अनंतभव की शंका रहे—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। सरोवर के किनारे जाये तो शीतल पवन आती है और विश्वास हो जाता है कि अब पानी निकट ही है; उसीप्रकार जिसे आत्मा के धर्म की सम्यक् रुचि हुई उसे अन्तर से अपूर्व शांति की झंकार उठती है और अल्पकाल में मोक्ष होने का निःसंदेह विश्वास हो जाता है। जिसे ऐसी निःशंकता नहीं है और भव का सन्देह है, वह जीव कर्म से भिन्न आत्मा को नहीं देखता परन्तु कर्म को और अशुद्ध आत्मा को ही देखता है।

जिसप्रकार—'केवली भगवान ने मेरे अनंतभव देखे होंगे...'—ऐसे संदेह वाला जीव मिथ्यादृष्टि है; उसने वास्तव में केवलीभगवान को जाना ही नहीं है; उसीप्रकार—'क्रमबद्ध पर्याय में अपने को मिथ्यात्व आयेगा...'—ऐसी शंका-वाला जीव भी मिथ्यादृष्टि ही है, उसने वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को जाना ही नहीं। जिसप्रकार केवलीभगवान का यथार्थ निर्णय करनेवाले को अपने ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति हो जाती है, उसी-प्रकार जिसने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ-तया जाना हो उसे कर्म से भिन्नता की दृष्टि होकर स्व-द्रव्य का आश्रय हो जाता है और मिथ्यात्व का अवश्य नाश होजाता है। कर्म के साथ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धपर दृष्टि रखकर क्रम-बद्धपर्याय का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि क्रमबद्ध पर्याय का प्रवाह तो द्रव्य में से आता है, इसलिये द्रव्य-सन्मुख दृष्टि से ही उसका निर्णय होता है; और जिसने ऐसा निर्णय किया उसका वर्तमान पर्याय तो द्रव्य की ओर उन्मुख हो गई है इसलिये उस पर्याय में मिथ्यात्व रहा ही नहीं, और मिथ्यात्व के क्रम की शंका भी वहाँ रहती ही नहीं। जिसप्रकार केवलज्ञान की प्रतीति और अनंतभव की शंका—यह दोनों कदापि एक साथ नहीं होते, उसीप्रकार क्रम-बद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय और मिथ्यात्व का क्रम—यह दोनों भी साथ होते ही नहीं। जिसे क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ हो उसे कर्म और आत्मा की भिन्नता का विवेक हो ही जाता है और उसकी दृष्टि पर के ऊपर से च्युत होकर आत्मा की ओर उन्मुख हो जाती है, उसे अनंत संसार होने का संदेह नहीं होता। 'मुझे अभी अनंत-संसार बाकी होगा तो?'—ऐसा जिसे सन्देह है उसकी रुचि कर्म पर ही है, उसे क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ ही

(शेष पृष्ठ १८१)

* भावलिंगी मुनि का स्वरूप *

["जैनदर्शन-शिक्षणवर्ग" की उत्तम श्रेणी की परीक्षा में पूछे गये पहले प्रश्न के उत्तररूप निबंध]

卐 शुद्धोपयोगी दिगम्बर संतों को नमस्कार हो ! 卐

मुनिदशा की अलौकिक महिमा है, अहो ! मुनिवर तो केवली प्रभु के पड़ौसी हैं, वे पंचपरमेष्ठी पद में युक्त हो गये हैं और केवलज्ञान लेने की तैयारी वाले हैं--मानो अभीहाल श्रेणी लगाकर केवलज्ञान प्राप्त किया या करेंगे—ऐसी उनकी आत्मजागृति है। उस धन्यदशा में दुःख या क्लेश नहीं है परन्तु सिद्धभगवान जैसा अपूर्व महानन्द है। अहो! धन्य वे मुनिवर ! संयमसुधासागर में झूलते हुए उनसंतों को नमस्कार हो !

जिसे अपना आत्मकल्याण करना हो उसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप बराबर जानना चाहिए; देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान के बिना यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान नहीं होते। और देव तथा शास्त्र की पहिचान भी गुरु द्वारा होती है। गुरु का स्वरूप जानने में ही जिसकी भूल हो उसे तो देव और शास्त्रादि में भी भूल होती है; इसलिये गुरु का स्वरूप यथार्थ रूप से जानना चाहिए।

सामान्यतः तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के धारी धर्मात्मा भी ज्ञान-गुरु हो सकते हैं, परन्तु यहाँ मोक्षमार्ग में मुख्यतः सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र के धारक ऐसे दिगम्बर मुनि—वे गुरु हैं। अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रदशा का जो शुद्धोपयोग प्रगट हुआ है वह मुनिओं का भावलिंग है और ऐसे भावलिंगी मुनिओं को बाह्य में वस्त्ररहित दिगम्बर दशा ही होती है—यह द्रव्यलिंग है। भावलिंगी मुनिओं की अंतर और बाह्य दशा कैसी होती है—उसका विशेष वर्णन मोक्षमार्ग-प्रकाशक में निम्नानुसार किया है:—

❀ मुनिओं की अंतरंग अवस्था ❀

प्रथम जिन्हें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो हुए हैं और फिर विरागी होकर समस्त परिग्रह छोड़कर शुद्धोपयोग-रूप मुनिधर्म अंगीकार करके अंतरंग में उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं,

परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं रखते;

अपने ज्ञानादिक स्वभावों को ही अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते,

शरीर की अनेक प्रकार की अवस्था होती है और बाह्य में अनेक प्रकार के संयोग–वियोगरूप निमित्त बनते हैं, परन्तु वहाँ किंचित् भी सुख-दुःख नहीं मानते,

अपने योग्य बाह्यक्रिया जैसी होती है वैसी होती है, परन्तु उसमें खींच-तान नहीं करते,

अपने उपयोग को अधिक नहीं घुमाते किन्तु उदासीन होकर निश्चल वृत्ति धारण करते हैं,

जब शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकते उससमय शुभोपयोग भी होता है, जिसके द्वारा वे शुद्धोपयोग के बाह्य साधनों में, पंचमहाव्रतादि में अनुराग करते हैं, परन्तु उस रागभाव को भी हेय समझकर दूर करना चाहते हैं,

और तीव्र कषाय के अभाव से हिंसादि रूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है,

—ऐसी भावलिंगी मुनियों की अंतरंग दशा होती है, और जहाँ ऐसी अंतरंग दशा हो वहाँ बहिरंगदशा कैसी होती है यह कहते हैं:—

❀ मुनियों की बहिरंग अवस्था ❀

उपरोक्तानुसार अंतरंग अवस्था होने से भावलिंगी मुनि बाह्य में दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं,

शरीर संस्कारादि विक्रिया से रहित हुए हैं,

वनखण्डादि में बसते हैं,

अट्ठाईस मूल गुणों का अखण्डित पालन करते हैं—(पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, षट् आवश्यक, केशलुँच, स्नान का अभाव, नग्नता, अदंतधावन, भूमिशयन, स्थिति भोजन, और एकबार आहारग्रहण—यह अट्ठाईस मूलगुण हैं।)

क्षुधा-तृषादि बाईस परीषहों को सहन करते हैं,

बारह प्रकार के तप करते हैं,

कदाचित् ध्यानमुद्राधारी प्रतिमावत् निश्चल होते हैं,

कदाचित् अध्ययनादिक बाह्य धर्म क्रिया में प्रवर्तमान होते हैं,

कभी योग्य आहार-विहारादि क्रिया में सावधान होते हैं।

—इसप्रकार जो भावलिंगी जैन-मुनि हैं उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है। ऐसे मुनिवर छट्ठे-सातवें गुणस्थान में आत्मा के अपार आनन्द में झूलते हैं। जिसे बाह्य में वस्त्ररहित दिगम्बरदशा और अट्ठाईस मूलगुण आदि होने पर भी अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप भावलिंग प्रगट नहीं हुआ उसके मुनिदशा नहीं है; और जहाँ बाह्य में ही वस्त्रादिका ग्रहण है तथा २८ मूलगुण नहीं हैं वहाँ तो द्रव्यलिंग भी नहीं है।

"अपूर्व अवसर" काव्य में उस धन्यदशा का वर्णन करते हुए श्रीमद्

राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

सर्वभावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव होय जो...

—अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?

नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदन्तधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो...

—अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?

अहो. यहाँ तो इससमय ऐसे मुनिके दर्शन भी अति दुर्लभ हो गये हैं, परन्तु महाविदेह क्षेत्रमें ऐसी दशावाले अनेक मुनि इससमय भी विचर रहे हैं, और मोक्ष की साधना कर रहे हैं। 'साधयति इति साधुः' अर्थात् चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता द्वारा जो आत्मा की मुक्तदशा की साधना करता है वह साधु है; परन्तु जिसे अभीतक आत्मा का भान ही न हो वह उसकी साधना कहाँ से करेगा? और उसके साधुता—मुनिदशा कहाँसे होगी? सम्यग्दर्शन के बिना तो मुनिदशा हो ही नहीं सकती।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी गृहस्थपने में कभी मुनिदशा नहीं होती। सम्यग्दर्शन के पश्चात् अन्तर में विशेष वैराग्यपूर्वक सर्वसंग परित्यागी होकर, अंतर् स्वरूप में एकाग्रता के उग्र पुरुषार्थ द्वारा चारित्रदशा प्रगट करके मुनि होते हैं। जिसप्रकार छूके, नरेली, और अज्ञामी—इन तीनों से खोपरे का सफ़ेद-मीठा गोला पृथक् है, उसीप्रकार शरीर, कर्म और राग-द्वेष—इन तीनों से पार चैतन्यानंद का गोला आत्मा है, उसके अतीन्द्रिय अनुभव में निर्विकल्परूप से एकदम लीन होने से मुनियों को पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। ऐसे आत्मानुभव के बिना किसी जीव के मुनित्व नहीं होता। और ऐसी मुनिदशा के बिना किसी भी जीव को केवलज्ञान या मुक्ति नहीं होती।

"श्रामण्यमार्ग के प्रणेता" भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव प्रवचनसार की २०५-२०६वीं गाथा में श्रमण के अंतरंग और बहिरंग लिंगों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि:—

यथाजातरूपजातमुत्पाटित-
केशश्मश्रुकं शुद्धम् ।
रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म
भवति लिङ्गम् ॥ २०५ ॥
मूर्च्छारम्भवियुक्तं युक्तमुप-
योगयोग शुद्धिभ्याम् ।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भव-
कारणं जैनम् ॥ २०६ ॥

—इसप्रकार जैनशासन के भावलिंगी मुनियों की अंतर् बाह्यदशा कैसी होती है वह भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवादि संतों ने ढिंढोरा पीट-पीटकर घोषित किया है। इससे विरुद्ध मुनिदशा कोई

कोई—वस्त्रादि परिग्रह रखकर भी मुनित्व मनावे तो उसका निषेध करते हुए 'सूत्र पाहुड' में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु ।
जइ लेई अप्पबहुयं तत्तो पुण जाई णिगोदम् ॥ १८ ॥

इसका भावार्थ यह है कि—मुनि यथाजातिरूप निर्ग्रंथ दिगम्बर मुद्रा के धारक होते हैं, उन्हें तिल तुष मात्र परिग्रह का ग्रहण नहीं होता; तथापि जो जीव कुछ भी परिग्रह धारण करके मुनित्व मनाता है वह निगोद में जाता है; क्योंकि उस जीव को जिनसूत्र की श्रद्धा न होने से वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व का फल निगोद है।

मुनिदशा की अलौकिक महिमा है। अहो ! मुनिवर तो केवली प्रभु के पड़ौसी है; वे संयपरमेष्ठी पद में युक्त हो गये हैं, और केवलज्ञान लेने को तैयारीवाले हैं—अभी अभी क्षपक श्रेणी लगाकर केवलज्ञान लिया या लेंगे—ऐसी उनकी आत्मजागृति है।—ऐसे मुनिवर मंगल-रूप हैं, लोक में उत्तम है और भव्य-जीवों को शरणरूप हैं। इस धन्यदशा में दुःख या क्लेश नहीं है परन्तु सिद्ध-भगवान जैसा अपूर्व महा आनन्द है। ऐसी मुनिदशा में बड़ा दुःख है—ऐसा जो मानता है वह मूढ़ है; उसे मुनि की अद्भुत अंतर्‌दशा का भान नहीं है। यह मोक्षमार्गी मुनिवर आगम चक्षु-वाले होते हैं; उसका वर्णन करते हुए प्रवचनसार में (गाथा २३४ की टीका में) कहते हैं कि—सर्वतः चक्षुपने की सिद्धि के लिये भगवन्त श्रमण के आगमचक्षु होते हैं। वे उस आगमरूप चक्षु द्वारा स्व-पर का विभाग करके, महा मोह को जिन्होंने भेद डाला है ऐसे वर्तते हुए परमात्मा को प्राप्त करके, सतत ज्ञान-निष्ठ ही रहते हैं।

अहो ! धन्य है उन मुनिवरों को ...! संयमसुधासागर में झूलते हुए उन संतों के पावनकारी चरणों में भक्ति-पूर्वक नमस्कार हो...!

"णमो लोए सव्व साहूणं"

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है?

लेखांक १७] [अंक ११३ से आगे

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उसपर परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

★ जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि—'प्रभो! आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है?'

★ श्री आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—'आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंतनयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।'

★ उस आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है, उसमें से २६ नयों के प्रवचन अभीतक आ गये हैं; उसके आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।

[२७] अनियतिनये आत्मा का वर्णन

नियतिनय से आत्मा के एकरूप द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया; अब अनियतिनय से पर्याय की बात करते हैं। आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतिस्वभावरूप भासित होता है; जिसप्रकार पानी में उष्णता नियमित नहीं है परन्तु अग्नि के निमित्त पाकर कभी-कभी उसमें उष्णता आ जाती है, उसीप्रकार अनियतिनयसे आत्मा रागादि अनियतिस्वभावरूप ज्ञात होता है।

पानी का स्थायी स्वभाव ठण्डा है वह नियत है, और उष्णता उसके ठण्डे स्वभाव से विपरीत दशा है; वह उष्णता पानी में नित्यस्थायी रहनेवाली नहीं है इसलिये अनियत है; उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में रागादि विकारी भाव होते हैं वे स्थायी रहनेवाले नहीं है परन्तु क्षणिक हैं इसलिये वह अनियत है। ऐसा अनियतपना भी आत्मा का एक धर्म है। परन्तु "होना नहीं था और हो गया"—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। रागादि को अनियत कहा इसलिये कहीं पर्याय का क्रम टूट जाता है ऐसा नहीं है; जो रागादि हुए वे कहीं पर्याय का क्रम टूटकर नहीं हुए हैं। पर्याय के क्रम की अपेक्षा से रागादि

भी नियत क्रम में ही हैं; परन्तु रागादि अशुद्ध भाव हैं, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं है इसलिये उसे अनियत-स्वभाव कहा है। अनियतनय से देखें तो उसमें भी क्रमबद्ध पर्याय का फेरफार होना नहीं आता; पर्याय का क्रम तो नियत ही है।

गोम्मटसार में एकान्त नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है, वह तो अलग बात है और यहाँ अलग बात है। गोमटसार में जिस नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है वह तो नियत के नाम से मात्र स्वच्छन्द का सेवन करता है; परन्तु नियत के साथ अपना ज्ञाता स्वभाव है उसे वह जानता नहीं है, स्वसन्मुख होने के पुरुषार्थ को और सर्वज्ञ को मानता नहीं है, परसन्मुख ही रुचि रखता है किन्तु अनंतस्वसामर्थ्यमय ज्ञानस्वभाव की रुचि नहीं करता; स्वभाव की सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान के पुरुषार्थ को वह स्वीकार नहीं करता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्व-काल को वह जानता नहीं है, और निमित्त में कितने कर्मों का अभाव हुआ है उसे भी वह नहीं समझता।—इस-प्रकार किसीप्रकार के मेल बिना मात्र नियत की बातें करके स्वच्छन्दी होता है; नियत के साथ के पुरुषार्थ आदि समवायों को वह मानता नहीं हैं और श्रद्धा-ज्ञान का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट नहीं करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

परन्तु सम्यक्दृष्टि तो नियत के निर्णय के साथ-साथ सर्वज्ञ का भी निर्णय करता है और "मैं ज्ञाता स्वभाव हूँ"—ऐसा भी स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है इसलिये नियत के निर्णय में उसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का पुरुषार्थ भी साथ ही है; उससमय निर्मलपर्याय रूप स्व-काल है तथा निमित्त में मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव है; इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को एकसाथ पाँच समवाय आ जाते हैं। नियत के निर्णय के सम्बन्ध में मिथ्या-दृष्टि और सम्यग्दृष्टि का यह महान अन्तर है वह अज्ञानी नहीं समझ सकते इस-लिये भ्रम से दोनों में समानता लगती है, परन्तु वास्तव में तो उन दोनों में आकाश-पाताल जितना अंतर है।

"मैं ज्ञायक हूँ"—इसप्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की जिसे प्रतीति नहीं है और जो पर में फेरफार करने के मिथ्या-भिमान का सेवन कर रहा है, वे यह नियतवस्तुस्वभाव की यह बात सुनते ही भड़क उठते हैं के 'अरे! क्या सब नियत है!! हमारे पुरुषार्थ से कुछ फेरफार नहीं हो सकता?" यानी उसे ज्ञाता नहीं रहना है किन्तु फेरफार करना है;—यह बुद्धि ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तु की पर्याय नियत नहीं है, अर्थात् निश्चित् नहीं है; उसमें हम अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं;—यह उसकी मान्यता मिथ्या

है; क्योंकि वस्तु की पर्यायों में ऐसा अनियतपना नहीं है कि वे आगे-पीछे हो जावें! यहाँ आत्मा के अनियत धर्म का वर्णन करते हैं उसमें तो अलग बात है; कहीं उसमें पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने की बात नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि इस अनियतनय में तो हमारी मान्यतानुसार वस्तु की क्रमबद्ध पर्याय में फेरफार होना आयेगा!—परन्तु ऐसा नहीं है; किसी पर्याय का क्रम तो फिरता ही नहीं है —इस नियम को अबाधित रखकर ही सब बात है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा शुद्धरूप दिखाई देता है और पर्याय दृष्टि से देखने पर अशुद्ध दिखाई देता है, वह अशुद्धता आत्मा का अनियतस्वभाव है; क्षणिक अशुद्धता को भी आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में धारण कर रखता है।

आत्मा के अनियत धर्म को कौन मान सकता है?

आत्मा एकान्त शुद्ध है, उसकी पर्याय में भी विभाव नहीं है—ऐसा जो माने उसने आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जाना है;

अथवा आत्मा की पर्याय में जो विकार है वह पर के कारण होता है —ऐसा माने तो वह भी आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जानता है;

और पर्याय में जो क्षणिक विकार है उसी को यदि आत्मा का स्थायी स्वभाव मान ले तो उसने भी आत्मा के अनियत धर्म को नहीं जाना है;

पर्याय में जो विकार है वह उसके अपने कारण से है; परन्तु वह आत्मा का त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नहीं है, परन्तु क्षणिक अशुद्धभाव—ऐसा जो जाने उसीने आत्मा के अनियत धर्म को यथार्थरूप से माना कहा जाता है।

सर्व जीव कर्म के वश हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिये कर्म ही जीव का विकार करता है ऐसा वह मानता है, परन्तु आत्मा के अनियत धर्म को वह नहीं जानता है। रागादि विकार होता है वह कहीं जड़कर्म का धर्म नहीं है, परन्तु वे रागादि आत्मा की ही अवस्था में होते हैं इसलिये आत्मा का ही अनियत धर्म है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी औदयिक भाव को भी आत्मा का स्वतत्त्व कहा है। रागादि भाव आत्मा का अनियतधर्म है, वह कहीं कर्म के वश नहीं है; आत्मा का वह धर्म कहीं जड़कर्म के कारण नहीं है।

"आत्मा की पर्याय में विकार नहीं होना था, किन्तु बहुत से कर्मों का एकसाथ उदय आया इसलिये विकार हुआ"—ऐसा अनियतपना नहीं है; परन्तु आत्मा के स्वभाव का जो एकरूप नियम है वैसा पर्याय में नहीं है, इसलिये पर्याय के विकार को अनियत

कहा है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसकी अवस्था में विकार और संसार है वह अनियतस्वभाव से है; एक समय पर्याय का अनिश्चित है, इसलिये वह आत्मा में सदैव नहीं रहेगा, और शुद्धस्वभाव तो सदैव ज्यों का त्यों रहनेवाला है; उस स्वभाव की महिमा करके उसके सन्मुख रहने से पर्याय में अनियत ऐसा संसार दूर हो जायेगा। इसलिये हे जीव ! मैं ज्ञायक आनंदकंदस्वभाव से नियत हूं और अवस्था का विकार वह अनियत है —ऐसी प्रतीति करके स्वभावोन्मुख हो ! विकार आत्मा में स्थायी रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिये पर्याय में भले हो चाहे जितना विकार हो उसमें तू अकुलाना मत, परन्तु उस विकार की तुच्छता जान, और नित्यस्थायी शुद्ध नियतस्वभाव की महिमा लाकर उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमें स्थिर हो !—ऐसा करने से, जैसा नित्यस्थायी शुद्धस्वभाव है वैसी शुद्धता पर्याय में प्रगट हो जायेगी और विकार नष्ट हो जायेगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव के के आश्रय से अनियत जो विकार है वह दूर हो जाने योग्य है, परन्तु पर्याय के क्षणिक विकार से कहीं आत्मा के नियतस्वभाव का नाश नहीं हो जाता। रागादि विकार तो क्षणिक अनियत नाशवंत है, वे शरणभूत नहीं हो सकते; और द्रव्य का नियतस्वभाव तो सदा शुद्ध है; उसकी शरण में जाने से जीव को शांति और कल्याण होता है। इसप्रकार नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव —इन दोनों से आत्मा को जानकर उसके ध्रुव स्वभाव का आश्रय करना वह प्रयोजन है।

भाई ! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्धचैतन्यमय है वह नियत है और पर्याय में विकारी संसारभाव है वह अनियत है, इसलिये वह दूर हो जायेगा। नियत शुद्धस्वभाव की दृष्टि करने से अनियत विकारी भाव दूर हो जायेगा। शुभाशुभ विकार तेरा क्षणिक पर्याय-धर्म है तो भी वह अनियत है, इसलिये वह पानी की उष्णता की भाँति दूर हो जाता है। अग्नि की उष्णता वह उसका नियतस्वभाव है इसलिये वह दूर नहीं होता, परन्तु पानी की उष्णता अनियत है इसलिये वह दूर हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्धचैतन्यमय द्रव्यस्वभाव तो नियत है, उसका कभी नाश नहीं होता, और पर्याय का विकार अनियतस्वभावरूप है इसलिये वह दूर हो जाता है। इसलिये पर्याय में एकसमय का विकार देखकर आकुलित मत हो, क्योंकि सारा द्रव्य विकाररूप नहीं हो गया है; द्रव्य तो नित्य शुद्धस्वभावरूप है ही, उसकी दृष्टि करने से विकार दूर हो जायेगा और शुद्धता प्रगट हो जायेगी। पर्याय का स्वभाव अनियत है ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड़, और द्रव्य का स्वभाव

नियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय कर। अहो! मैं सदैव एकरूप परम पारिणामिकभाव से नियत हूँ—ऐसा जानकर स्वाश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा सदैव चैतन्य प्रभुता से परिपूर्ण है—ऐसा नियतनय देखता है, और पर्याय में पामरता है उसे अनियतनय देखता है। यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ हैं। आत्मा के ऐसे दोनों धर्मों को जो जानता है उसका बल पूर्णस्वभाव की प्रभुता की ओर ढले बिना नहीं रहता, इसलिये द्रव्य की प्रभुता के बल से पर्याय की पामरता का नाश हुए बिना नहीं रहता।

द्रव्यस्वभाव में विकार नहीं है और पर्याय में विकार हुआ, तो वह कहाँ से आया?—क्या कर्म के कारण आया? नहीं; विकार भी आत्मा का ही अनियत धर्म है; आत्मा की पर्याय में उसप्रकार की योग्यता है। अग्नि के संयोग के समय पानी गर्म हुआ वह अग्नि के कारण नहीं हुआ है परन्तु पानी की पर्याय में उसप्रकार की योग्यता है; वह उष्णता पानी का अनियतधर्म है; उसीप्रकार आत्मा में जो रागादि पर्याय होती है वह उसका अनियतधर्म है। यदि उस एकधर्म को भी निकाल दें या परके कारण मानें तो सारी आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिसप्रकार सौ वर्ष की उम्र का कोई व्यक्ति हो; उसके सौ वर्ष में से बीच का एक समय भी निकाल दिया जाये तो उस व्यक्ति की सौ वर्ष की अखण्डता नहीं रहती, परन्तु उसके दो टुकड़े हो जाते हैं उसीप्रकार आत्मा अनंतधर्मों का अखण्ड पिण्ड है; उसमें से उसके एक भी अंश को निकाल दें तो अखण्ड वस्तु सिद्ध नहीं होता।

यहाँ नय से जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे धर्म आत्मा के हैं इसलिये नयज्ञान स्व की ओर देखता है। परकी ओर देखने से आत्मा के धर्मों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा की ओर उन्मुख होने से ही उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

केवली भगवान को तेरहवें गुणस्थान में योग का कम्पन है, वह उनका अनियतधर्म है; अघातिकर्म के कारण वह कंपन नहीं है। योग का कम्पन भी आत्मा का अपना औदयिक भाव है; वह भी स्वतत्त्व का धर्म है। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर प्रमाण है, पर्याय का धर्म भी आत्मा का अपना धर्म है; पर्याय का धर्म कहीं पर के आधार पर अवलम्बित नहीं है। पर्याय में जो विकार हुआ, उस पर्यायरूप से कौन भासित होता है?—अनियतनय से आत्मद्रव्य स्वयं ही विकाररूप भासित होता है; कहीं परद्रव्य विकाररूप भासित नहीं होता।

वस्तु के अनंतधर्मों को सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं; और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीति में लेते हैं। यह धर्म पूर्णरूप अपनी आत्मा की प्रतीति कराते हैं; धर्मी आत्मा की प्रतीति के बिना धर्म की प्रतीति नहीं होती। यह तो वीतरागता के मंत्र हैं।

प्रमाणज्ञान कराने के लिये द्रव्य और पर्याय दोनों की बात साथ ही साथ ली है। नियतनय, द्रव्य अपेक्षा से आत्मा के नियतस्वभाव को देखता है और उसीसमय पर्याय की अपेक्षा से आत्मा में अनियतस्वभाव भी है; उसे देखनेवाला अनियतनय है। आत्मा की पर्याय में भूल और विकार सर्वथा हैं ही नहीं—ऐसा नहीं है; भूल और विकार भी आत्मा का अपना अनियतस्वभाव है, और आत्मा का स्थायी स्वभाव भूल रहित चैतन्यस्वरूपी है। वस्तु ने जैसा हो वैसा ही यदि न जाने तो ज्ञान की महिमा क्या? और उसकी प्रमाणता क्या? आत्मा के विकाररहित त्रिकालीस्वभाव को ज्ञान जानता है। यदि स्वभाव और विकार—दोनों को न जाने तो विकार में से एकाग्रता दूर होकर स्वभाव में एकाग्र होना नहीं रहता, और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता इसलिये किसीप्रकार का धर्म नहीं होता।

द्रव्यरूप से तो आत्मा सदैव एकरूप नियतस्वभाव से है, और उसकी पर्याय में हीनाधिकता के अनेक प्रकार होते हैं इसलिये अनियतपना भी है। पर्याय में अनेक प्रकार और विकार हैं, उन्हें यदि न जाने तो ज्ञान सम्यक् नहीं होता। जिसप्रकार अग्नि में उष्णता तो नियत है, और पानी में उष्णता अनियत है इसलिये कभी होती है और कभी नहीं भी होती। पानी का स्थायी स्वभाव नित्य ठण्डा होने पर भी उसकी वर्तमान पर्याय में जो उष्णता वह उसका अपना अनियतस्वभाव है; उष्णतारूप होने की उसकी अपनी क्षणिक योग्यता है; यदि उस अनियत उष्णस्वभाव को न जाने और पानी को एकान्त ठण्डा मानकर पीने लग जाये तो क्या होगा? —मुँह जल जायेगा! उसीप्रकार चैतन्यभगवान आत्मा उपशमरस का समुद्र नियतस्वभाव से सदा शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी व्यक्त पर्याय में जो रागादि हैं वह भी उसका एकसमय का अनियतस्वभाव है। अपनी पर्याय में वे रागादि हैं—ऐसा यदि न जाने और आत्मा को सर्वथा शुद्ध माने तो उसे शुद्धता का अनुभव तो नहीं होगा परन्तु मात्र रागादि की आकुलता का ही अनुभव होगा। आत्मा की पर्याय में जो क्षणिक विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है और वह "अनियतनय" का विषय है, वह आत्मा का स्थायी

स्वभाव नहीं है। परन्तु यदि वह विकार एकसमयपर्यंत भी पर्याय में न होता हो तो उसे दूर करके स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न करना नहीं रहता; अर्थात् मोक्षमार्ग ही नहीं रहता। इसलिये द्रव्य और पर्याय—दोनों का यथार्थ ज्ञान हो तभी मोक्षमार्ग की साधना हो सकती है।

वस्तु में नियत और अनियत दोनों धर्म हैं। वस्तु का जो सदैव एकरूप रहनेवाला स्वभाव है वह नियत है, और जो क्षणिक स्वभाव है वह अनियत है। परन्तु क्रमबद्ध पर्याय में जो पर्याय होना हो उसके बदले उल्टी-सीधी होकर अनियत हो जाये—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। जिसप्रकार द्रव्य नियत हैं, उनके जड़-चेतनादि गुण नियत हैं, उसीप्रकार उनकी समय-समय की पर्यायें भी नियत हैं। पर्यायों का क्रम कहीं अनियत नहीं है; जिससमय जो पर्याय होना नियत है, उससमय वही पर्याय नियम से होगी। सर्वज्ञ उसे जानते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा नहीं होता और वस्तु की पर्यायों का क्रम भी नहीं टूटता। अहो! इस निर्णय में स्वतंत्र वस्तुस्वभाव का निर्णय आ जाता है, और पुरुषार्थ की उन्मुखता पर की ओर से हटकर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर हो जाती है। यह अंतर्दृष्टि की बात है। अनेक लोग अपनी कल्पितदृष्टि के अनुसार शास्त्र पढ़ जाते हैं, परन्तु पात्रता और गुरुगम के अभाव से अंतर्दृष्टि का यह रहस्य नहीं समझ सकते। कोई तो ऐसा कहते हैं कि—"द्रव्यों की संख्या नियत है, उनके चेतन-अचेतन गुण नियत हैं, तथा प्रतिक्षण उनका किसी न किसी प्रकार का परिणमन होगा वह भी नियत है; परन्तु अमुक समय में अमुक ही परिणमन होगा—वह बात नियत नहीं है; जैसे संयोग आयेंगे वैसी अवस्था होगी।" देखो, ऐसा कहनेवाले को स्वतंत्र वस्तुस्वरूप की कोई खबर नहीं है और सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं है। यह बात पहले कई बार विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है। "द्रव्य की शक्ति तो नियत है, परन्तु परिणमन किस समय कैसा होगा वह अनियत है;—इसप्रकार नियत-अनियतपना वह जैनदर्शन का अनेकान्तवाद है।"—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं; परन्तु वह बात मिथ्या है; जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का ऐसा स्वरूप नहीं है। नियत और अनियत का अर्थ तो जैसा कहा है वैसा ही है। द्रव्यस्वभाव से आत्मा नियत शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी पर्याय में जो विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है; विकार नित्य एकरूप रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिये उसे अनियत कहा है—ऐसा समझना चाहिये।

नियतधर्म से देखने पर आत्मा सदैव

एकरूप शुद्ध ही भासित होता है और अनियतधर्म से देखने पर वह विकारी भी है, अनेकरूप है। यदि आत्मा में अपने में अनियतरूप से विकार होने का धर्म न हो तो अनंतकर्म एकत्रित होकर भी उसे विकारी नहीं बना सकते। विकार अनियत होनेपर भी वह परके कारण नहीं है परन्तु आत्मा का अपना भाव है। शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमें विकार नहीं है और पर्याय में हुआ इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु वह विकार होनेवाला नहीं था और हो गया—ऐसा अनियतस्वभाव नहीं है। पर्याय का जो नियतपना है वह बात यहाँ नहीं की है, यहाँ तो नियतरूप से त्रिकाली स्वभाव को लिया है और अनियतरूप से पर्याय की क्षणिक अशुद्धता ली है।

—यहाँ २७ वें अनियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

यहाँ प्रवचनसार के परिशिष्ट में पाँच समवाय के बोल लिये हैं परन्तु वे दूसरी शैली से लिये हैं; उनमें से नियत तथा अनियत धर्म का वर्णन किया; अब आत्मा के स्वभाव धर्म और अस्वभाव धर्म की बात करेंगे। पश्चात् काल तथा अकाल तथा पुरुषार्थ और दैव का भी वर्णन करेंगे।

आज के युवक बंधुओं से....

हे युवक बंधु!

जिसमें तेरे बुद्धि-बल का सदुपयोग हो—ऐसी एक हितकारी बात आज यहां तेरे लिये कह रहा हूं!

हे बन्धु! तू अपने अभीतक के जीवन का विचारपूर्वक देख, और विचार कर कि अभीतक के जीवन में तूने ऐसा क्या किया है कि जिससे तेरा हित हो........तुझे शांति हो और अपने जीवन की सफलता लगे!

—यदि अभीतक तूने अपने जीवन में ऐसा कोई कर्तव्य न किया हो और मिथ्यामार्ग में ही अपना जीवन बिताया हो तो हे बन्धु! अब तू जाग....जागकर दृढ़तापूर्वक कुछ ऐसा कार्य करने का उद्यमी बन कि जिससे तेरा हित हो और तेरे बुद्धि-बल की सफलता हो।

हे युवक बन्धु!

अब तुझे ऐसी जिज्ञासा होगी कि मुझे अपने बुद्धि-बल को ऐसे

कौन-से कार्य में रोकना चाहिये जिससे मेरा हित हो और बुद्धि-बल की सफलता हो ! !

सुन भाई ! यदि तुझे हित कार्य करने की जिज्ञासा जाग्रत हुई है तो उसका कर्तव्य बतलाता हूँ।

हे जिज्ञासु !

प्रथम में प्रथम तू आस्तिक तो होगा ही। "आत्मा है, आत्मा को पूर्वजन्म है, मोक्ष है"—इतना तो तू अवश्य मानता ही होगा। यदि अभीतक तूने इस सम्बन्ध में विचार न किया हो तो अब इसी क्षण उसका विचार करके मान।

" आत्मा है, पूर्वजन्म है, अहितरूप बंधन है, बंधन के उपाय हैं, हितरूप मोक्ष है और मोक्ष के उपाय हैं"—ऐसी आस्तिक्यता-(विश्वास) करने के पश्चात् तू अपनी स्वाधीनता जान कि मैं एक स्वाधीन जीव हूँ, मुझे न तो कोई बनाने वाला है और किसी के आधीन होकर गुण-दोष करना पड़े—ऐसा भी नहीं है; मेरे गुण या दोष, पुण्य या पाप, धर्म या अधर्म, हित या अहित, संसार या मोक्ष, सम्यक्त्व या मिथ्यात्व, ज्ञान या अज्ञान, सराग या वीतराग—सब मेरे ही हाथ में है।

ऐसी आत्म-स्वाधीनता जान लेने के पश्चात्—"जीव क्या वस्तु है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? कैसे कर्तव्य से उसका अहित होता है और कैसे कर्तव्य से हित ?" यह जानने की आवश्यकता है, और तुझे भी अवश्य ही यह जानने की जिज्ञासा होगी; इसलिये वह आगे कहूँगा।

❀ ❀ ❀

हे उत्साही युवक !

यदि तुझे अपने सांसारिक कार्यों में सफलता न मिली हो.... संसार में चारों ओर की प्रतिकूलताओं से तू घिर गया हो....तो भी तू हतोत्साह मत होना—निराश मत होना....उलझन में पड़कर अपने जीवन के उत्साह को तोड़ मत डालना....किन्तु वैसे समय में अपने बुद्धि-बल को बराबर जाग्रत और स्थिर रखकर ऐसा विचार करना कि संसार में चाहे जैसी प्रतिकूलता का प्रसंग होने पर भी मुझसे अपने हित का उद्यम न हो सके ऐसा कदापि नहीं हो सकता। किन्हीं

संयोगों में ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरे आत्मिक उत्साह बल को तोड़ सकें।

लौकिक शिक्षा या व्यापार, गृहवास या नौकरी आदि लौकिक कार्यों में सफलता या निष्फलता का कारण अलग अलग है, और आत्मिक बल उससे बिलकुल अगल वस्तु है। इसलिये हे भाई! तुझसे पुनः पुनः कहना है कि जगत से तू भले ही निराश हुआ हो....किन्तु अपने आत्महित के उत्साह में निराश मत होना....इस समय इसी क्षण अपने बुद्धि-बल का उपयोग आत्महित के लिये करने का निर्णय कर। बस! यह निर्णय करते ही उसकी दृढ़ता के बल से तेरे जीवन में एक नई दिशा खुलेगी और ऐसी शांति होगी जो तुझे अभीतक न हुई हो।

जीवन में अनेकविध प्रतिकूलताओं का आना कोई असाधारण बात नहीं है, किन्तु उन प्रसंगों पर अपने बुद्धि-बल को स्थिर रखकर प्रतिकूलताओं के सन्मुख अपने आत्मिक उत्साह को टिका रखना और हितकर्तव्य में उद्यमी होना वह सच्चा पुरुषार्थ है।

हे युवक भाई! आत्मबन्धु!

यदि तुझे जगत के कार्यों में निष्फलता मिलती हो तो तू समझ कि तूने पूर्वजन्म में पापकार्य किये हैं; और जगत के कार्यों में सफलता मिलती हो तो तू ऐसा समझ कि वह तेरे पूर्वजन्म के पुण्य कार्यों का ही फल है।—परन्तु जिससे तेरे आत्मा का हित हो ऐसा स्वाधीन धर्मकार्य तो तुझे इस जन्म में नये प्रयत्न से ही करना है। इसलिये हे बन्धु! तू अपने ही हित के लिये उस नये प्रयत्न की दिशा को समझने के लिये उद्यमी हो। इससे तेरा कल्याण होगा ही होगा।

—श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

सम्पादकीय

धर्म के जिज्ञासुओं का कर्तव्य

"अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करना वह प्रत्येक जिज्ञासु का कर्तव्य है।" पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों द्वारा, "जीव को अपूर्व सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो" —उसका उपाय बतलाकर, जिज्ञासुओं को उनके परम कर्तव्य की बारंबार जागृति...प्रेरणा और उत्साह देते रहना इस "आत्मधर्म" का ध्येय है।

अनंत संसार में मनुष्यभव प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है; और मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मा के हित की बुद्धि जागृत होना—सच्ची जिज्ञासा जागृत होना भी अति दुर्लभ है। यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके अब मेरे आत्मा का हित कैसे हो?...ऐसा कौनसा कर्तव्य करूँ कि जिससे मेरा आत्मा इस भव दुःख से छूट जाये?—इसप्रकार अंतर में आत्महित की विचारणा करके उस के लिये सच्ची जिज्ञासा प्रगट करना चाहिये। यदि आत्महित की सच्ची जिज्ञासा जागृत हो तो वह आत्महित का मार्ग लिये बिना न रहे। जिन्हें आत्महित के लिये जिज्ञासा जागृत हुई हो ऐसे जिज्ञासुओं का क्या कर्तव्य है वह यहाँ दर्शाया गया है।

"हम धर्म करते हैं अथवा हमें धर्म करना है"—ऐसा तो कई लोग बारम्बार कहते रहते हैं; किन्तु धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है और धर्म कैसे होता है—वह वे नहीं जानते। मात्र कुल परम्परा से रूढ़िगत चली आ रही क्रियाओं को वे धर्म मानते हैं और वैसी बाह्य क्रियाओं द्वारा अपने को धर्मी मान लेते हैं। वास्तविक धर्म का स्वरूप वे न तो समझते हैं, और न समझने की परवाह करते हैं;—ऐसे जीवों को धर्म का जिज्ञासु नहीं कहा जा सकता।

जिसके अन्तर में ऐसी भावना जागृत हो कि—अरेरे! अनंतकाल में अपने आत्मा के हित के लिये अभीतक मैंने कुछ नहीं किया; आत्मा के हित का उपाय क्या है यानी धर्म क्या है—उसका स्वरूप मैंने नहीं पहिचाना; अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके मुझे ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे मेरे आत्मा का हित हो।—ऐसी जिज्ञासापूर्वक जो जीव अपने हित के लिये धर्म का स्वरूप समझना चाहता है और उसे समझकर उसकी प्राप्ति का अन्तर प्रयत्न करना चाहता है—वह जीव धर्म का जिज्ञासु है। आत्मा का वास्तविक स्व-

रूप क्या है; आत्मा का धर्म क्या है, अधर्म क्या है, और वह धर्म-अधर्म काहे से होता है, तथा देव-गुरु-शास्त्र का वास्तविक स्वरूप क्या है—उसका यथार्थ निर्णय जिज्ञासुओं को सत्समागम से अवश्य करना चाहिए; तत्त्व का यथार्थ निर्णय किये बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

तत्त्व का सभी पक्षों से बराबर निर्णय करने के पश्चात अन्तरस्वभाव सम्मुख होने के सतत प्रयत्न द्वारा अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करना—वह प्रत्येक जिज्ञासु का परम कर्तव्य है। इसलिये, इस आत्मधर्म में पूज्य गुरुदेव के जो प्रवचन दिये जाते हैं उनमें मुख्यतः "जीव को अपूर्व सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो"—उसका उपाय बतलाया जाता है। पूज्य गुरुदेव के सर्व प्रवचनों का मध्य बिन्दु...यानी समस्त जैन शासन का मूलभूत बीज..."सम्यग्दर्शन" ही है। इसलिये जिज्ञासुओं को उसका स्वरूप बराबर स्पष्टरूप से जानकर, तद्रूप परिणमित होने का अहर्निश उद्यम करना वह कर्तव्य है। और जिज्ञासुओं को उनके परमकर्तव्य की जागृत...प्रेरणा और उत्साह देते रहना वह "आत्मधर्म" का ध्येय है। सम्यग्दर्शन कहो या शाश्वत सुख का उपाय कहो—उसे यह आत्मधर्म मासिक बतलाता है, इसलिये इस 'आत्मधर्म' को "शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र" कहा जाता है।

× × ×

'धर्म' कोई सामान्य लौकिक वस्तु नहीं है, किन्तु वह तो अलौकिक अपूर्व भाव है। लोकव्यवहार में जो दया-दान-सेवादि साधारण भावों को धर्म कह दिया जाता है, किन्तु वह लोकोत्तर धर्म नहीं है यानी वास्तविक धर्म का स्वरूप वैसा नहीं है। आर्यभूमि में और सुकुल में जन्मे हुए जीवों को—दया, कोमलता, दूसरों को दुःखी न करना, चोरी न करना, स्वस्त्री में संतोष रखना, सत्य बोलना, तीव्र हिंसा या क्रूरता ना करना,—इत्यादि लौकिक सज्जनता के भाव तो सामान्यरूप से होते ही हैं;—अब यदि ऐसे लौकिक भावों का (शुभ भावों को) ही धर्म का स्वरूप मान लिया जाये तो सर्व लौकिक सज्जन मनुष्य भी धर्मात्मा सिद्ध हों, और धर्म की लोकोत्तरता या अपूर्वता न रहे। किन्तु धर्म तो सर्व लौकिक भावों से बिलकुल पृथक् अपूर्व भाव है। लौकिक आचरण सुधारकर पुण्यभाव से स्वर्ग में तो जीव पूर्वकाल में अनंत बार गया है, किन्तु धर्म का अपूर्व लोकोत्तर भाव पूर्वकाल में कभी प्रगट नहीं किया।

धर्म की अपूर्वता के सम्बन्ध में श्री कुंदकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—

मिथ्यात्व प्रभृति भावाः पूर्वं
जीवेन भाविताः सुचिरम्

सम्यक्त्व प्रभृति भावाः
अभाविता भवन्ति जीवेन ॥१०॥

मिथ्यात्वादि भाव तो जीव ने पूर्व भवों में दीर्घकाल तक भाये हैं; किन्तु सम्यक्त्वादिभाव पूर्वकाल में कभी नहीं भाये। इसलिये अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की भावना कर्तव्य है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे आत्मन्! तू इस दीर्घ संसार में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्राप्ति बिना भटका है; इसलिये अब तू रत्नत्रय को अंगीकार कर—

रयणत्तये अलद्धे
भमिओसि दीहसंसारे।
इय जिणवरेहिं भणियं
तं रयणत्तं समायरह ॥

(—भावप्राभृत गाथा ३०)

हे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को प्राप्त न करने से तूने इस दीर्घ संसार में परिभ्रमण किया है; यह जानकर अब तू उस रत्नत्रय का आचरण कर;—ऐसा श्री जिनेश्वरदेव ने कहा है।

सर्व गुणों में सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन को धारण करने का उपदेश देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

एवं जिण पण्णत्तं
दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय
सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥

(—दर्शन प्राभृत गाथा २१)

पूर्वोक्त प्रकार से जिनेश्वरदेव का कहा हुआ जो सम्यक्दर्शन है वह सर्व गुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय में सार है; उत्तम है, और मोक्षरूपी महल में चढ़ने की प्रथम सीढ़ी है। इसलिये हे भव्य जीवो! तुम उस सम्यग्दर्शन को अंतरंग भाव से धारण करो।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! यदि तुझमें सामर्थ्य हो तो तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों करना, और यदि तुझ में उतना सामर्थ्य न हो तो सच्ची श्रद्धारूप सम्यक्त्व तो तू अवश्य करना। सम्यक्त्व से भी तेरा आराधकपना बना रहेगा। इसलिये श्रद्धा अवश्य ही कर्तव्य है।

आत्मा में ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करना वह प्रत्येक जिज्ञासु का कर्तव्य है; और जबतक आत्मा में ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व का परिणमन न हो तबतक आराम लिये बिना दिन-रात उस के लिये अंतर्विचार—मंथन—अभ्यास का प्रयत्न करना ही कर्तव्य है।

(पृष्ठ १६८ से आगे)

नहीं है।

'द्वादशानुप्रेक्षा' की ३२१–२२ वीं गाथा में कार्तिकेयस्वामीने महान सिद्धान्त बतलाया है। सम्यग्दृष्टि को वस्तु-स्वरूप का कैसा निश्चय होता है वह वहाँ बतलाया है, उसमें गंभीर रहस्य है। चेतन या जड़ जिस पदार्थ की जिससमय जैसी पर्याय होने का स्वभाव है वैसी ही पर्याय होती है, उसे जानने का आत्मा का स्वभाव है। क्रमबद्ध पर्याय तो ज्ञेय है, उसे जाननेवाला ज्ञान है, उस ज्ञानस्वभाव के निर्णय बिना ज्ञेय का अर्थात् क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करेगा कौन? सर्वज्ञता के निर्णय पूर्वक जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया, उसके अनंतभव सर्वज्ञने देखे ही नहीं। वास्तव में जिसने क्रमबद्ध पर्याय और सर्वज्ञ का निर्णय किया है उसने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है, उसे वर्तमान में ही परितसंसारीपना हो गया है, और सर्वज्ञदेवने भी ऐसा ही देखा है। केवली भगवान ने जिसका अनंतकाल के पश्चात् परितसंसार होना देखा है उसे वर्तमान में ही परितसंसार हो जाये ऐसा कभी नहीं हो सकता—परन्तु जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का ऐसा निर्णय हुआ, उसके अनंतभव केवली भगवान ने देखे हों—ऐसा भी नहीं हो सकता। मुझे अनंतभव करना पड़ेंगे—ऐसे भयवाले जीवने वास्तव में सर्वज्ञ को माना ही नहीं है। सर्वज्ञ को पहिचान ले और अनंतभव का भय दूर न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। देखो तो, वस्तुस्थिति का मेल! अन्तर में 'ज्ञान' का निर्णय करना वह अपूर्व वस्तु है, परन्तु बाह्यदृष्टि-जीव उसका मूल्यांकन नहीं कर पाते।

❀ जड़कर्म को ही आत्मा माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीवों का अभिप्राय ❀

आत्मा 'ज्ञ' स्वभावी है, उसका स्वभाव सर्वज्ञ होने का है। सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में भरा है। समयसार में कहते हैं कि—

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ॥ १६० ॥

आत्मा का स्वभाव तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, परन्तु अनादिकाल से अपने ही पुरुषार्थ के अपराध के कारण वह अपने ऐसे स्वभाव को नहीं जानता और अज्ञानभाव से वर्तता है। आत्मा में केवलज्ञान होने का स्वभाव है, परन्तु पर्याय में वह अपने ही अपराध से ढँका हुआ है; जड़कर्म ने उसे ढँका है—ऐसा कहना वह निमित्त का कथन है; वास्तव में जड़कर्म ने ज्ञान को नहीं ढँका है। जड़कर्म के कारण आत्मा

का ज्ञान रुक गया—ऐसा जो मानता है उसकी दृष्टि अभव्य जैसी है। एक तो—आत्मा में सर्वज्ञता की शक्ति को न माननेवाले, और दूसरे—कर्म के कारण आत्मा की ज्ञानशक्ति रुकी हुई है—ऐसा माननेवाले,—ये दोनों प्रकार के जीव मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी दृष्टि अज्ञान से विमोहित हो गई है, वे वास्तव में कर्म को ही आत्मा माननेवाले हैं।

आत्मा में जड़कर्म हैं ही नहीं, आत्मा और कर्म के बीच अत्यन्त भिन्नता है,—ऐसी जिसकी दृष्टि नहीं है और निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के समस्त जीवों को कर्म के कारण ही संसार है—ऐसा जो मानते हैं वे व्यवहारमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं; वे कर्म को ही आत्मा माननेवाले हैं; कर्म से भिन्न आत्मा को वे नहीं जानते।

जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य और गुण अहेतुक सत् हैं, उसीप्रकार उनकी समय-समय की पर्यायें भी अहेतुक सत् हैं; उनमें विकारी पर्याय के समय कर्म निमित्तरूप से होते हैं, परन्तु जीव के विकार में कर्म का एक अंश भी नहीं है। कर्म विकार कराते हैं यह मूढ़ जीव की मान्यता है। कोई ऐसा कहते हैं कि कार्य में पचास प्रतिशत उपादान का और पचास निमित्त के और दूसरे कोई ऐसा कहते हैं कि—पुरुषार्थ के इक्यावन कदम और कर्म के उनचास कदम—यानी उन्होंने पुरुषार्थ का एक कदम अधिक लिया,—परन्तु उन दोनों की बात मिथ्या है; यदि किसी का एक भी कदम दूसरे में हो तो! उपादान के पूरे सौ कदम उपादान में हैं और निमित्त के निमित्त में हैं। विकार के पूरे सौ कदम विकार में हैं और कर्म के कर्म में हैं। आत्मा और कर्म दोनों के एकत्रित होने से विकारभाव हुआ—ऐसा नहीं है। आत्मा में कर्म का मिश्रण हो गया है, इसलिये आत्मा के आनंद का स्वाद नहीं आता—ऐसा नहीं है; परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव राग को ही अपना स्वरूप मानकर उसके स्वाद में रुक जाता है और भूतार्थ स्वभाव की ओर उन्मुख होकर शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता इसलिये उसे अपने आनंद का स्वाद नहीं आता।

और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् तुरन्त चारित्र क्यों नहीं ले सकते? कि—चारित्रमोह कर्म का उदय है;—ऐसा निमित्त से कहा जाता है परन्तु वास्तव में वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। उपचार से कथन किया जावे वह अलग बात है और मूलसिद्धान्त अलग है। कोई तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा तो कर्म का खिलौना है; जिस तरह कर्म खिलायें उसीप्रकार आत्मा को खेलना

पड़ता है!—परन्तु यह बात बिलकुल मिथ्या है।—ऐसी विपरीत मान्यता-वाले अज्ञानी जीव कर्म को ही आत्मा मानते हैं; कर्म से भिन्न स्वभाव की उन्हें श्रद्धा ही नहीं है, और भूतार्थ-स्वभाव की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं एक अखण्ड ज्ञायकभाव हूँ, निमित्तों के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसी भूतार्थस्वभाव की दृष्टि अज्ञानी जीव करता नहीं है, और आत्मा का अशुद्धरूप से ही अनुभव करता है; परन्तु भूतार्थस्वभाव के अनुभव बिना कदापि कल्याण नहीं हो सकता। अभी जो ऐसा मानता है कि कर्म मुझे अशुद्धता कराते हैं, उसे तो कर्म और आत्मा का भेदज्ञान भी नहीं है; तब फिर विकार से भेदज्ञान करके वह भूतार्थस्वभाव की ओर कैसे उन्मुख होगा? स्वयं क्रोध-भाव करे और कहे कि 'क्रोध के उदय से क्रोध हो गया, उसमें मेरा कसूर नहीं है; क्योंकि क्रोध के उदय से जीव को क्रोध होता है—ऐसा गोम्मटसार में भी कहा है।'—तो ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! गोम्मटसार पढ़कर तूने ऐसा सार निकाला? गोम्मटसार में क्या कहा है उसबात को तू समझा ही नहीं है। वहाँ तो तेरे क्रोध परिणामों के समय कैसा निमित्त उपस्थित होता है उसका ज्ञान कराने के लिये निमित्त से कथन किया है। जिसे अंतर् स्वभाव की सच्ची दृष्टि नहीं है उसके सारे पक्ष भूलयुक्त होते है, और जिसे यथार्थ स्वभाव की दृष्टि हुई है उसके सारे पक्ष यथार्थ होते हैं। दृष्टि का जोर कहाँ जाता है वही मूलवस्तु है। जिसकी दृष्टि आत्मा के ज्ञायकस्वभाव पर नहीं है और निमित्त पर दृष्टि है, वह अपने आत्मा को रागी-द्वेषी और अज्ञानी ही मानता है; मैं रागी—मैं द्वेषी—मैं कर्म से बँधा हुआ—इत्यादि अनेक प्रकार से वह अपने को अशुद्धरूप ही मानता है, परन्तु शुद्धनय के पुरुषार्थ द्वारा आत्मा और कर्म का विवेक करके अपने एकाकार शुद्धज्ञायकस्वभाव को वह नहीं देखता है, इसलिये उसे सच्ची तत्त्व-श्रद्धा नहीं होती। जिसने भूतार्थ—दृष्टि प्रगट करके अपने आत्मा को कर्म से भिन्न शुद्ध-ज्ञान-स्वरूप जाना वह सर्व आत्माओं को भी निश्चय से वैसा ही मानता है। और जो जीव अपने आत्मा को अशुद्ध और कर्मवाला देखता है, वह अपनी विपरीत दृष्टि से दूसरे जीवों को भी वैसा ही मानता है; वह विपरीत मान्यतावाला मिथ्यादृष्टि है।

❀ अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति और सम्यग्दृष्टि की झंकार ❀

अनादिकालीन मिथ्यादृष्टिपना दूर होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन कैसे होता है वह यहाँ यथार्थरूपसे बतलाया है।

वर्तमान एक समय में आत्मा का त्रिकाली शुद्धस्वभाव और पर्याय में विकार—ऐसे दोनों प्रकार एकसाथ हैं। उसमें त्रिकाली शुद्धस्वभाव को भूलकर विकार ही मैं हूँ, शुभभाव से लाभ होता है ऐसी जो बुद्धि है वह मिथ्यात्व है; और वह विकार-बुद्धि छोड़कर त्रिकाली शुद्धस्वभाव ही मैं हूँ—इसप्रकार अन्तर्मुख होकर शुद्धनय से आत्मा के भूतार्थस्वभाव का अनुभव करना वह अपूर्व सम्यग्दर्शन होने की रीति है। जो जीव ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसका परिणमन बदल जाता है, उसे अनंतभव की शंका दूर हो जाती है और आत्मा में से सिद्धदशा की झंकार आ जाती है। ★

निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त

जिसप्रकार निमित्त के कारण से कार्य नहीं होता उसप्रकार व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती। निमित्त के कारण से कार्य होता है और व्यवहार करते-करते उसके अवलम्बन से निश्चय की प्राप्ति हो जाती है—ऐसा मानने वाले—दोनों एक ही प्रकार की मान्यता वाले मिथ्यादृष्टि हैं।

व्यवहार का अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन हो सकता है?—नहीं हो सकता।

जिसप्रकार व्यवहारनय अनुसरण-योग्य नहीं है, उसीप्रकार निमित्त भी अनुसरण-योग्य नहीं है। व्यवहार और निमित्त दोनों अभूतार्थ हैं। निमित्त का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है, और व्यवहार एक समय पर्यंत पर्याय में है किन्तु त्रिकाली स्वभाव में उसका अभाव है;—इसप्रकार दोनों अभूतार्थ हैं, इसलिये अनुसरण-योग्य नहीं हैं; उनपर जोर देने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। अनेकप्रकार के निमित्त और व्यवहार भले हों, किन्तु उन किसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन नहीं होता। भूतार्थ स्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन का एक ही नियम है कि जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन होता है वहाँ-वहाँ उपादान की शक्ति से ही होता है; और जिसे-जिसे सम्यग्दर्शन होता है उसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है। अंतर में उतरकर जिस समय ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लिया उसीसमय सम्यग्दर्शन है; वहाँ सर्व निमित्त और व्यवहार एक ओर रह जाते हैं यानी उन सबका अवलम्बन छूट जाता है।

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

नियमसार और उसके कर्ता

श्री नियमसार परमागम के कर्ता श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्यदेव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में हो गये हैं। निर्ग्रंथ आचार्य भगवन्तों में भगवान कुंदकुंदाचार्य अग्रपद पर विराजमान हैं। वे अत्यन्त अध्यात्मलीन, वीतराग दर्शन के परम मर्मज्ञ, श्रुतज्ञान के महासागर समान और अनेक ऋद्धियों के निवास-भूत महामुनि थे। उन्होंने त्रिलोक पूज्य भगवान महावीर के समय से चले आ रहे मोक्षमार्ग के ज्ञान को परमपवित्र परमागमों में सुरक्षित रखकर भव्य जीवों पर अपार उपकार किया है। उन्हें भगवान महावीर का ज्ञान आचार्यों की परम्परा से प्राप्त हुआ था—इतना ही नहीं, परन्तु आठ दिवस तक महाविदेहवासी श्री सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि को साक्षात् श्रवण करने का महान् सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त हुआ था। भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव द्वारा रचित अनेक शास्त्रों में से श्री नियमसार भी एक उत्तम आध्यात्मिक शास्त्र है; उसमें [illegible] अत्यन्त आध्यात्मिक गूढ भाव भरे हैं। नयाधिराज निश्चयनय का उसमें अलौकिक निरूपण है। शुद्ध जीव, निश्चय व्यवहार चारित्र, निश्चयप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान—आलोचना—प्रायश्चित, परम समाधि, शुद्धोपयोग—इत्यादि का स्वरूप उसमें सुन्दर ढंग से समझाया गया है कि—जिससे मुमुक्षुओं की वृत्ति क्षणिक भावों की ओर से हटकर शुद्ध द्रव्य-सम्मुख होकर निजानंद में लीन हो जाए।

इस शास्त्र की मूल गाथायें १८७ हैं। उन गाथाओं पर निर्ग्रंथ मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विस्तृत संस्कृत टीका की रचना की है। टीकाकार महा-समर्थ अध्यात्मरत मुनि-भगवान हैं। टीका करते समय उन्होंने अध्यात्मरस का अद्भुत रीति से मंथन किया है; परमपारिणामिकभाव, कारणपरमात्मा इत्यादि को अति अलौकिक रीति से गाया है। टीका गद्यरूप में है और उसमें अनेक अध्यात्मरस झरते हुए मधुर पद्य हैं। टीकाकार मुनि भगवंतने मूल शास्त्र-कार के आशय को अत्यन्त स्पष्ट करके परम उपकार किया है।

[—गुज. नियमसार की प्रस्तावना से]

परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १.	६)	आत्मधर्म : फाइलें १-२-३ ५-६-७वर्ष	प्रत्येक का ३|||)
,, ,, भाग २.	५)		
,, ,, भाग ३.	४||)	कुल फाइलों का मूल्य २२||) होता है, लेकिन एकसाथ लेनेपर	१७||)
समयसार (हिन्दी) (मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	मूल में भूल	|||)
		मुक्ति का मार्ग	||=)
प्रवचनसार (हिन्दी) (मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	||)
		अष्टपाहुड़	३)
आत्मावलोकन	१)	चिद्‌विलास	१=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१|=)	दसलक्षणधर्म	|||)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	जैन बालपोथी	|)
अध्यात्मपाठसंग्रह	२||)	"लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका"	|)||
समयसार पद्यानुवाद	|)	सम्यक्‌दर्शन	१)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)||	स्तोत्रत्रयी	|=)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य [डाकव्यय अतिरिक्त]	३)	भेदविज्ञानसार	२)
		पंचमेरु पूजन	|||)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर.
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी.

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८१ ✻ वर्ष दूसरा ✻ अंक सातवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

आत्मा की गरज

जिसे अंतर में आत्मा की गरज हुई हो, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की चाह जागृत हुई हो, ऐसा जीव चैतन्य को पकड़ने के लिये एकान्त में अन्तर्मंथन करता है कि अहो ! चैतन्यवस्तु की ही महिमा कोई अपूर्व है; उसकी निर्विकल्प प्रतीति को किसी राग का या निमित्त का अवलम्बन नहीं है; शुभभाव अनंतबार किये हैं फिर भी चैतन्य वस्तु लक्ष में नहीं आई; तो वह रागसे पार चैतन्यवस्तु अन्तर की कोई अपूर्व वस्तु है; उसकी प्रतीति भी अपूर्व अन्तर्मुख प्रयत्न से होती है।—इसप्रकार चैतन्यवस्तु को पकड़ने का अन्तर्मुख उद्यम वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११५]

एक अंक
चार आना

जैनस्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

जड़ से मोक्ष माननेवाले....

एक तो कर्म के उदय से विकार होता है और दूसरे व्यवहार करते-करते निश्चय होता है;—ऐसी मान्यतावाले जीव के अभिप्राय में महान भूल है; वे आत्मा से नहीं किन्तु जड़ से ही मोक्ष होना माननेवाले हैं। किस प्रकार? वह यहाँ कहते हैं।

(१) प्रथम तो जड़कर्म के उदय से शुभाशुभ विकार होता है ऐसा माना, इसलिये व्यवहार रत्नत्रय के शुभ परिणामों का होना भी जड़ से माना; और—

(२) उस व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय होता है—ऐसा माना;

इसप्रकार—(१) जड़कर्म के उदय से व्यवहार रत्नत्रय और—

(२) व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय, तथा वह निश्चय रत्नत्रय मोक्ष का कारण—ऐसा माना।

—इसलिये उस अज्ञानी के अभिप्राय में मोक्ष के लिये आत्मा का अवलम्बन लेने की तो कहीं बात ही नहीं है; जड़ से ही मोक्ष होना माना!

मोक्ष का कारण निश्चय रत्नत्रय;

वह निश्चय रत्नत्रय व्यवहार रत्नत्रय के आश्रय से होता है; और व्यवहार रत्नत्रय जड़कर्म के उदय के कारण होता है;—इसप्रकार अज्ञानी कर्म को ही देखता है, किन्तु आत्मा को नहीं देखता, इसलिये उसे कभी मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

—तो फिर यथार्थ मोक्षमार्ग कैसा है?

ज्ञानी जानते हैं कि मेरे आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही निश्चय सम्यक्त्व ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है; निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में मेरे स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन नहीं है। स्वभाव के अवलम्बन से निश्चय रत्नत्रय प्रगट किया वहाँ व्यवहाररत्नत्रय को मात्र उपचार से उसका कारण कहा है।

और वह व्यवहाररत्नत्रय भी कर्म के उदय के कारण नहीं होते; किन्तु मेरी साधकपर्याय में इसप्रकार की योग्यता होती है, कर्म का उदय उसमें मात्र निमित्त है।

इसप्रकार धर्मी जीव स्वाश्रित मोक्षमार्ग को जानता है। जड़ के कारण विकार नहीं है और विकार के कारण स्वभाव नहीं है—ऐसा जानकर धर्मी जीव स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग की साधना करता है।

[—प्रवचन से]

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८१ 卐 वर्ष दसवाँ 卐 अंक सातवाँ

* आत्मकल्याण की अद्भुत प्रेरणा *

आत्मकल्याण के लिये झूरते हुए जिज्ञासुओं को यह लेख पढ़ने से ऐसा लगेगा कि—अहो! महा उपकारी संतों के अतिरिक्त आत्मकल्याण की ऐसी वात्सल्यभरी अद्भुत प्रेरणा कौन दे सकता है?

अरे जीव! चैतन्य के अनुभवरहित जीवन तुझे कैसे अच्छा लगता है? हे जीव! अब तो तू जागृत हो...जागृत होकर हमने तुझे जो तेरा चैतन्यस्वरूप बतलाया उसका अनुभव करने के लिये उद्यमी हो। मोह की मूर्च्छा में अब एकक्षण भी मत गँवा। चैतन्य का जीवन प्राप्त करने के लिये एकबार तो समस्त जगत से पृथक् होकर अंतर में अपने चैतन्यविलास को देख। ऐसा करने से तुझे अपूर्व कल्याण की प्राप्ति होगी। हे भाई! हे वत्स! अब तुझे इस जीवनमें यही करने योग्य है।

[१]

जिस जीव को चैतन्यस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है, और अज्ञानभाव से जड़ तथा विकार के साथ एकमेकपना मान रहा है, उसे आचार्यदेव ने समझाया कि हे भाई! तेरा आत्मा तो सदैव चैतन्यस्वरूप है, तेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा कभी जड़ के साथ एकमेक नहीं हो गया है; इसलिये हे जीव! अब तू जड़ के साथ एकमेकपने की मान्यता को छोड़ और अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को देख। जड़ से भिन्न तेरा चैतन्यतत्त्व हमने तुझे बतलाया, उसे समझकर अब तू प्रसन्न हो,—सावधान हो।

—इसप्रकार आचार्यदेवने अनेक प्रकार

से समझाया; तथापि इतने से भी कोई जीव न समझे तो पुनः उससे प्रेरणा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्व मोहम्
॥ २३ ॥

रे भाई! तू किसी भी प्रकार महा-कष्ट से अथवा मरकर भी तत्व का कौतूहली बन, चैतन्यतत्व को देखने के लिये महा प्रयत्न कर। इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का दो घड़ी पड़ौसी बनकर उनसे भिन्न अपने आत्मा का अनुभव कर। तेरे आत्मा का चैतन्यविलास समस्त पर-द्रव्यों से भिन्न है, उसे देखते ही तेरा समस्त परद्रव्यों के साथ के एकत्व का मोह दूर हो जाएगा।

[२]

यहाँ मरकर भी चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव कर—ऐसा कहकर उस कार्य की परम महत्ता बतलाई है। हे भाई! अपने सर्व प्रयत्नों को तू इस ओर ला। एक आत्मानुभव के अतिरिक्त जगत के अन्य समस्त कार्य करने में मानो मेरी मृत्यु हो गई हो—इसतरह उनसे उदा-सीन होकर, इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करने के लिये उद्यमी हो... सर्वप्रकार के उद्यम द्वारा अन्तरोन्मुख होकर अपने आत्मा को पर से पृथक् देख।

[३]

अरे जीव! चैतन्यतत्व के अनुभव रहित जीवन तुझे कैसे अच्छा लगता है? आत्मा के भान रहित जीवों का जीवन हमें तो मुर्दे जैसा लगता है। जहाँ चैतन्य की जागृति नहीं है, अरे! स्वयं कौन है उसीकी अपने को खबर नहीं है—उसे जीवन कैसे कहा जा सकता है? हे जीव! अब तो तू जागृत हो....जागृत होकर, हमने तुझे तेरा जो चैतन्यस्वरूप बतलाया उसका अनुभव करने के लिये उद्यमी हो। मोह की मूर्च्छा में अब एकक्षण भी मत गँवा। चैतन्य का जीवन प्राप्त करने के लिये एकबार तो सारे जगत से पृथक् होकर अंतर में अपने चैतन्यविलास को देख। ऐसा करने से तेरा अनादिकालीन मोह छूटकर तुझे अपूर्व कल्याण की प्राप्ति होगी।

हे भाई! हे वत्स! हम तुझ से कहते हैं कि भाई! यह कठिन नहीं है, किन्तु प्रयत्न से सरल है; सिर्फ एकबार तू जगत के समस्त परद्रव्यों से पृथक् होकर उनका पड़ौसी बन जा, और जगत से भिन्न चैतन्यतत्व को देखने के लिये कुतूहल करके अंतर में उसका उद्यमकर।—ऐसा करने से तुझे अंतर में

आनन्दसहित चैतन्य का अनुभव होगा और तेरी उलझन दूर हो जायेगी।

[४]

पर में कोई नई बात आये तो उसे जानने का कितना कुतूहल करता है! तो अनादिकाल से नहीं जाने हुए ऐसे परम महिमावंत चैतन्यतत्त्व को जानने के लिये कुतूहल क्यों नहीं करता? 'आत्मा कैसा है'—उसे जानने का एकबार तो कुतूहल कर। जगत की दरकार छोड़कर आत्मा का जानने की दरकार कर। अरे जीव! जगत का नवीन जानने में रुचि और चैतन्यतत्त्व को जानने में लापरवाही—यह तुझे शोभा नहीं देता; इसलिये चैतन्य को जानने की विस्मयता ला, और दुनिया की दरकार छोड़। दुनिया तुझे मूर्ख कहेगी, अनेकप्रकार की प्रतिकूलतायें करेगी, किन्तु उन सबकी उपेक्षा करके, अंतर में चैतन्यभगवान कैसे हैं उन्हें देखने का ही लक्ष रखना। अगर दुनिया की अनुकूलता—प्रतिकूलता में रुकेगा तो तू अपने चैतन्यभगवान को नहीं देख सकेगा; इसलिये दुनिया की दरकार छोड़कर...अकेला होकर....अंतर में अपने चैतन्यस्वभाव को देखने का महान उद्यम कर।

[५]

आचार्यदेव अत्यन्त कोमलता से प्रेरणा देते हैं कि हे बंधु! अनादिकाल से तू इस चौरासी के कूप में पड़ा है, इसमें से शीघ्र बाहर निकलने के लिये तू मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो। यहाँ "मरकर भी तत्त्व का कौतूहली होना कहा" उसमें पराकाष्ठा की बात की है। मृत्यु तक के उत्कृष्ट प्रसंग को लक्ष में लेकर तू आत्मा को देखने का कौतूहली हो...भले ही मरणप्रसंग न आये, लेकिन तू उसकी उत्कृष्ट सीमा को लक्ष में लेकर चैतन्य को देखने का उद्यम कर। 'मरकर भी' यानी शरीर जाता हो तो भले ही जाये, लेकिन मुझे तो आत्मा का अनुभव करना है। 'मरकर'—ऐसा कहा उसमें वास्तव में तो देहदृष्टि छोड़ने को कहा है। मरने पर तो देह छूट ही जाती है, किन्तु हे भाई! तू आत्मा को देखने के लिये जीते हुए भी देह की दृष्टि छोड़ दे... 'देह सो मैं'—ऐसी मान्यता छोड़ दे।

[६]

चैतन्यतत्त्व को देखने के लिये कुतूहल करने को कहा वह शिष्य की चैतन्य को देखने की लालसा और उग्रता बतलाता है। तू प्रमाद छोड़कर उग्र प्रयत्न द्वारा चैतन्यतत्त्व को देख। जिसप्रकार सर्कस आदि के नये-नये प्रसंग देखने में कुतूहल है, इसलिये टकटकी लगाकर देखता रहता है, वहां झोंके नहीं खाता, प्रमाद नहीं करता; उसीप्रकार हे भाई! शरीरादि से भिन्न ऐसे अपने चैतन्यतत्त्व को देखने के लिये जगत की प्रतिकू-

साता का लक्ष छोड़कर अंतर में कुतूहलकर; पूर्वकाल में कभी न देखे हुए ऐसे परम चैतन्यभगवान को देखने की लालसा कर...प्रमाद छोड़कर उसमें उत्साह कर।

[७]

जिसे चैतन्यतत्त्व के अनुभव की लालसा है वह जीव जगत को मृत्यु तक की प्रतिकूलता को भी कुछ नहीं समझता। सामने प्रतिकूलता रूप से मृत्यु तक की बात ली और यहाँ चैतन्य को देखने की लालसा—कुतूहल की बात ली;—इसप्रकार सामने सामने उत्कृष्ट बातें ली हैं। चैतन्यतत्त्व को देखने के लिये, शरीरान्त तक की प्रतिकूलता को लक्ष में लेकर जिसने उसकी दरकार छोड़ दी है; वह जीव संयोग की दृष्टि छोड़कर अंतर के चैतन्यस्वभाव में उन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा। जिसे असंयोगी चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने की कामना है वह जीव बाह्य में शरीर के वियोग तक की प्रतिकूलता आने पर भी आकुल नहीं होता...भयभीत नहीं होता। यहाँ यह बात भी समझ लेना चाहिए कि चैतन्य के अनुभव का कामी जीव जिसप्रकार जगत की प्रतिकूलता की परवाह नहीं करता उसीप्रकार जगत की अनुकूलता में भी वह रुचि नहीं करता, और न बाह्य अनुकूलता में संतोष मान-कर बैठता है। अंतर के शुद्ध चैतन्य-तत्त्व की महिमा ही उसके हृदय में बसती है; इसके अतिरिक्त अन्य सबकी महिमा उसके हृदय से छूट गई है; इसलिये चैतन्य की महिमा के बल से वह जीव संयोग और विकार का लक्ष छोड़कर, उन से भिन्न चैतन्यतत्त्व का अनुभव किये बिना नहीं रहेगा।

[८]

अखण्ड चैतन्य सामर्थ्य से च्युत होकर जिसे अल्पता और विकार में एकत्वबुद्धि है उसे संयोग में भी एकत्व की बुद्धि है ही; संयोग में एकत्वबुद्धि के बिना अल्पता में या विकार में एकत्वबुद्धि नहीं होती। यदि वास्तव में संयोग में से एकत्वबुद्धि छूट गई हो तो संयोग रहित स्वभाव में एकत्वबुद्धि हो जाना चाहिए।

यहाँ आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध शिष्य को समझाते हैं। हे जीव! अनादि से अपने भिन्न चैतन्यतत्त्व को चूककर, बाह्य में शरीरादि परपदार्थों के साथ एकत्व की मान्यता से तूने ही मोह उत्पन्न किया था; अब देहादि से भिन्न चैतन्य-तत्त्व की पहिचान करते ही तेरा वह मोह दूर हो जायेगा; इसलिये सर्व प्रकार से तू उसका उद्यम कर।

[९]

आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य! तू मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो!

देखो, शिष्य में बड़ी पात्रता और तैयारी है इसलिये वह मरकर भी तत्त्व का कौतूहली होने की यह बात सुनने को खड़ा है; अंतर में समझकर आत्मा का अनुभव करने की उसकी भावना है, उत्कंठा है; इसलिये जिज्ञासा पूर्वक सुनता है। उसे अंतर में इतना तो भासित हो गया है कि आचार्यभगवान मुझ से "मरकर भी आत्मा का अनुभव करना" कहते हैं, तो अवश्य मुझे भी यही करने योग्य है; किसी भी प्रकार अपने चैतन्य का अनुभव करना ही मेरा कर्तव्य है।—ऐसा शिष्य अंतर में अपूर्व प्रयत्न द्वारा अल्पकाल में ही चैतन्यतत्त्व का अनुभव अवश्य करेगा।

[५०]

जिसे अंतर में चैतन्यतत्त्व को जानने का कुतूहल जागृत हुआ और उसके लिये शरीरान्त तक की प्रतिकूलता सहन करने को तैयार हुआ, वह जीव अपने प्रयत्नद्वारा चैतन्योन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा। शरीर को छोड़कर भी मुझे आत्मा को देखना है—ऐसा लक्ष में लिया उसमें यह बात आ ही गई कि मैं शरीर से पृथक् हूँ मेरा शरीरादि परवस्तु के बिना ही चलता है। शरीर छोड़कर भी चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने के लिये जो तैयार हुआ उसे शरीर में अपनत्व की बुद्धि तो सहज ही दूर हो जाती है; शरीर छूट जाने पर भी मुझे अपने आत्मा का अनुभव रह जायेगा—ऐसा भिन्नतत्त्व का लक्ष उसे हो गया है।

हे जीव! तेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह संसार रहित है; ऐसे संसार-रहित चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने के लिये समस्त संसार पक्ष की दरकार छोड़कर तू चैतन्य की ओर उन्मुख हो; ऐसा करने से समस्त संसार से भिन्न ऐसे अपने परम चैतन्यतत्त्व का तुझे अनुभव होगा और तेरा परम कल्याण होगा।

इसप्रकार आचार्यदेवने आत्मकल्याण की अद्भुत प्रेरणा की।

"अहो! महा उपकारी संतों के सिवा आत्मकल्याण की ऐसी वात्सल्य भरी अद्भुत प्रेरणा कौन दे सकता है?

व्यवहार के आश्रय से कल्याण क्यों नहीं होता?

[मानस्तंभ–प्रतिष्ठा–महोत्सव के समय सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]
(वीर सं. २४७९, चैत्र शुक्ला ५,)

"अहो! यह पर से भिन्न मेरे ज्ञायकतत्त्व की बात है; अपने ज्ञायकतत्त्व की प्रतीति करने में किसी राग का अवलम्बन है ही नहीं"—ऐसे लक्षपूर्वक अर्थात् स्वभाव के उत्साहपूर्वक जो जीव एकबार भी यह बात सुने, वह भव्य-जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है। यह ऐसे ही सुन लेने की बात नहीं है किन्तु श्रोता पर निर्णय करने की जिम्मेवारी है।

जिसे भव की थकान लगी है और आत्मा का सम्यक् दर्शन प्रगट करके अपना कल्याण करना चाहता है,–ऐसा जिज्ञासु शिष्य पात्र होकर पूछता है कि हे भगवान! व्यवहार के आश्रय से कल्याण क्यों नहीं होता? श्री गुरु परमार्थ का आश्रय कराना चाहते हैं, और व्यवहार का आश्रय छुड़ाना चाहते हैं;–इतनी बात पकड़कर विशेष समझने के लिये जिज्ञासापूर्वक प्रश्न पूछता है। उसके उत्तर में आचार्य देव इस ग्यारहवीं गाथा में कहते हैं कि हे शिष्य! निश्चयनय ही आत्मा के भूतार्थ—परिपूर्ण स्वभाव को बतलाने वाला है और उसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है, इसलिये वही अंगीकार करने योग्य है; व्यवहारनय तो भेद को बतलाता है; उस भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये वह व्यवहार नय आश्रय करने योग्य नहीं है। "व्यवहार नय परमार्थ का प्रतिपादक है"—ऐसा पहले कहा था; वहाँ कोई उस व्यवहार को ही परमार्थ न मान ले, इसलिये आचार्य देव ने स्पष्टीकरण किया है कि भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है, व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं है। व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक कहा तथापि वह व्यवहार स्वयं करने योग्य नहीं है। अभेद स्वरूप को समझाते हुए भेद से कथन आया; वहाँ उस भेद का लक्ष छोड़कर जो अभेद स्वरूप का अनुभव करे, उसे वह भेदरूप व्यवहार परमार्थ

का निमित्त है। जो जीव भेद का अवलम्बन छोड़कर भूतार्थ स्वभाव का अवलम्बन करे, उसी को वह भेदरूप व्यवहार निमित्त कहलाता है किन्तु उस भेद का अवलम्बन करते करते उससे परमार्थ का अनुभव हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता।

देखो उसमें भी उपादान–निमित्त की बात आई।—किस प्रकार?—कि जहाँ उपादान में अभेद की दृष्टि से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हो वहाँ भेदरूप व्यवहार निमित्त है। उपादान के बिना अकेले व्यवहार को तो निमित्त भी नहीं कहा जाता। जिसप्रकार निमित्त के कारण से किसी का कार्य नहीं होता, उसी प्रकार व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ प्राप्त नहीं होता। देखो, यह निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त की बात मुख्य प्रयोजनरूप और समझने योग्य है और उसीमें लोगों की बड़ी भूल है, इसलिये व्याख्यान में बारम्बार उसकी स्पष्टता की जाती है। निमित्त के कारण से कार्य होता है, और व्यवहार करते करते उसके अवलम्बन से निश्चय प्राप्त हो जाता है-ऐसा मानने वाले दोनों एक ही प्रकार की मान्यतावाले मिथ्यादृष्टि हैं।

जिस प्रकार व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है, उसी प्रकार निमित्त भी अनुसरण करने योग्य नहीं। व्यवहार और निमित्त दोनों अभूतार्थ हैं क्यों हैं कि–निमित्त का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है, और व्यवहार एक समय पर्यंत पर्याय में है; किन्तु त्रिकाली स्वभाव में उसका स्वभाव है। इसप्रकार निमित्त और व्यवहार दोनों अभूतार्थ हैं, इसलिये वे अनुसरण करने योग्य नहीं हैं; उन पर भार देने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। व्यवहार का अवलम्बन करने से सम्यग्दर्शन होता है?–नहीं होता। निमित्त का अवलम्बन करने से सम्यग्यर्शन होता है?—नहीं होता। अनेक प्रकार के निमित्त और व्यवहार हों भले, किन्तु उन किसी के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। सम्यग्दर्शन का एक ही नियम है कि जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन होता है वहाँ-वहाँ उपादान की शक्ति से ही होता है; और जिसे सम्यग्दर्शन होता है उसे अपने भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही होता है। निमित्त की मुख्यता से कथन होता है कार्य नहीं, जीवों को समझाने के लिये उपदेश तो अनेकप्रकार से भिन्न-भिन्न शैली में दिया जाता है; किन्तु उपादान की विधि का तो एक ही प्रकार है; अंतर में उतर कर जब ज्ञायक स्वभाव को दृष्टि में लिया, उसी समय सम्यग्दर्शन है; वहाँ सभी निमित्त और व्यवहार एक तरफ रह जाते हैं—अर्थात् उन सबका अवलम्बन छूट जाता है।

अहो ! वस्तुस्थिति ही यह है; किन्तु समझाया कैसे जाये ! समझाते समय बीच में व्यवहार आ जाता है। कहा है कि:—

"उपादान विधि निरवचन
है निमित्त उपदेश"

उपदेश में तो अनेक प्रकार से कथन आता है; वहाँ निमित्त के और व्यवहार के कथन को ही अज्ञानी चिपटे रहते हैं, किन्तु यह नहीं समझते कि उस कथन का परमार्थ आशय क्या है।—क्या किया जाये !! स्वयं अन्तर में पात्र होकर स्वतंत्र वस्तुस्थिति समझे तो समझ में आये; उसकी पात्रता के बिना ज्ञानी क्या करें ? उसकी पात्रता के बिना साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी उसे नहीं समझा सकते। उपादान की योग्यता के बिना दूसरा क्या करे ? यदि उपादान की योग्यता हो तो दूसरे में निमित्त का उपचार आता है।

अहो जहाँ देखो वहाँ निजशक्ति अर्थात् उपादान की विधि का एक ही प्रकार है। अमुक समय अमुक पर्याय क्यों हुई ?-तो कहते हैं ऐसी ही उपादन की योग्यता। सम्यग्दर्शन क्यों हुआ ?—तो कहते हैं पर्याय की वैसी ही योग्यता से। इसप्रकार उपादन निरवचन है अर्थात उसमें उस नियम में कभी भेद नहीं होकर एक ही प्रकार है, एक ही उत्तर है कि ऐसा क्यों ?—तो कहते हैं कि ऐसी ही उपादान की योग्यता। यह खासतौर से ध्यान में रखना चाहिए कि "उपादान की योग्यता"—ऐसा जो बारम्बार कहा जाता है वह त्रिकाली शक्तिरूप नहीं है किन्तु एक समय की पर्याय रूप है; प्रत्येक समय की पर्याय में अपनी स्वतंत्र शक्ति है उसे उपादन की योग्यता कहा जाता है। जिसे शास्त्र में क्षणिक उपादन शक्ति कहा है। लोगों को समय-समय की पर्याय के स्वतंत्र उपादान की खबर नहीं है, इसलिये निमित्ताधीनता की दृष्टिवाले भ्रम से मानते हैं कि—निमित्त आये तो पर्याय हो; निमित्त बिना न हो, उसमें अकेली संयोगी—पराधीन दृष्टि है। अहो ! प्रति समय की पर्याय का स्वतंत्र उपादान उसका निर्णय करने में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। वस्तुस्वरूप ही यह है; किन्तु आजकल तो लोगों को यह बात कठिन मालूम हो रही है। उपादन की योग्यता कहो, पर्याय की सामर्थ्य शक्ति कहो, अवस्था की योग्यता कहो, पर्यायधर्म कहो, स्वकाल कहो, काललब्धि कहो, अपना उत्पादसत् कहो, अपना अंश कहो, क्रमबद्ध पर्याय कहो, नियत क्रमबद्ध स्वभाव कहो या उसप्रकार का पुरुषार्थ कहो—यह सब एक ही है; इनमें से यदि एक भी बोल का यथार्थ निर्णय कर ले तो उसमें सब कुछ आ जाता है। निमित्त के कारण कोई

परिवर्तन या विलक्षणता हो—यह बात ही नहीं रहती। उपदेश में तो अनेक प्रकार का निमित्त भी आता है, किन्तु वहाँ भी सर्वत्र उपादान की स्वतंत्रता को दृष्टि में रखकर उस कथन का आशय समझना चाहिए। मूल दृष्टि ही जहाँ विपरीत हो वहाँ शास्त्र के अर्थ भी विपरीत भासित होते हैं। कई लोग बड़े त्यागी या विद्वान माने जाते हैं, तथापि उनके भी उपादान-निमित्तसम्बन्धी विपरीत दृष्टि होती है; उनके साथ इस बात का मेल नहीं बैठता। यथार्थतत्त्व की दृष्टि के बिना लोगों ने यों ही त्याग की गाड़ियाँ हाँक दी हैं। अरे! तत्त्व-निर्णय की दरकार भी नहीं करते। किन्तु तत्त्वनिर्णय के बिना किसी भी प्रकार जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता! तत्त्वनिर्णय के बिना सच्चा त्याग तो होता नहीं है, इसलिये वह त्याग भी भाररूप, बंधनरूप, कष्टरूप मालूम होता है।

उपादान की विधि को निरवचन कहा, उसका अर्थ यह है कि उसमें एक ही प्रकार है। जितने प्रश्न पूछो उन सभी में एक ही उत्तर है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है वहाँ-वहाँ उपादान की योग्यता से ही होता है। उस नियम में कभी, किसी प्रकार, किसी के लिये दूसरा भेद-प्रकार नहीं है। निमित्त दर्शाने का कथन—ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान रुका?—तो वस्तुस्थिति से कहते हैं कि नहीं, अपनी योग्यता के कारण ही ज्ञान रुका है। कर्म तो निमित्त मात्र है।

गुरु के कारण ज्ञान हुआ?—कहते हैं नहीं; अपनी योग्यता से ज्ञान हुआ है।

कुम्हार ने घड़ा बनाया?—कहते हैं नहीं; मिट्टी की अपनी योग्यता से घड़ा बना है।

अग्नि से पानी गर्म हुआ?—कहते हैं नहीं; पानी अपनी योग्यता से गर्म हुआ है।

आटे में से स्त्रीने रोटी बनाई!—कहते हैं नहीं; आटे की योग्यता से रोटी बनी है।

कर्म के उदय के कारण जीव को विकार हुआ?—कहते हैं नहीं; जीव की पर्याय में वैसी योग्यता के कारण विकार हुआ है।

—इसप्रकार सर्वत्र एक ही उत्तर है कि उपादान की वैसी योग्यता से ही कार्य होता है। अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न निमित्त भले हों, किन्तु उन निमित्तों ने उपादान में कुछ नहीं किया है; और निमित्त तथा उपादान के मेल से कोई तीसरी अवस्था होती है—ऐसा भी नहीं है। उपादान की अवस्था अलग और निमित्त की अलग। निमित्त के कारण उपादान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्यों कि उपादान में उसका अभाव है।

समय-समय का उपादान स्वाधीन स्वयं सिद्ध है। अहो! ऐसी स्वतंत्रता की बात लोगों को अनन्त कालसे नहीं जमी और पराधीनता मानकर भटक रहे हैं। जिसे उपादान की स्वाधीनता का निर्णय नहीं है उसमें सम्यग्दर्शन भी प्राप्त करने की योग्यता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि जिस प्रकार उपादान में निमित्त का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव की अभेद दृष्टि में सारा व्यवहार अभूतार्थ है; शुद्धदृष्टि का विषय नित्य ज्ञानमय एकाकार शुद्ध आत्मा है; उसमें भेद या राग नहीं है। देव-गुरु-शास्त्रादि निमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है—यह बात तो दूर रही किन्तु अपने आत्मा में गुण-गुणी के भेद डालकर लक्ष में लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; भेद के आश्रय से अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता; यदि भेद के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। "मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं चारित्र हूँ, अथवा मैं अनन्त गुणों का पिण्ड अखण्ड आत्मा हूँ"—इसप्रकार शुभ विकल्प करके उस विकल्परूप व्यवहार का ही जो अनुभवन करता है, किन्तु विकल्प को तोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव नहीं करता वह भी मिथ्यादृष्टि ही है।

सम्यक्त्वी को वैसा विकल्प तो आता है, किन्तु उसकी दृष्टि अपने भूतार्थ स्वभाव पर है, विकल्प और स्वभाव के बीच उसे भेद पड़ गया है; उसके सदैव भूतार्थ स्वभाव की निर्विकल्प दृष्टि (—निर्विकल्प प्रतीति) वर्तती है। देखो, यह धर्मात्मा की अन्तर्दृष्टि! ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

आत्महित की दरकार

यह मनुष्य देह प्राप्त करके यह निर्णय करने जैसा है कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? मनुष्य भव प्राप्त करके अब मेरा हित कैसे हो—उसकी जिसे दरकार नहीं है और यों ही संसार की मेहनत-मजदूर में जीवन बिताता है उसका जीवन पशु समान है। जीवन में आत्मा की दरकार करके जिसने अभ्यास किया होगा उसे अंत समय में काम रहेगा...जीवन में जैसी भावना का मंथन किया होगा वैसा ही योगफल आवेगा। जिसे अपने आत्मा का हित करना है ऐसे आत्मार्थी जीव को चाहिए कि जीव-राजा को पहिचान कर उसकी श्रद्धा, अनुभव, सेवा और आराधना करे।

卐 धर्मात्मा का वैराग्य 卐

रागी जीव बँधता है, वैरागी जीव छूटता है

(कार्तिक कृष्णा ४ के दिन पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

ज्ञानी के वैराग्य का सच्चा स्वरूप क्या है वह इसमें बतलाया है। अज्ञानी लोग अंतर्दृष्टि को पहिचाने बिना बाहर से वैराग्य का माप निकालते हैं; बाह्य में कुछ त्याग या मंदकषाय देखें वहाँ उसे वैरागी मान लेते हैं; किन्तु वह वैराग्य का सच्चा स्वरूप नहीं है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सच्चा वैराग्य होता है। सम्यक्त्वी गृहस्थदशा में रहते हों, तथापि वे परमार्थ से वैरागी हैं...अंतर्दृष्टि में वैराग्य का परिणमन उनके सदैव वर्तता ही रहता है। अज्ञानी को सच्चा वैराग्य नहीं होता। "मैं समस्त शुभाशुभ परिणाम से पृथक् एक ज्ञायकभावस्वरूप हूँ; अपने अवलम्बन से ही मेरी मुक्ति है"—ऐसा जानकर जो जीव स्वभाव सन्मुख परिणमित हुआ वही सच्चा वैरागी है...स्वभाव के अवलम्बनरूप वैराग्यभाव मोक्ष का कारण है, और परावलम्बनरूप रागभाव बंध का कारण है—ऐसा जिनेन्द्रभगवान का उपदेश है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसी के अवलम्बन से आत्मा का मोक्षमार्ग है; इसके सिवा शुभाशुभ कर्मों के अवलम्बन से आत्मा का मोक्षमार्ग नहीं है। आत्मा का चैतन्यस्वभाव देह से भिन्न और क्षणिक राग से पार है; उस स्वभाव के सन्मुख होकर जिसने शुभाशुभ समस्त राग की रुचि छोड़ी है ऐसे सम्यग्दृष्टि—वैरागी जीव ही कर्म से छूटते हैं; किन्तु जो आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं जानते और शुभाशुभ राग को ही मोक्ष का साधन मानकर उसका सेवन करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि—रागी जीव कर्म से बँधते हैं। इसलिये हे जीव! यदि तुझे कर्मबंधन से छूटना हो तो, अशुभ और शुभ समस्त कर्मों की रुचि छोड़ और ज्ञानस्वरूप आत्मा का अवलम्बन लेकर उसी की शरण ले।—ऐसा आचार्यदेव समयसार की १५० वीं गाथा में कहते हैं:—

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते
जीवो विराग संप्राप्तः।
एषो जिनोपदेशः तस्मात्
कर्मसु मा रज्यस्व ॥ १५० ॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य प्राप्त जीव कर्म से छूटता है—यह जिन भगवान का उपदेश है; इसलिये हे भव्य जीव! तू कर्मों में प्रीति न कर।

जिसे चैतन्यस्वभाव की रुचि नहीं है और रागकी रुचि है; शुभराग करते-करते आत्मा को धर्म होगा—ऐसा मानता है—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को ही यहाँ "रागी" कहा है। और जिसे चैतन्यस्वभाव की रुचि है तथा रागकी रुचि दूर होगई है—ऐसे सम्यक्त्वी जीव को यहाँ "वैरागी" कहा है। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में स्थित हो और उसप्रकार का राग होता हो, तथापि परमार्थ से वह वैरागी है; क्योंकि राग के समय भी उसकी दृष्टि में चैतन्यस्वभाव की ही अधिकता वर्तती है। और मिथ्यादृष्टि जीव राजपाट छोड़कर त्यागी हो गया हो, वन में रहता हो, द्रव्यलिंगी दिगम्बर मुनि होकर पंचमहाव्रत का पालन करता हो, तथापि वास्तव में वह वैरागी नहीं है किन्तु रागी ही है; क्योंकि अंतर में—यह शुभराग मुझे हितकर है—ऐसे अभिप्राय से उसे रागका अवलम्बन नहीं छूटा है।

अज्ञानी लोग अंतर्दृष्टि को पहिचाने बिना बाहर से वैराग्य का माप निकालते हैं। बाह्य में कुछ त्याग या मन्द कषाय देखें तो वहाँ उसे वैरागी मान लेते हैं; किन्तु वह वैराग्य का सच्चा स्वरूप नहीं है। शुभराग करके "मैं कुछ धर्म करता हूँ"—ऐसा जो मानता है उसने तो रागको ही आत्मा माना है; इसलिये उसके तो अनंत रागका अभिप्राय विद्यमान है। राग क्या है और आत्मस्वभाव क्या है?—इस भेद की भी जिसे अभी खबर नहीं है और रागको ही अपना स्वरूप मानता है उसे सच्चे वैराग्य की गंध तक नहीं आई। चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन होने से पर का अवलम्बन छूट जाये उस का नाम वैराग्य है। ज्ञानस्वभावोन्मुख हुआ वह अस्ति, और वहाँ पर भावों से छूटा वह नास्ति;—इसप्रकार सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सच्चा वैराग्य होता है। सम्यक्त्वी को वैराग्य का परिणमन सदैव वर्तता ही रहता है।

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य—इत्यादि पापराग तो बंध का कारण है, और दया, सत्य, दानादि का पुण्यराग भी बंध का कारण है। कोई भी राग मात्र बंध का ही कारण है; उसके बदले जो शुभराग को मोक्षका साधन मानता है वह जीव मिथ्यादृष्टि है; वह शुभराग के समय भी नवीन कर्मों से बँधता ही है—छूटता नहीं है। देखो, इसमें यह बात भी आ जाती है कि जीव को अपना शुभ-अशुभ रागभाव ही बंधका कारण

है, किन्तु बाह्य जड़ की क्रिया के कारण जीव को बंधन नहीं होता; क्योंकि वह तो परवस्तु है। जो जीव परवस्तु को बंधका या मोक्ष का कारण माने उसे परवस्तु पर राग-द्वेष का अभिप्राय है और उस राग-द्वेष के अभिप्राय के कारण वह जीव बँधता ही है। बाह्य जड़ की क्रिया मेरी नहीं है और वह मुझे बंध या मोक्षका कारण नहीं है; और जो शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं वे मेरे ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं; मैं शरीर की क्रिया और शुभाशुभ परिणाम से पृथक् एक ज्ञायक स्वभावरूप हूँ; अपने अवलम्बन से ही मेरी मुक्ति है—ऐसा जानकर जो स्वसन्मुख परिणमित हुआ वह सच्चा वैरागी है और वह जीव अवश्य ही कर्मों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, यह जिनेन्द्रभगवान का उपदेश! तेरे स्वभाव के अवलम्बनरूप वैराग्यभाव वह मोक्षका कारण है, और परके अवलम्बनरूप रागभाव वह बंधका कारण है। इसके सिवा बाह्य क्रिया के कारण आत्मा को मुक्ति या बंध होते हैं—ऐसा भगवान का उपदेश नहीं है। सांसारिक व्यापार-धंधे या हिंसा-झूठ का अशुभ भाव छोड़कर अहिंसा, इत्यादि शुभभाव करें और ऐसा माने कि "वह मुझे मोक्ष के साधन हैं"—तो वह जीव वैरागी नहीं किन्तु रागी ही है; वह छूटता नहीं है किन्तु बँधता ही है। सम्यग्दृष्टि को अमुक शुभ-अशुभ राग होता है, तथापि अंतर्दृष्टि से वह वैरागी ही है और अंतर के ज्ञान-वैराग्य के बल से वह छूटता ही जाता है। रागी और वैरागी का माप करने की रीति लोगों की मानी हुई रीति से सर्वथा भिन्न प्रकार की है। जिसकी दृष्टि राग पर पड़ी है वह जीव रागी ही है; और रागरहित चैतन्यस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है वह जीव वैरागी है।

सर्वज्ञ वीतरागदेव की आज्ञा है कि हे जीव! राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर उसकी प्रीति कर, और राग की प्रीति छोड़। अपने चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन ही तेरी मुक्ति का उपाय है। शरीर-मन-वाणी की क्रिया मैं करता हूँ और वह क्रिया मुझे मोक्ष का साधन है—ऐसा माननेवाला प्राणी तो महामूढ़ है, उसे सच्चा वैराग्य कभी होता ही नहीं। और व्यवहाररत्नत्रयादि में शुभराग के परिणाम होते हैं; उन्हें मोक्ष का कारण मानकर जो उनकी प्रीति करता है वह भी मिथ्यादृष्टि है; उसे राग की प्रीति है किन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रीति नहीं है। ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञान ही हूँ; ज्ञान ही मेरा स्वभाव है; मेरे ज्ञान की और राग की एकता नहीं है किन्तु भिन्नता है;—ऐसे भान में ज्ञानी को

अपने ज्ञानस्वभाव की ही प्रीति है, किसी भी राग की प्रीति नहीं है; इसलिये वह सचमुच वैरागी है।

प्रश्नः— ज्ञानी को राग होता है, तथापि उन्हें वैरागी क्यों कहते हैं?

उत्तरः— प्रथम तो परमार्थतः ज्ञानी को राग होता ही नहीं; क्यों कि राग के समय ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञान हूँ; मेरा आत्मा ज्ञानमय है किन्तु रागमय नहीं है; राग मेरे ज्ञान से भिन्न है। और ज्ञानी को उस राग की रुचि नहीं है। राग मुझे हितकर है—ऐसा वे नहीं मानते। किसीसमय भी उनकी स्वभावोन्मुख दृष्टि हटकर राग में एकत्वबुद्धि नहीं होती;—इसलिये ज्ञानी वैरागी ही हैं। अज्ञानी अकेले राग को ही देखते हैं, किन्तु ज्ञानी का ज्ञान निरन्तर उस राग से पृथक् होकर अंतर्स्वभाव में एकाकाररूप से परिणमित हो रहा है,—परन्तु उसे अज्ञानी नहीं जानते।

यहाँ तो आचार्यदेव दो पक्ष करके बात को स्पष्ट करते हैं कि एक ओर भगवान आत्मा और दूसरी ओर कर्म। जो जीव किसी भी प्रकार के कर्म को —शुभराग को मोक्ष का साधन मानता है वह कर्म से रँगा हुआ है, उसे आत्मा का रँग नहीं लगा वह रागी होने से कर्म से बँधता ही है। और जिसे समस्त शुभाशुभ कर्मों से भिन्न चैतन्यस्वभावी आत्मा की प्रीति है वह जीव किसी भी शुभ अशुभ कर्म को मोक्ष का साधन नहीं मानता; इसलिये वह वैरागी है; वह कर्मों से बँधता नहीं किन्तु छूटता है।

चैतन्यस्वभाव के अवलम्बनरूप वीतरागी ज्ञानभाव है; उसके अतिरिक्त जितने शुभ या अशुभ रागभाव हैं वे सब बँधन के कारण हैं। जिसप्रकार पापभाव बँधन का कारण है उसीप्रकार पुण्यभाव भी बंधन का ही कारण है; इसलिये मोक्षमार्ग में समस्त शुभाशुभ कर्मों का निषेध है—ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव का आदेश है। शुभभाव भी बंधन का ही कारण है। जो बंधन का कारण हो वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से प्रगट हुए वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो ज्ञानभाव है वही मोक्ष का सच्चा कारण है; राग मोक्ष का कारण नहीं है; इसलिये हे जीव! तू ज्ञानस्वभाव की रुचि करके उसमें एकाग्र हो, राग में एकाग्र न हो—ऐसा श्री आचार्यदेव का उपदेश है।

* नेमिनाथ भगवान की दीक्षा *

सोनगढ़ में मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव प्रसंग पर भगवान की दीक्षा के पश्चात् आम्रवन में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन।
[वीर सं. २४७६, चैत्र शुक्ला ८, रविवार]

'वंदित्तु सव्वसिद्धे...' इस सूत्र द्वारा पूज्य गुरुदेव ने इस प्रवचन का मंगलाचरण किया था।

नेमिनाथ भगवान के पंचकल्याणक हो रहे हैं। उनमें आज भगवान की दीक्षा का प्रसंग है। जब भगवान ने दीक्षा ली उस दिन श्रावण शुक्ला छठवीं थी; आज अपने यहाँ भी आरोप से श्रावण शुक्ला छठवीं है और भगवान ने आम्रवन में दीक्षा ली है। भगवान ने कैसी दीक्षा ली वह अब कहा जाता है।

श्री नेमिनाथ भगवान आत्मा के भानसहित स्वर्ग में से शिवादेवी माता की कुक्षि में आये थे। माता के पेट में सवानव महिने रहे, उस समय भी देह से पार आत्मा के चिदानंद स्वभाव का भान था। सम्यग्दर्शन और मति-श्रुत-अवधि यह तीन ज्ञान तो भगवान को पहले से ही थे। मैं ज्ञानानंद आत्मा हूँ, अनंत ज्ञान-दर्शन-आनंद और वीर्य की शक्ति से परिपूर्ण हूँ—ऐसा आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो वह सम्यग्दर्शन है। अखण्ड आनंदमूर्ति आत्मा राग से और पर से भिन्न है—इस की प्रतीति अनुभव के पश्चात् ही मुनिदशा होती है। भगवान को ऐसा सम्यग्दर्शन तो पहले से था ही, और लग्न प्रसंग पर वैराग्य होने से आत्मा के अवलंबन पूर्वक वे अनित्य आदि बारह भावनायें भाने लगे। बारह भावनायें तो संवर–निर्जरा का कारण हैं; "शरीरादि अनित्य हैं"—इस प्रकार मात्र पर के लक्ष से अनित्य भावना यथार्थ नहीं होती, परन्तु नित्य एकरूप ऐसे चैतन्य-

स्वभाव के अवलंम्बन से शरीरादि अनित्य पदार्थों की ओर का राग छूट जाने से सच्ची अनित्य भावना होती है। "अनित्य भावना"—ऐसा कहा जाता है परन्तु वास्तव में उस में "अनित्य" का अवलम्बन नहीं है; परन्तु नित्य ऐसे ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन है। सम्यग्दर्शन के बिना बारह भावनायें यथार्थ नहीं होती। भगवान ने कैसी बारह भावनायें भायी थीं, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। भगवान ने तो सम्यग्दर्शन सह चिदानंद स्वभाव के अवलम्बन से बारह भावनायें भायी थीं।

अहो! मैं चिदानंद नित्य हूँ, और रागादि क्षणिक अनित्य हैं, वे मेरे नित्य स्थायी स्वरूप में स्थित रहनेवाले नहीं है; शरीरादि का संयोग और राग वह कृत्रिम उपाधि और दुःखरूप है, मेरा ज्ञानानंद स्वभाव तो अकृत्रिम नित्य आनंदकंद है—ऐसी भावना से शरीरादि की ओर का राग कम हो जाए उसका नाम भावना है। उसमें जो शुभराग है वह वास्तव में भावना नहीं है; परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से जो वीतराग भाव हुआ है वही सच्ची भावना है, और वही संवर-निर्जरा का कारण है—भगवान ने ऐसी भावना भायी थी।

अज्ञानी जीवों की दृष्टि बाह्य के ग्रहण-त्याग पर है, परन्तु वास्तव में पर पदार्थों का ग्रहण-त्याग आत्मा में कभी है ही नहीं। आत्मा में "त्यागोपादानशून्यत्व" है, इसलिये वह पर वस्तु के ग्रहण-त्याग से त्रिकाल शून्य है। आत्माने वस्त्र को छोड़ा और वस्त्रों को छोड़ने से मुनित्व हो गया—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, परन्तु वे दोनों बातें मिथ्या हैं। आत्मा वस्त्र से तो त्रिकाल रहित है, आत्माने अपने में कभी वस्त्रों का ग्रहण किया ही नहीं, तब फिर आत्मा वस्त्रों को छोड़े यह बात ही कहाँ रही; और वस्त्र छूटकर शरीर की निर्ग्रंथदशा हुई; उस आधार से कहीं मुनित्व नहीं है। हाँ, मुनित्व के समय शरीर की वैसी दशा होती अवश्य है, परन्तु मुनित्व तो आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई वीतरागी दशा में है। चैतन्य के अनुभव में लीन होने पर वीतरागी मुनिदशा प्रगट हुई और राग

की उत्पत्ति ही नहीं हुई वहाँ "आत्मा ने राग को छोड़ा"—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में राग उत्पन्न हुआ और उसे छोड़ा—ऐसा नहीं है। और राग छूटने पर राग के निमित्तरूप वस्त्रादि परिग्रह भी स्वयं छूट गए, वहाँ आत्माने उस परिग्रह को छोड़ा—ऐसा कहना वह उपचार मात्र है वास्तव में उन वस्त्रादि की क्रिया का कर्ता नहीं है।

भगवान तो अपने आनंदकंद स्वरूप में झूलते थे और सहज अतीन्द्रिय आनंद रूपी अमृत का अनुभव करते थे। त्रिकाल के मुनियों की दशा आत्मा के सहजानंद में झूलती हुई होती है; देह पर वस्त्र का धागा भी नहीं होता। अंतर स्वरूप में झूलते झूलते राग सहज ही कम होजाता है इसलिये वस्त्रादि के ग्रहण की वृत्ति ही अंतर में नहीं उठती और बाह्य में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं होता। अभी जिसे ऐसी मुनिदशा का भान न हो उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, तब फिर बारह भावनायें और मुनित्व तो कहाँ से होगा। देखो, यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की भावना की बात है। मैं अखण्डानंद चैतन्य ज्योति हूँ, राग का एक अंश भी मुझे हितरूप नहीं है, देहादि कोई पदार्थ मुझे शरण रूप नहीं है; मेरा ध्रुव आत्मा ही मुझे शरण रूप है—ऐसी अंतरदृष्टि पूर्वक आत्मा में विशेष लीनता होने से अस्थिरता का राग छूट जाए उसका नाम भावना है; और वह संवर है। "मैं त्रिकाली ज्ञायक तत्त्व हूँ, प्रमत्त-अप्रमत्त ऐसे भेद भी मेरे त्रिकाली स्वरूप में नहीं है"—ऐसी दृष्टि प्रथम होना चाहिए, पश्चात् उस में लीनता से मुनिदशा प्रगट होती है। ऐसी मुनिदशा में झूलते हुए भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव समयसार की छठवीं गाथा में कहते हैं:—

> णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो
> जाणओ दु जो भावो।
> एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ
> सो चेव ॥

अहो! मेराआत्मा अप्रमत्त या प्रमत्त पर्याय जितना नहीं है, मेरा आत्मा तो एक ज्ञायक भाव है; अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे दो भेदों के विकल्प से मैं आत्मा को खण्डित नहीं करता, किन्तु अखण्ड ज्ञायकभाव रूप से आत्मा का अनुभव करता

हूँ। देखो यह मुनिदशा! नेमिनाथ भगवान ने आज ऐसी मुनिदशा प्रगटी की। "मैं ज्ञायक चिदानंद हूँ"—ऐसी दृष्टि तो थी, फिर उसमें लीन होकर भगवान ने मुनिदशा प्रगट की। वह मुनिदशा कहीं बाहर से प्रगट नहीं हुई है, परन्तु अंतर में चिदानंदपिण्ड आत्मा के अनुभव से वह दशा प्रगट हुई है। अहो! उस मुनिदशा के आनंद की क्या बात! धन्य है उस दशा को! धन्य वह अवसर!

श्री नेमिनाथ भगवान राजकुमार थे; आत्मा का भान था परन्तु अभी अस्थिरता का राग होता था। राजुल को विवाहने के लिये जा रहे थे और बीच में पशुओं का आर्तनाद सुनकर वैराग्य हुआ और अनित्य अशरणादि बारह भावनायें भाकर भगवान ने दीक्षा ली; अस्थिरता का भी राग छोड़कर भगवान मुनि हुए। समस्त तीर्थंकर भगवन्त वैराग्य होने पर बारह भावनायें भाते हैं। पूर्व काल में शांतिनाथ आदि तीर्थंकरों ने भी ऐसी भावना भा कर दीक्षा ली थी। इस समय महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर भगवान विराज रहे हैं, उन्होंने भी दीक्षा से पूर्व यह बारह भावनायें भायी थीं। ज्ञानानंद स्वरूप के अवलंबन से ही यह बारह भावनायें यथार्थ होती हैं। ध्रुव स्वरूप की दृष्टि पूर्वक उस में लीनता द्वारा अध्रुव रागादि भाव छूट जाएँ उसका नाम सच्ची अनित्य भावना है। बारहों भावनाओं में अवलंबन तो एक आत्मा का ही है।

अहो! मेरा चिदानंद ध्रुव आत्मा ही मुझे शरण है, इसके अतिरिक्त संयोग तो क्षणिक हैं वे कोई मुझे शरण रूप नहीं हैं; रागादि भाव भी मुझे शरण रूप नहीं हैं; अपने आत्मस्वरूप का आश्रय लूँ वही मुझे शरणरूप है।—इस प्रकार अपने ध्रुव स्वभाव के अवलंबन से ही सच्ची अशरण भावना होती है। जिसे अंतर में चैतन्य की शरण भासित हुई हो उसी को सच्ची अशरण भावना होती है। शांतिनाथ कुंथुनाथ और अरहनाथ यह तीनों तीर्थंकर तो चक्रवर्ती थे, परन्तु अंतर में भान था कि इस छह खण्ड के राजवैभव में कोई भी हमें शरणभूत नहीं है, अपने

चिदानंद आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई हमें शरण नहीं है। हमारा ज्ञायकमूर्ति आत्मा ही हमें शरण रूप है। अंतर में आनंदकंद चैतन्य ज्योति भरी है, सिद्धस्वरूपी चैतन्य सामर्थ्य हमारी आत्मशक्ति में भरा है वही हमें शरण है। सीमंधर वर्तमान में विराज रहे हैं—वे, और दूसरे अनंत तीर्थंकर ऐसी भावना भाकर मुनि हुए थे। शरणभूत ऐसे चैतन्य का अवलंबन लेकर उस में लीन होने से बाह्य में 'यह मुझे अनुकूल और प्रतिकूल'—ऐसा विकल्प ही नहीं उठता। कोई भी संयोग मुझे इष्ट अनिष्ट नहीं है ऐसा वीतरागी अभिप्राय तो पहले से ही था, और तदुपरांत अब चैतन्य में लीनता होने से ऐसी वीतरागी परिणति हो गई कि कोई भी अनुकूल—प्रतिकूल प्रसंग में राग-द्वेष की वृत्ति भी नहीं उठती। ऐसी मुनिदशा है। भगवान ने आज ऐसी दशा प्रगट की।

मुनिदशा में भगवान को तो आत्मा के सहज आनंद की अलौकिक मस्ती थी। चैतन्य-समूह में से आनंद के स्रोत बहते थे। जिस प्रकार पर्वत में से शीतल झरना बहता है, उसी प्रकार भगवान के अंतर के चैतन्य पर्वत में से आनंद के झरने बहते थे........परम शांत रस की धारा बहती थी........अपूर्व अमृत के फव्वारे छूटते थे। अहो! भगवान ने अन्तर में उतर कर आनंद के सागर में डुबकी लगाई। मुनिदशा में भगवान को ऐसे आनंद का अनुभव था कि बड़े-बड़े इन्द्र और चक्रवर्तियों को उतना आनंद नहीं होता। इन्द्रादि जो सम्यग्दृष्टि हैं उनके वैसे अतीन्द्रिय आनंद का अंश होता है, परन्तु मुनिदशा जितना आनंद उनके नहीं होता। मुनिदशा जैसे आनंद का नमूना होता है, परन्तु उतना आनंद नहीं होता। मुनिके तो आनंद का अनुभव बहुत बढ़ गया है, वे तो आत्मानंद सागर में मग्न हैं। अहो। उस आनन्द सागर में झूलने वाले संतों की क्या बात करें! वे तो पंच परमेष्ठी पद में सम्मिलित हो गये हैं और केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है।

मेरे आत्मा के त्रिकाली स्वभाव से एकत्व है और पर से पृथक्त्व

है—इसप्रकार स्वभाव की भावना करके उसमें एकाग्रता द्वारा भगवान आनंद का अनुभव करते थे। आत्मा आनंद का पर्वत है, उसमें अन्तर्लीनता द्वारा ध्यानरूपी शस्त्र मारकर भगवान ने अतीन्द्रिय आनंद प्रगट किया। चौथे गुणस्थानवाले इन्द्रादि को मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान हों और पांचवें गुणस्थानवाला कोई साधारण श्रावक हो, अरे! तिर्यंच हो और उसे अवधिज्ञान भी न हो, तथापि इन्द्र के आनंद की अपेक्षा उस पाँचवें गुणस्थानवाले तिर्यंच का आनंद बहुत बढ़ गया है। और छटवें-सातवें गुणस्थानवाले मुनिको तो बहुत ही आनन्द बढ़ गया है, अंतर में खूब लीनता द्वारा वे तो आनन्द के अनुभव में मग्न हैं; कहीं बाह्य संयोगों में से आनन्द नहीं आता, परन्तु आत्मा स्वयं आनंद का सागर है, उसमें डुबकी लगाकर जितना एकाग्र हो उतना आनंद का अनुभव होता है। बाह्य संयोगों से आनंद मिलता हो, तब तो इन्द्रको सबसे अधिक आनंद आये; परन्तु ऐसा नहीं है। मुनियों को नग्नावस्था में जंगल में रहने और सर्दी-गर्मी सहन करने का किंचित् भी दुःख नहीं है। मुनि तो आत्मा के आनंद में ऐसे लीन हैं कि बाह्य संयोगों पर लक्ष ही नहीं जाता; और लक्ष जाए तो वहाँ राग-द्वेष नहीं होता। पहले अपनी स्वतंत्र पर्याय की अशक्ति से रागद्वेष होते थे; अब मुनिदशा में स्वभाव की एकाग्रता के पुरुषार्थ से रागद्वेष नहीं होते।

जिसप्रकार नरियल के अंदर रहनेवाला सफेद मीठा गोला वह बाहर की छाल और नरेली और लाल छाल से पृथक् है, उसीप्रकार भगवान अपने भिन्न चैतन्यतत्त्व की भावना करते थे कि—अहो! मेरा आनंदकंद चैतन्य गोला इस शरीररूपी छाल से, कर्म रूपी नरेलीसे और रागरूपी ललाई से पृथक् है। इस प्रकार भिन्न चैतन्य की भावना भाकर भगवान उसमें ऐसे लीन हो जाते कि—"मैं देह में हूँ, अथवा मैं तीर्थंकर हूँ, मैं मुनि हूँ और केवलज्ञान प्रगट करूँ"—ऐसे कोई भी विकल्प नहीं रहते थे। आत्मा के आनंद के अनुभव मे ऐसी लीनता हुए बिना किसी जीव को

मुनिदशा नहीं होती; और अंतर में ऐसी मुनिदशा होने से बाह्य में शरीर पर वस्त्रादिका ग्रहण नहीं होता। अंतर में तो राग-द्वेष रहित भावनिर्ग्रंथता और बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह रहित द्रव्यनिर्ग्रंथता —इसप्रकार भावसे और द्रव्यसे निर्ग्रंथ दशा हुए बिना किसी जीव को तीनकाल में मुनित्व नहीं होता और मुनिदशा के बिना केवलज्ञान या मुक्ति नहीं होती।

भगवान को खबर थी कि मैं इसी भव में केवलज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर होनेवाला हूँ, मैं इसी भव में सिद्ध होनेवाला चरमशरीरी हूँ, परन्तु चारित्रदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। मैं अब मुनि होकर वीतरागी चारित्र और केवलज्ञान प्रगट करना चाहता हूँ। वैराग्य होने पर भगवान ऐसी भावनायें भाते थे। मेरा आत्मा पवित्र ज्ञायक स्वरूप है; रागादि भाव तो मलिन हैं और देह अशुचिमय है।—ऐसी अशुचि भावना में शरीरादि के प्रति द्वेष भाव नहीं है; परन्तु चैतन्य के पवित्र स्वभाव के साथ मिलान कर शरीरादि को अशुचि कहा है। जहाँ चैतन्य स्वभाव में लीनता हुई वहाँ शरीर के प्रति किंचित् ग्लानि नहीं है;—इस का नाम सच्ची अशुचि भावना है। पर द्रव्य के प्रति ग्लानि का भाव आये तो वह द्वेष है।

मुनि होने से पूर्व भी "मैं अनंत गुणों का धाम चिदानंद पवित्र हूँ"—ऐसी आत्मदृष्टि पूर्वक भगवान कभी-कभी निर्विकल्प अनुभव करते थे। उस समय अस्थिरता का राग था, अब मुनि होने के पश्चात् तो भगवान को अस्थिरता का राग भी छूट गया, और बारम्बार आत्मा में लीन होकर निर्विकल्प आनंद का अनुभव करने लगे। मुनिदशा में भगवान को वन के कष्ट नहीं थे। परन्तु भगवान तो आत्मा के आनंद में झूलते थे। अहो! वीतरागी चारित्रदशा में मुनिवरों को कष्ट नहीं है, परन्तु परम आनंद है। बाह्य में कष्ट सहन करने को अज्ञानी लोग संवर और तप मानते हैं परन्तु संवर और तप तो अंतर की वीतरागी दशा में है, उसे वे नहीं जानते। भगवान ने तो स्वरूप के आनंद में झूलते झूलते आत्मा में से ही संवर और तप प्रगट किये

थे। देखो, यह भगवान की दीक्षा! दीक्षाकल्याणक कहो अथवा तप-कल्याणक कहो; मोक्षमार्ग कहो अथवा मुनिदशा कहो; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता या वीतरागता कहो—ऐसी दशा आज भगवान ने अपने आत्मा में से प्रगट की है, उसीका यह महोत्सव है।

अहो! परमानन्दमय सिद्ध दशा कारण रूप ऐसे चारित्र और तप भी सुखदायी हैं। परन्तु अज्ञानी उस चारित्र और तप को दुःखरूप कष्टदायक मानकर उसका अना-दर करते हैं। चारित्रवंत मुनिराज को देखकर जिसे करुणा से ऐसा विचार आवे कि "अरे रे! बेचारे इन मुनिको कितना दुःख है!"—तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है; उसे मुनि की अंतरंग दशा का भान नहीं है। अरे! चारित्र तो आनंद-दायक है, चारित्र और तप में मुनियों को किंचित् भी कष्ट नहीं है; मुनि तो आत्मा के आनंद में झूलते हैं....अंतर के उपशम रस सागर में आत्मा झूलता है—ऐसी चारित्रदशा है और तप में चैतन्य का प्रतपन है। प्रतिक्षण चैतन्य की शुद्धता और आनंद में वृद्धि होती जाए उसका नाम तप है। जिस-प्रकार गेरू के रंग से सुवर्ण में झलक आ जाती है उसी प्रकार अंतर में एकाग्रता रूपी रंग से चैतन्य का प्रतपन होना, शोभित होना-उग्रता होना उस का नाम तप है, उसमें चैतन्य के आनंद की झलक है। उस आनंद के अनुभव में एकाग्र होने से बाह्य आहार की वृत्ति छूट जाती है। अंतर की आनंद दशा के बिना बाह्य में आहारादि का त्याग करें वह कहीं सच्चा तप नहीं है। आत्मा के भान बिना बाह्य में शरीर की नग्नदशा अनंतबार की, और आहारको छोड़कर उपवास किए। परन्तु वह चारित्र या मुनित्व नहीं है। भगवानने जो नग्नदशा धारण की वह तो अंतर में आनंद के अनुभव सहित थी। मुनित्व हो वहाँ शरीर की नग्नदशा ही होती है, परन्तु मुनित्व कहीं शरीरादि की दशा में नहीं रहता, मुनित्व तो आत्मा की अंतर दशा में है। पंचमहाव्रत के शुभ विकल्प में भी वास्तव में चारित्र नहीं है; आत्मा का चारित्र प्रथक् वस्तु है, राग प्रथक् वस्तु है और

शरीर की दिगम्बरदशा पृथक्वस्तु है,—तीनों भिन्न-भिन्न हैं; किसी के कारण कोई नहीं है। "मैं वस्त्र-त्याग करके मुनि हो जाऊँ; मैं पंच-महाव्रत का पालन करूँ"—ऐसे शुभ विकल्प में से कहीं भगवान की मुनिदशा नहीं आयी थी; भगवानने तो अंतरस्वभाव में डुबकी लगाकर उसमें से मुनिदशा प्रगट की है। देखो, यह भगवान की मुनिदशा! अरे जीव! एकबार तो इस मुनि-दशा का स्वरूप सुन....लक्ष में ले!

अहा! आज तो नेमिनाथभगवान के वैराग्य का प्रसंग देखकर और राजुल की वैराग्य भावना सुनकर आँखों में आँसू आजाते थे.... आज तो भगवान के वैराग्य का अद्भुत दृश्य नेत्रों के सामने से नहीं हटता! ऐसा लगता है मानो भगवान साक्षात् दीक्षा ले रहे हों! इस सौराष्ट्र में ही गिरनार के सहस्राम्रवन में भगवानने जो दीक्षा ली थी उसकी यहाँ स्थापना की जा रही है....देखो, यहाँ सहस्राम्रवन में भगवान दीक्षा ले रहे हैं! ऐसा लग रहा है मानो भगवान साक्षात् पधारे हों! (गुरुदेव के इन उद्गारों का हजारों श्रोताओं ने अत्यन्त हर्ष-पूर्वक तालियों से स्वागत किया था।) अहो! यह वन भी प्राकृतिक सह-सावन जैसा मालूम होता है। गिरनार का सहस्रावन तो यहाँ से ४०—५० कोस दूर है, परन्तु यहाँ तो दूर को भी निकट ला दिया है। भगवानने तो लगभग ८५००० हजार वर्ष पूर्व दीक्षा ली थी; परन्तु रुचि के बल से काल का अन्तर निकालकर भक्त कहते हैं कि भगवान इसीसमय इस आम्रवन में दीक्षा ले रहे हैं; जैसा दीक्षा का प्रसंग ८५००० हजार वर्ष पहले गिरनार के आम्रवन में हुआ था, वैसा ही इससमय यहाँ हो रहा है। हमारे इस आम्रवन में हमारे सामने ही भगवान दीक्षा ले रहे हैं....

अहो! आज नेमिनाथभगवान भाव से और द्रव्य से दिगम्बर हुए....धन्य है वह दशा! धन्य है वह घड़ी! निर्ग्रंथ होने के पश्चात् भगवान आत्मध्यान में लीन हुए, और तुरन्त ही पहले सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान प्रगट हुआ। मुनि दशा की त्रिकाल ऐसी ही स्थिति है कि प्रथम आत्मध्यान में सातवाँ

गुणस्थान प्रगट होता है और पश्चात् विकल्प उठने पर छठवाँ गुणस्थान आता है। मुनि आनंदकंद आत्मा में झूलते हैं; उनके तीन प्रकार की कषायों का तो नाश हो गया है, मात्र अत्यन्त मंद संज्वलन कषाय शेष रही है, इसलिये वस्त्रादि ग्रहण की, रक्षण की इच्छारूप तीव्र कषाय-भाव उनके होता ही नहीं; मुनियों की दशा त्रिकाल दिगम्बर ही होती है। अनादि जैनशासन में मुनियों की ऐसी ही सहजदशा होती है। मन-वचन-काय से करना, कराना और अनुमोदन करना—इसप्रकार नवों प्रकार से परिग्रह छूट जाता है; पश्चात ही मुनिदशा होती है। यदि अंतर में परिग्रह की शल्य पड़ी हो तो मुनिदशा नहीं होती।

लोग तो आत्मा को भूलकर बाह्य में दीक्षा मान बैठे हैं, परन्तु दीक्षा तो आत्मशिक्षापूर्वक होती है। दीक्षा और परिग्रह में मुनियों को कष्ट नहीं है, परन्तु आत्मा की अपूर्व शांति है। प्रतिकूल प्रसंग हो और उसमें कष्ट मालूम हो—उसका नाम परिग्रह नहीं है, कष्ट का भाव तो द्वेष है—पाप है। चाहे जैसे प्रसंग पर राग-द्वेष का भाव न हो और चैतन्य में लीनता बनी रहे उसका नाम परिषह है। ऐसा परिषहमार्ग अच्यवनपने का और निर्जरा का कारण है। बाह्य में परिषह के चाहे जैसे निमित्तों के समय आत्मा की पर्याय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र से अच्युतपना रहे और शुद्धता की वृद्धि हो उसका नाम परिषह है। कहाँ मुनिवरों का ऐसा परिषह! और कहाँ अज्ञानियों का माना हुआ परिषह! प्रतिकूल संयोग आ जायें और राग-द्वेष की वृत्ति हो वह कहीं परिषह नहीं है, परन्तु उस समय आत्मा को वीतरागी शांति से च्युत न होने का नाम परिषह है। अहो! दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वीतरागी आनंद में झूलता हुआ मुनिमार्ग है, उस आनंद के अनुभव से च्युत न होना वह परिषह है। परिषह में मुनियों को दुःख नहीं है परन्तु आनंद है।

देखो, यह बात चौदह ब्रह्माण्ड में सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा रजिस्टर्ड हो गई है! अनंत तीर्थंकर यही मार्ग लेकर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, और ऐसा ही मार्ग जगत को बतला

गये हैं। इससमय महाविदेह में एक ही मार्ग जयवन्त चल रहा है। सभी दिगम्बर संत यह एक ही मार्ग बतला गए हैं। कुंदकुन्दाचार्यदेव, समन्तभद्राचार्यदेव, पद्मनन्दि मुनिराज अथवा धरसेनाचार्यदेव—इत्यादि किन्हीं भी मुनि को लो, उन सबकी यह एक ही धारा चली आ रही है। तीर्थंकर और संत—मुनियों ने जो बात कही है वही यहाँ कही जा रही है। मुक्ति प्राप्त करना हो तो जगत को यह बात मानना ही पड़ेगी; इसके अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से तीनकाल में किसी की मुक्ति नहीं होती।

नेमिनाथ भगवान को अवधिज्ञान था और उन्हें खबर थी कि "इसी भव में मेरे अनादि संसार का अन्त होना है और अब मेरी सादि-अनंत सिद्धदशा का प्रारम्भ होना है; अब मुझे नया भव धारण नहीं करना है, यह अन्तिम अवतार है।" इसप्रकार भगवान को वैराग्य हुआ और दीक्षा ग्रहण की। अहो! तीर्थंकर के वैराग्य की क्या बात करें! वैराग्य होने के पश्चात् वे संसार में नहीं रुकते। आज भगवान के वैराग्य का अद्भुत प्रसंग है। वैराग्य होते ही भगवान तो दीक्षा लेकर वन में चले गये। भगवान गिरनार के आम्रवन में गये, यह तो संयोग का कथन है; वास्तवमें अंतर के चैतन्यवन में—जहाँ अपूर्व ज्ञान और आनंदरूपी आमों की फसल पकती है, ऐसे आम्रवन में—भगवान विलीन हो गये....भगवान ने अन्तर की चैतन्यगुफा में प्रवेश किया....वन में विचरने वाले भगवान को दुःख नहीं था परन्तु आत्मा के आनंद की मौज थी; अन्तर में शांति की धारायें बहती थीं। अज्ञानियों को तो भगवान के इस आनंद की कल्पना भी कहाँ आ सकती है?

समस्त तीर्थंकर भगवन्तों को दीक्षा के पश्चात् आत्मध्यान की अपूर्व जागृति में सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान और मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होता है; और तीर्थंकरों को क्षपकश्रेणी ही होती है, उनके सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान अनेक बार आता-जाता रहता है, परन्तु उपशम श्रेणी नहीं होती—सीधी

क्षपक श्रेणी ही होती है। अहो! छठवें-सातवें गुणस्थान में मुनि आत्मा के सहजानंद में झूलते हैं। चलते-फिरते और आहार लेते समय भी बारम्बार निर्विकल्प अप्रमत्तदशा हो जाती है; हाथ में आहार का ग्रास हो और मुनि तो निर्विकल्प होकर अंतर में चैतन्यपिण्ड का स्वाद लेते हैं। प्रमाद दशा में मुनि दीर्घकाल तक नहीं रहते। मुनियों को इतनी आत्मजागृति बढ़ जाती है कि निद्रा उड़ जाती है, एकसाथ अधिक कालतक निद्रा नहीं होती; निद्रा का काल अत्यल्प है, पूरे एक घन्टे भी निद्रा नहीं होती, क्योंकि छठवें गुणस्थान का काल अल्प है। निद्रा कम है इसलिये कोई कष्ट नहीं है, परन्तु अंतर में आत्मजागृति का अपूर्व आनंद है। अरे! अल्पकाल निद्रा हो उस समय भी कभी ज्ञायकदृष्टि की मुख्यता नहीं हटती, और उस-समय भी छठवें गुणस्थान जितनी आत्मजागृति वर्तती है।

जिसे द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता का भान हो और आत्मा में काफी एकाग्रता वर्तती हो उसीको मुनि-दशा होती है। जिसे द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता की खबर न हो, और ऐसा मानता हो कि कर्म के उदय से विकार होता है, उसे तो मुनि-दशा की गंध भी कहाँ से होगी? सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी मुनिदशा के लिये महान पुरुषार्थ की आवश्यकता है। वस्त्रत्याग अथवा स्वस्थ शरीर—किन्हीं बाह्य कारणों के कारण मुनिदशा नहीं होती, परन्तु आत्मा स्वयं कर्ता होकर मुनि-दशा प्रगट करता है; मुनिदशा के छहों कारकों रूप आत्मा स्वयं परिणमित होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—यह तीनों जब आत्मा अपने पुरुषार्थ से करता है तब होते हैं, आत्मा के अन्तर्मुख पुरुषार्थ के बिना वे नहीं होजाते। चैतन्यस्वभाव में अन्तर्मुख होने से राग दूर हो जाता है, राग को दूर करने लिये कोई भिन्न पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। प्रथम ज्ञायकस्वभाव का दृष्टि करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है; उसके कर्ता रूप से आत्मा ही परिणमित होता है; सम्यग्दर्शन के पश्चात् बारह भावनाओं रूपी वीत-

रागी परिणति तथा मुनिदशा होती है, वह भी आत्मा स्वयं अपनी कर्तृत्वशक्ति से ही करता है; उस-उस अवस्था के छहों कारकों रूप आत्मा स्वयं परिणमित होता है। भगवान का आत्मा स्वयं छह कारकों रूप होकर आज वीतरागी मुनिदशा रूप परिणमित हुआ। मुनिदशा में चार ज्ञान सहित आत्मा के आनंद में झूलते-झूलते कुछ काल व्यतीत होने पर भगवान ने सर्वथा अंतर्मुख शुक्लध्यान की अखंड-अप्रतिपात श्रेणी लगायी और पूर्ण ज्ञान प्रगट किया।

—इसप्रकार आज भगवान की दीक्षा का महामांगलिक दिवस है।

क्या निमित्त के बिना कार्य होता है?
—ऐसी दलील का स्पष्टीकरण

नैमित्तिक कार्य और निमित्त—वह दोनों स्वतंत्र हैं,—ऐसी स्वतंत्रता की बात चल रही हो, उस समय निमित्ताधीन दृष्टिवाले जीव कहते हैं कि 'क्या निमित्त के बिना कार्य होता है?'

इस सम्बन्ध में रात्रिचर्चा में की गई स्पष्टता निम्नानुसार है—

(१) प्रथम तो जब यहाँ निमित्त का काल है उसी समय सामनेवाले नैमित्तिक पदार्थ में भी उसकी अवस्था होती ही है। निमित्त के काल के समय क्या नैमित्तिक का काल नहीं है? प्रतिसमय जगत के सभी पदार्थों में नैमित्तिक पर्याय हो ही रही है; इसलिये 'निमित्त बिना नहीं हो सकता'—यह प्रश्न ही उसमें नहीं रहता। ऐसा एक भी समय खाली नहीं है कि जगत के पदार्थों में अपनी-अपनी नैमित्तिकपर्याय न होती हो।

(२) यहाँ नैमित्तिक अवस्था होता हो और सामने निमित्त न हो—ऐसा तो कभी होता ही नहीं। जब नैमित्तिक कार्य होता है तब निमित्तपने की योग्यतावाले पदार्थ जगत में होते ही हैं। निमित्त किस समय नहीं है?

(३) 'यह निमित्त है'—ऐसा जो

कहा जाता है वहीं ऐसा सूचित करता है कि उसी समय सामने नैमित्तिक कार्य का अस्तित्व है। यदि नैमित्तिक कार्य है तो परवस्तु को उसका निमित्त कहा जाता है। नैमित्तिक कार्य हुए बिना तो परवस्तु को निमित्त भी नहीं कहा जाता; क्योंकि नैमित्तिक के बिना निमित्त किसका? इसलिये 'निमित्त' ही तब कहलाया कि जब नैमित्तिक कार्य है। नैमित्तिक कार्य होने से पूर्व दूसरी वस्तु को निमित्त कहा ही नहीं जाता; और जब निमित्त कहा जाता है तब तो यहाँ नैमित्तिककार्य विद्यमान है, इसलिये 'निमित्त के बिना नहीं हो सकता'—इस बात को अवकाश ही नहीं रहता।

❀ ❀ ❀

❀ जगत के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय अपनी नैमित्तिक पर्याय हो ही रही है।

❀ नैमित्तिक पर्याय के समय सामने निमित्त होता ही है।

❀ जब यहाँ निमित्त की पर्याय होने का समय है तब सामनेवाली वस्तु की भी उसकी नैमित्तिक पर्याय होने का समय है।

❀ नैमित्तिक कार्य हुए बिना दूसरी वस्तु को निमित्त नहीं कहा जाता।

❀ नैमित्तिक कार्य हुआ है तभी परवस्तु को निमित्त कहा जाता है।—इसप्रकार नैमित्तिक कार्य की और निमित्त की स्वतंत्रता है।

यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि शास्त्रों में जहाँ ऐसी दलील की जाती है कि—'निमित्त के बिना कार्य नहीं होता;' वहाँ वह उस जीव को उचित निमित्त का ज्ञान समझाने के लिये है, जो छह द्रव्यों को मानता ही नहीं—आत्मा के सिवा परवस्तु का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। वह दलील निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये है। किन्तु जो जगत में छह द्रव्यों को स्वीकार करते हैं; नैमित्तिक और परनिमित्त दोनों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, स्वतंत्रता मानते हैं, उनके सामने भी यह दलील करना कि—'क्या निमित्त के बिना कार्य होता है?' तो वह तो मात्र निमित्ताधीन दृष्टि का आग्रह है; अतः उन्हें स्वतंत्रता की बात नहीं रुचती।

मुद्रक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर.
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी.

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

मगसिर-पौष २४८१ * वर्ष दसवाँ * अंक ८-९

सम्पादक
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मुक्ति का पहला सोपान

अन्तर के चिदानन्द स्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता से राग दूर करके जिन्होंने सर्वज्ञता प्रगट की उन सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्य-ध्वनि में ऐसा उपदेश आया कि—अरे आत्मा! तूने अपने मुक्त स्वभाव की ओर कभी उन्मुखता नहीं की; तेरा आत्मा एक समय में परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द स्वभाव से परिपूर्ण है, उसे पहिचान-कर उसकी प्रतीति कर। अंतरात्मा में एकाग्र होने से राग दूर हो जाता है और सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; इसलिये राग वह तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है किन्तु पूर्ण ज्ञान वह तेरा स्वरूप है।—इस प्रकार राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना यह मुक्ति के उपाय का पहला सोपान है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११६-११७]

एक अंक
चार आना

जैनस्वाध्याय मन्दिर • सोनगढ़ सौराष्ट्र

चैतन्य की साधना

अन्तर की चैतन्य-वस्तु अपूर्व सूक्ष्म है।

—वह ज्ञान के विकास या कषाय की मंदता से दृष्टि में नहीं आ सकती।

—मैं समझकर दूसरों को सुनाऊँ—ऐसी जिसकी भावना है उसे आत्मार्थ का लक्ष नहीं है।

—वह तो उसकी समझ में आ सकता है जो आत्मार्थी होकर स्वयं अपना हित करना चाहता हो।

—ज्ञान का विकास अलग वस्तु है और अंतर्दृष्टि का परिणमन वह कोई अलग वस्तु है।

—चैतन्य-वस्तु को किसी अन्य का सम्बन्ध है ही नहीं; तब फिर जो पर को समझाने की बुद्धि से समझना चाहता है उसके अभी पर के सम्बन्ध की रुचि का जोर है; असंगी चैतन्यतत्त्व की सच्ची रुचि नहीं है।

—चैतन्य सत्ता का अस्तित्व पर के या पुण्य-पाप के कारण नहीं है, किन्तु पर के और राग के संबन्ध रहित चैतन्य सत्ता स्वयं स्वभाव से ही है। ऐसी वर्तमान प्रवर्तित चैतन्य सत्ता को अंतर्दृष्टि में पकड़ना ही अनादि के मिथ्यात्व का नाश करके अपूर्व सम्यक्त्व होने की रीति है।

आत्मधर्म

मार्गशीर्ष-पौष : २४८१ 卐 वर्ष दसवाँ 卐 अंक ८-९

धर्मवर्द्धक दिव्यध्वनि और उसके यथार्थ श्रोता

[केवलज्ञान-कल्याणक प्रसंग का प्रवचन]

भगवान को शुद्धनय के अवलम्बन के बल से केवलज्ञान होने पर भावमोक्ष हुआ...उनकी कही हुई शुद्धनय के अवलम्बन की बात जो समझ ले उसे वर्तमान में दृष्टि-अपेक्षा से मोक्ष हो गया है और अल्पकाल में भावमोक्ष हो जाएगा।—इसप्रकार भगवान की वाणी का यथार्थ श्रोता स्वयं भी अल्पकाल में भगवान हो जाता है .....

[सोनगढ़ में मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय में श्री नेमिनाथ भगवान के केवलज्ञान-प्रसंगपर भगवान की दिव्यध्वनिरूप पूज्य स्वामीजी का प्रवचन : वीर संवत् २४७९, चैत्र शुक्ला ९]

देखो, अभी यहाँ नेमिनाथ भगवान को केवलज्ञान हुआ।

किस प्रकार हुआ ?—अपने भूतार्थ स्वभाव का संपूर्ण आश्रय लेने से केवलज्ञान हुआ। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान-कल्याणक का महोत्सव मनाया और दिव्य समवशरण की रचना की; उस समवशरण में भगवान के सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरी और सब श्रोताजन अपनी-अपनी भाषा में अपनी योग्यतानुसार समझे। भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया कि—हे जीवो! आत्मा त्रिकाल केवलज्ञान शक्ति से परिपूर्ण है; प्रत्येक आत्मा एक समय में केवलज्ञान प्राप्त करने की शक्तिवाला है। उस शक्ति का विश्वास करके उसमें अन्तर्मुखता से ही सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान होता है। हमने इसी विधि से केवलज्ञान प्राप्त किया है और तुम्हें भी

केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये यही विधि है।

भगवान का उपदेश धर्मवृद्धि का ही निमित्त है। पूर्वकाल में साधकदशा में धर्मवृद्धि के विकल्प से वाणी के रजकण बँधे; वह धर्मवृद्धि के भाव से बँधी हुई वाणी दूसरे जीवों को भी धर्मवृद्धि का ही निमित्त है। आत्मा का पूर्णस्वभाव बतलाकर उसका आश्रय करना ही भगवान की वाणी बतलाती है। भगवान की वाणी में पराश्रय भावों का भी ज्ञान कराया है, परन्तु वे पराश्रय भाव छुड़ाने के लिये उनका ज्ञान कराया है। और ग्यारहवें गुण-स्थान से जीव गिर जाता है और कोई जीव अनन्त संसार में भटकता है— ऐसा भगवान की वाणी में आया - उसमें भी परोन्मुख करने का आशय नहीं है परंतु धर्मवृद्धि का ही आशय है। जो जीव परोन्मुखता का आशय निकालते हैं वे जीव वास्तव में भगवान की वाणी को नहीं समझे हैं। जगत में अनंत संसारी जीव हैं और अभव्य जीव भी हैं,—परंतु वह बात अपने लिये नहीं है, वह तो जगत के ऐसे परजीवों का ज्ञान करने के लिये है। जिसे अनंत संसारीपने की या अभव्यपने की शंका है वह जीव भगवान की वाणी श्रवण करने के लिये अपात्र है। भगवान की वाणी में ऐसा आवे कि—यह जीव सुपात्र है, यह जीव एक-दो भव में मोक्ष प्राप्त करने वाला है, अमुक जीव तीर्थंकर होनेवाला है; अमुक जीव गणधर होने वाला है—वहाँ सुपात्र जीव अपनी योग्यतानुसार समझ लेता है कि अमुक बात मेरे लिये है। जो जीव अपने में अभेददृष्टि और स्वाश्रय भाव प्रगट करके धर्म की वृद्धि करे वही धर्म का सच्चा श्रोता है, उसीने भगवान की वाणी को अपने में धर्मवृद्धि का निमित्त बनाया है। समयसार में आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने अपने में स्वाश्रय से धर्म प्रगट किया उसीने भगवान की वाणी सुनी है और जिसने अपने में अपूर्व धर्म प्रगट नहीं किया उसने आत्मा की बात सुनी ही नहीं है, भगवान की वाणी के शब्द कानों में पड़ने पर भी उसने आत्मा की बात कभी सुनी ही नहीं है। देखो यह निमित्त-नैमित्तिक की अपूर्व संधि।

पूर्वकाल में साधकदशा में जब भगवान को विकल्प था, तब धर्मवृद्धि का विकल्प था, धर्मवृद्धि के भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बँध हुआ और केवल ज्ञान होने पर दिव्यध्वनि खिरी; उस दिव्यध्वनिका उपदेश भी धर्मवृद्धि का ही कारण है। जो श्रोता अभेद ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन लेकर अपने में धर्म की वृद्धि करे उसी को

भगवान की वाणी धर्म का निमित्त है। वाणी में तो सब बात आती है, परन्तु जो श्रोता उसमें से धर्मवृद्धि का आशय नहीं निकालता किन्तु व्यवहार के पक्ष का आशय निकालता है वह सच्चा श्रोता नहीं है; भगवानकी वाणी को अपने धर्म का निमित्त बनाने की उसमें योग्यता नहीं है। उपादानमें जितनी योग्यता हो उतना आरोप वाणी में आता है। भगवान की दिव्य-वाणी का यथार्थ श्रोता उसे कहते हैं कि जो जीव शुद्धनय के अवलम्बन का आशय समझकर अपने में धर्म की वृद्धि करे। अनंत संसार में भटकने-वाले जीवों की बात करके भगवानने तो उस जाति के अन्य जीवों का ज्ञान कराया है, वह भी अपने लिये तो धर्म की वृद्धि का ही निमित्त है। उसके बदले जो जीव विपरीत आशय निकालकर ऐसी शंका करता है कि 'भगवान ने ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर संसार में भटकनेवाले जीव देखे हैं; अगर मैं भी संसार में भटका तो ?'—ऐसी शंका करने वाला मिथ्यादृष्टि है। और कोई ऐसा माने कि कर्म के जोर के कारण ही जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है,—तो वह भी मिथ्यादृष्टि है; वह वास्तव में धर्मकथा नहीं किन्तु बंधकथा ही सुनता है। उसके संयोग दृष्टिवाले नैमित्तिक-भाव में बंधभाव का ही पोषण है इस-लिये निमित्त में भी बंधकथा का आरोप करके कहा कि वह बंधकथा ही सुनता है।

निमित्त और नैमित्तिक भाव की संधि सहित जो श्रवण हो उसीको आचार्यदेव धर्मश्रवणरूप से स्वीकार करते हैं। जो मात्र वाणी या रागके लक्ष से सुने वह सच्चा श्रोता नहीं है, किन्तु वाणी और रागका लक्ष छोड़कर जो जीव आत्मा के स्वभाव को लक्ष में ले वही सच्चा श्रोता है। भगवान की वाणी धर्मवृद्धिका निमित्त है, इसलिये जिसने अपने में शुद्ध आत्मा का आश्रय करके धर्मवृद्धिका भाव प्रगट किया उसीने वास्तव में भगवानकी वाणी सुनी है।—इसप्रकार जिसने भगवानकी दिव्यध्वनि सुनी उसे द्रव्यदृष्टि से, स्वसन्मुखता के बलसे अल्पकाल में मुक्ति हो जाती है। भगवानने स्वयं अपने परमार्थ स्वभाव के आश्रय से भावमुक्ति प्रगट की है और दिव्यध्वनि में भी परमार्थ-स्वभाव का आश्रय करने को कहा है। जिसने अपने में परमार्थस्वभाव की दृष्टि प्रगट की वह भगवान का सच्चा श्रोता और भक्त हुआ; अब अल्पकाल में स्वभाव का पूर्ण आश्रय प्रगट करके वह भी भगवान जैसा मुक्त हो जायेगा। शुद्धनय के अवलम्बन के बल से केवलज्ञान होने पर भगवान

* शुद्ध आत्मा का अनुभव *

जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! शुद्ध आत्मा की अनुभूति कैसे होती है? पर्याय में विकार होने पर भी आत्मा का शुद्धरूप अनुभव कैसे हो सकता है?

आचार्य देव उत्तर देते हैं कि—हे भाई! भूतार्थ स्वभाव के निकट आकर आत्मा का अनुभव करने से शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है; पर्याय में विकार होने पर भी वह द्रव्य स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हो गया है, इसलिये द्रव्य स्वभाव का अनुभव करने से आत्मा का शुद्ध रूप से अनुभव होता है। ऐसा शुद्ध स्वभाव पर्याय-पर्याय में प्रकाशमान है, कभी उसका अभाव नहीं है।

पर्याय में मति-श्रुतज्ञानादि प्रकार होने पर भी भूतार्थ स्वभाव के सन्मुख होकर देखने से आत्मा नित्य एकरूप व्यवस्थित है। मतिज्ञान के छोटे में छोटे अंश से लेकर परिपूर्ण केवलज्ञान तक की समस्त पर्यायों में आत्मा का स्वभाव नित्य व्यवस्थित है; कम और अधिक ऐसे भेद उसमें नहीं हैं। मतिज्ञान के समय स्वभाव सामर्थ्य कुछ कम हो गया हो और केवलज्ञान के समय बढ़ गया हो—ऐसा नहीं है; स्वभाव-सामर्थ्य तो सदैव ज्यों का त्यों अवस्थित है। ऐसे स्वभाव सामर्थ्य को प्रतीति में लेकर उसका आश्रय करने से पर्याय में शुद्धता की वृद्धि अवश्य होती जाती है, किन्तु उस समय साधक की दृष्टि तो एकरूप व्यवस्थित स्वभाव पर ही पड़ी है; भेद और अशुद्धता उस की दृष्टि में अभूतार्थ हैं। नित्य व्यवस्थित ऐसे भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि में हीनाधिकता के प्रकार दिखाई नहीं देते। ऐसे स्वभाव की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

जिस प्रकार सोना पीलेपन, भारीपन इत्यादि अनेक गुणों का पिण्ड है; उसमें "पीला वह सोना" -इस प्रकार पीलेपन को पृथक् करके लक्ष में लेने से संपूर्ण सोना लक्ष में नहीं आता; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा भी अनंतगुणों का पिण्ड एक समय में परिपूर्ण वस्तु है; उसे एक गुण के भेद करके लक्ष में लेने पर संपूर्ण वस्तु लक्ष में नहीं आती, किन्तु विकल्प की उत्पत्ति होती है। व्यवहार से देखने पर वस्तु

को भावमोक्ष हुआ और उनकी कही हुई शुद्धनय के अवलम्बन की बात जो समझे उसे वर्तमान में दृष्टि अपेक्षा से मोक्ष हुआ और अल्पकाल में साक्षात् मोक्ष हो जाएगा। इसप्रकार भगवान की वाणी का यथार्थ श्रोता स्वयं भी अल्पकाल में भगवान हो जाता है।

"अब हो कब धर्मचक्र [illegible]-की, और उसके यथार्थ श्रोताकी......"

में गुण-पर्याय के भेद हैं वे भूतार्थ-विद्यमान हैं; किन्तु उन भेदों की सन्मुखता से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती—राग की उत्पत्ति होती है। धर्म की उत्पत्ति तो नित्य एक स्वरूप से अवस्थित ऐसे अभेद आत्मस्वभाव की सन्मुखता से धर्म होती है। उस अभेद-वस्तु के अनुभव में गुण-पर्याय के भेद अभूतार्थ हैं। अभेद स्वभाव का अवलम्बन लिया वहाँ भेद का अवलम्बन छूट गया, इसलिये वह भेद अभूतार्थ है; उसी प्रकार अन्तर्मुख होकर शुद्ध द्रव्य का अनुभव किया वहाँ अशुद्धता अभूतार्थ है; द्रव्य के स्वभाव में अशुद्धता का प्रवेश नहीं है; इसलिये द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

वस्तु तो एक समय में समस्त गुणों का परिपूर्ण पिण्ड है; उसके सन्मुख होकर अनुभव करने से आत्मा के सम्यक् स्वभाव का अनुभव होता है। उसके बदले जो जीव भेद के विकल्प से लाभ मानकर वहीं रुक जाता है; वह वस्तु स्वभाव से दूर है। गुण-भेद के विकल्प से अखण्ड वस्तुस्वभाव में नहीं पहुँचा जा सकता। भेद के अवलम्बन से राग की उत्पत्ति होती है, और राग से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। अशुद्धता या भेद के आश्रय से लाभ मानने से शुद्ध स्वभावरूप सम्पूर्ण वस्तु का अनादर होता है। जिसका आश्रय करने से सम्यक्दर्शनादि का लाभ होता है, ऐसे शुद्ध द्रव्य को तो अज्ञानी जीव जानता नहीं है और पर्याय की हीनाधिकता जितना ही अपने को अनुभव करता है, इसलिये पर्यायबुद्धि में उसे अशुद्धता ही भासित होती है—आत्मा का शुद्ध स्वभाव भासित नहीं होता। ऐसे जीवों को आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे जीव! क्षणिक रागादि पर्याय जितना ही तू नहीं है; तेरा भूतार्थ स्वभाव नित्य परिपूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड है; वह अशुद्ध नहीं हो गया है; इसलिये उस भूतार्थ स्वभाव के सन्मुख होकर तू आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्रतीति कर। ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव होने के पश्चात् भी धर्मात्मा को साधक दशा में गुण-भेद का विचार आता है; पर्याय की हीनाधिकता के अनेक प्रकारों को जानता है किन्तु भेद के आश्रय से लाभ की बुद्धि उसके भी नहीं होती; शुद्ध द्रव्य की दृष्टि छूटकर किसी अन्य की मुख्यता उसे नहीं होती। इस प्रकार स्वभाव की दृष्टि रखकर गुण-भेद का जो विचार आता है उसमें अस्थिरता का राग है; वह सिर्फ चारित्र का दोष है, किन्तु उसमें श्रद्धा का दोष किंचित् भी नहीं है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव की दृष्टि न करे और अकेले भेद के विचार में ही रुककर लाभ माने उसके तो श्रद्धा का दोष है, उसने तो

राग को ही वस्तु मान लिया है, इसलिये उसके मिथ्यात्व है। चैतन्य के भूतार्थ स्वभाव का अवलम्बन ही एक कल्याण का मार्ग है। भूतार्थ स्वभाव के अतिरिक्त गुण भेद के विचार से लाभ माने तो वह भी संसार का ही कारण (—मिथ्यात्व) है; तब फिर दूसरे स्थूल राग से या बाह्य में शरीरादि जड़ की क्रिया से जो लाभ मानता उसकी तो बात ही कहाँ रही? देखो; भेद का विकल्प आता है वह कहीं मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु उस विकल्प के अवलम्बन से धर्म मानना वह मिथ्यात्व है। धर्मी जीव गुण-भेद के विकल्प का कामी नहीं है; उसकी दृष्टि में तो शुद्ध अभेद स्वभाव एक ही भूतार्थ है, और भेद तथा अशुद्धता अभूतार्थ है। भूतार्थ-दृष्टि में उसे शुद्ध आत्मा सदैव समीप ही वर्तता है और विकल्प उसकी दृष्टि में से दूर हो गये हैं। जो जीव अशुद्धता और भेद के विचार में ही अटका है और एकाकार ज्ञायक स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता उसे राग की समीपता है और शुद्ध आत्मा उससे दूर है। भेद दृष्टि से भगवान आत्मा समीप नहीं है किन्तु दूर है, और अभेद दृष्टि से देखो तो अंतर में चैतन्य भगवान सदैव समीप ही है। अभेद स्वभाव की निकटता में राग की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु शुद्धता की ही उत्पत्ति होती है; और उसकी निकटता छोड़कर यदि भेद की या राग की मुख्यता हो तो वहाँ मिथ्यात्व होता है और शुद्ध आत्मा उससे दूर है। विकल्प के अवलम्बन द्वारा शुद्धात्मा के अनुभव तक नहीं पहुँचा जा सकता। भेद के आश्रय से स्वभाव में एकता नहीं होती किन्तु राग की उत्पत्ति होती है। चैतन्य स्वभाव की दृष्टि से देखने पर रागादि अशुद्ध भाव अभूतार्थ रूप हैं; इसलिये भूतार्थ स्वभाव की दृष्टि करने से उन रागादि भावों से रहित ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है।

शिष्य ने पूछा था कि पर्याय में विकार होने पर भी शुद्ध आत्मा का अनुभव किस प्रकार हो सकता है? उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव ने यह बात समझाई है। हे भाई! पर्याय में विकार देखकर तू अकुला मत, क्योंकि तेरा संपूर्ण स्वभाव विकार रूप नहीं हो गया है; तेरा द्रव्यस्वभाव तो एक रूप शुद्ध है; उस स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अनुभव करने से विकार रहित शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि करे तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसी शुद्ध स्वभाव की अपूर्व दृष्टि गृहस्थाश्रम में भी हो सकती है; अरे! आठ वर्ष की बालिका हो, सिंह हो, या मेंढक हो—वे भी अन्तर्मुख होकर ऐसी दृष्टि प्रगट कर सकते हैं। ऐसी दृष्टि प्रगट करके शुद्ध आत्मा का अनुभव किये बिना किसी जीव को धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

उमराला नगरी में मंगल-प्रवचन

॥卐॥

[विहारकाल में पूज्य गुरुदेव का यह पहला प्रवचन है। माघ कृष्णा तृतीया के दिन सोनगढ़ से विहार करके पूज्य गुरुदेव उमराला पधारे और वहाँ "श्री कहानगुरु जन्मधाम" का तथा "उजमबा जैन स्वाध्याय-गृह" का उद्घाटन हुआ। उस दिन का यह प्रवचन है। ग्राम्य जनता भी चैतन्यतत्त्व की बात को कुछ समझ सके—इस रीति से पूज्य गुरुदेवने अपनी विशिष्ट एवं सरल शैली से इस प्रवचन में समझाया है।]

आज इस उमराला में तत्त्वज्ञान-तरंगिणी की वचनिका प्रारम्भ होती है। आज विहारका प्रथम दिन है इसलिये इस नये शास्त्र का प्रारम्भ होता है। इस में सबसे पहले श्लोक में मंगलाचरणरूप से शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नमस्कार करते हैं—

प्रणम्य शुद्धचिद्रूपं सानंदं जगदुत्तमं।
तल्लक्षणादिकं वच्मि तदर्थि तस्य लब्धये ॥ १ ॥

यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है सो आनन्द सहित है, और जगत में उत्तम है; ऐसे आत्मा को ही यहाँ नमस्कार किया है। शास्त्रकार कहते हैं कि मैं आत्मा का अर्थी हूँ, इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये मैं उसे नमस्कार करता हूँ।

जिसप्रकार बड़ी नदी में पानी की तरंगें उठती हैं, उसीप्रकार आत्मा में तत्त्वज्ञान की तरंगें उठे—ऐसी यह बात है। जहाँ पानी भरा हो वहाँ तरंगें उठती हैं; उसीप्रकार आत्मा में ज्ञान और आनन्द भरे हैं, उसमें एकाग्र होने से ज्ञान-आनन्द की तरंगें उठती हैं।

इस देह मन्दिर में रहनेवाला आत्मा क्या वस्तु है—वह जीवोंने अनंतकाल में कभी नहीं जाना। आत्मा अनादि-अनंत वस्तु है; न तो वह नया हुआ है और न उसका कभी नाश होता है। आत्मा को किसी ईश्वर ने बनाया नहीं है; माता के पेट में आया उस समय वह नया नहीं हुआ है; किन्तु अनादि से देह से

जिवे उसकी पहिचान होने से स्वयं को भी आनन्द का अनुभव होता है और वह जगत में उत्तम है।

ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व को जबतक जीव न जाने तब तक उसके व्रत-तपादि—सब अरण्यरोदन के समान व्यर्थ हैं। जिस प्रकार इकाई रहित शून्यों का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार सच्ची समझ के बिना चाहे जितना करे, तथापि वह शून्य समान है—उससे किंचित् भी धर्म नहीं होता। चैतन्य की पहिचान के बिना दूसरा सब तो अनन्तबार किया है, वह कुछ भी अपूर्व नहीं है। अहो! जिस चैतन्य स्वरूप को समझकर संतों ने उसे प्राप्त कर लिया, वैसा मेरा स्वरूप क्या है?—यह समझना अपूर्व है। अहो! इस जगत में आनन्द का धाम और उत्तम तत्त्व तो मेरा चैतन्य भगवान है; मेरा आत्मा ही जगत में उत्तम और आनंदधाम है। चैतन्य का आनंद बाह्य में नहीं है और चैतन्य स्वभाव के अतिरिक्त जगत में दूसरा कोई उत्तम नहीं है। पुण्य-पाप भावों में या विशाल महलों और पैसादि बाह्य पदार्थों में आनन्द नहीं है, तथा वे उत्तम नहीं हैं; वह सब तो अनन्तबार मिल चुका है। चैतन्य स्वरूप आत्मा की प्राप्ति पूर्व अनन्त काल में कभी नहीं की। जगत में सर्वोत्कृष्ट उत्तम तत्त्व तो चैतन्य स्वरूप आत्मा है और वह आनन्द सहित है;—ऐसे शुद्ध चिद्रूप परमात्मतत्त्व को उसकी प्राप्ति के हेतु यहाँ नमस्कार किया है।

जिन शासन का सार

सर्व जिनशासन का सार क्या?—ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा वह सर्व जिनशासन का सार है। आत्मा का स्वभाव क्या, विकार क्या, और पर क्या—इन तीनों को जानकर विकार और पर से भिन्न ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव में सन्मुख होकर एकाग्र होना वह जैनशासन है। जिसने शुद्ध आत्मा को जाना उसने सर्व जिनशासन को जाना है; और जो अपने आत्मा को नहीं जानता उसने जैन शासन को नहीं जाना है। जैन शासन कोई बाह्य वस्तु नहीं है, किन्तु शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही जैन शासन है और वह आत्मा की वीतरागी निर्मल पर्याय है। जिनशासन के सर्व शास्त्रों का तात्पर्य यही है कि अपने शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें एकाग्र होना। जो जीव पर्याय को अन्तरोन्मुख करके वीतराग भाव प्रगट करे वह स्वयं ही जिनशासन है, और सर्व शास्त्रों के सार को उसने जाना है, शास्त्र समुद्र में पड़ा हुआ परम चैतन्य रत्न उसने प्राप्त कर लिया है।

हे भव्य ! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापन कर

अरे जीव ! अभी तक तो तेरा काल बन्धमार्ग में बीता, किन्तु अब तू मोक्षमार्ग में स्थित हो! "अरे रे! अभीतक मिथ्यात्व भावों को सेवन किया, तो अब मोक्षमार्ग कैसे होगा?"—इस तरह तू उलझन में मत पड़ना; क्योंकि अनादिकाल से अपनी विपरीत बुद्धि के प्रयत्न से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करके आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित किया जा सकता है। इसलिये हे भव्य! अब तू अपने आत्मा को निश्चय रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्ग में अति दृढ़ रूपसे स्थापित कर।

आत्मस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। मोक्ष के इच्छुक पुरुषको ऐसा एक निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग ही सदैव सेवन करने योग्य है। ऐसे मोक्षमार्ग का उपदेश देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य!

'मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं
चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं
मा विहार्षीरन्य द्रव्येषु ॥४१॥'

तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा की स्थापना कर, उसीका ध्यान कर, उसीको चेत—अनुभव और उसीमें निरंतर विहार कर; अन्य द्रव्यों में न विहर।

सामने श्रोतारूप से मोक्षार्थी जीव खड़ा है, उसे सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भव्य! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। यहाँ आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित करने को कहा, उसमें यह बात आगई कि अभीतक आत्मा मोक्षमार्ग में स्थित नहीं हुआ है किन्तु रागादि बंधभावों में ही स्थित है; और अब उन बंधभावों से छूट कर मोक्षमार्ग में स्थित होना वह अपने स्वाधीन प्रयत्न से होता है। हे भव्य! तेरा आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के दोष से पर द्रव्य में—राग द्वेषादिमें निरंतर स्थित रहा है, तथापि अपनी प्रज्ञाके गुण द्वारा ही उसमें से विमुख करके उसे अति निश्चलरूप से निरंतर दर्शन-ज्ञान चारित्रमें स्थापित कर।

अनादिकाल से अपनी बुद्धि के अपराध के कारण ही जीव मिथ्यात्वादि बंधमार्ग में रुक गया है; कर्मोंने जीव को संसार परिभ्रमण कराया हो ऐसा नहीं है। यदि कर्म ही जीव को संसार में भटकाते हों तो आत्मा को

मोक्षमार्ग में स्थित करने का उपदेश हो ही नहीं सकता। यदि कर्म ही जीव को परिभ्रमण कराते हों तो कर्मोंको सम्बोधन करके ऐसा कहना चाहिये कि "अरे कर्म! अब तू आत्मा को छोड़! लेकिन यहाँ तो जीव को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भव्य! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर, सम्यग्दर्शन–ज्ञान चारित्र में निश्चलरूप से स्थापित कर! अभीतक तूने ही अपनी विपरीत बुद्धि के कारण अपने आत्मा को बंधमार्ग में स्थापित कर रखा था, और अब तू ही अपनी बुद्धिको अन्तरोन्मुख करके अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। तेरा मोक्षमार्ग तेरे ही हाथ में है। यदि अपने मोक्ष का प्रयत्न अपने ही हाथ में न हो—पर के हाथ में हो तो जीव को मोक्षमार्ग में स्थापित करने का उपदेश व्यर्थ जाये। अनादि संसार से—जब नित्य-निगोद था तब भी जीव अपने विपरीत भाव के कारण ही वहाँ रहा था। इस प्रकार बंधमार्ग में जीव के अपराध की स्वतंत्रता बतलाकर आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे जीव! अभी तक तो तेरा काल बंधमार्ग में व्यतीत हुआ, किन्तु अब तो तू मोक्षमार्ग में स्थित हो! "अरे रे! अभीतक मिथ्या-भावों का सेवन किया तो अब मोक्षमार्ग कैसे हो सकेगा!"—इस प्रकार तू आकुलता मत; क्योंकि अनादि से अपनी विपरीतबुद्धि के कारण मिथ्या-भावों का सेवन किया है, तथापि अपनी सीधी बुद्धि के प्रयत्न से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की आराधना करके आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित किया जा सकता है। इसलिये हे भव्य! अब तू अपने आत्मा को निश्चय रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में अतिदृढ़रूप से स्थापित कर।

देखो, ऐसा मोक्षमार्ग का उपदेश सुननेवाले श्रोता का कितना उत्तर-दायित्व है?

राग से धर्म मनानेवाले कुदेव कुगुरु को मानता हो; तो वह अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित नहीं कर सकता। यहां प्रथम यथार्थ मोक्ष-मार्ग बतलानेवाले सच्चे देव-गुरु को ही वह मानता है।

दूसरे जो जीव निमित्त से लाभ-हानि होना मानता हो अथवा व्यवहार रत्नत्रय के शुभराग को मोक्षका कारण मानता हो वह भी आत्मा को निश्चय रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में स्थापित करने का उद्यम नहीं कर सकता। जो जीव मोक्षमार्ग का उद्यमी है वह किसी भी पर के या राग के अवलम्बन से मोक्षमार्ग होना नहीं मानता।

कर्मों का उदय मुझे विकार करायेगा ऐसी जिसकी दृष्टि हो, वह

भी मोक्षमार्ग का उद्यम नहीं कर सकता। यहाँ तो जिसे बंधमार्ग में और मोक्षमार्ग में—दोनों में अपनी स्वतंत्रता भासित हुई है और अंतर में अब मोक्षमार्ग की साधना का उत्साह जागृत हुआ है ऐसे जीव से आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भव्य! निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र स्वरूप एक ही मोक्षमार्ग है, उसी में तू अपने आत्मा को निश्चल रूप से स्थापित कर। "मुझ से मोक्षमार्ग नहीं हो सकता"—ऐसी शंका श्रोता को भी नहीं होती।

जो जीव योग्य बनकर विनयपूर्वक श्रवण करने आया है और आत्महित के सिवा दूसरा कोई जिसका हेतु नहीं है; ऐसे भव्य जीव को आचार्यदेव मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं कि हे जीव! तेरे आत्मा की निश्चय-श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र रूप मोक्षमार्ग है, उसमें तू अपने आत्मा को स्थिर कर। "चैतन्य स्वभाव ही मैं हूँ" परन्तु ऐसा न समझकर, "राग द्वेष और शरीर ही मैं हूँ"—ऐसा मानने से तो अज्ञानभाव से अभीतक निरन्तर विकार में ही एकाग्र हुआ; किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है—ऐसा समझकर हे भव्य! अब तू उससे विमुख हो-विमुख हो, और निर्विकार चैतन्य मूर्ति स्वभाव के सन्मुख उसमें स्थिरता कर—यही तेरे हितका मार्ग है।

हे जीव! न तो तुझे किसी दूसरे ने परिभ्रमण कराया है और न कोई दूसरा तुझे तारने वाला है; लेकिन तू अपनी प्रज्ञाके दोष के कारण ही संसार में भटका है और अब अपनी प्रज्ञाके गुण द्वारा ही संसार से विमुख होकर मोक्षमार्ग में स्थिर हो।

प्रज्ञाका दोष यानी क्या?

चैतन्य स्वभाव की महत्ता स्वीकार करके उस ओर ज्ञान उन्मुख न होकर, राग ही मैं हूँ—ऐसा मानकर राग में ही वह ज्ञान एकाग्र हुआ वह प्रज्ञाका दोष है; उसी के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है।

प्रज्ञाका गुण यानी क्या?

शुद्ध चैतन्य स्वभाव ही मैं हूँ, राग मैं नहीं हूँ; इस प्रकार अंतर में भेदज्ञान करके, ज्ञान राग से पृथक होकर चैतन्यस्वभाव में एकाग्र हुआ उसका नाम प्रज्ञा का गुण है, वह मोक्षका कारण है। प्रज्ञाका गुण, कहने से उसमें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी मोक्षमार्ग आ जाता है। हे जीव! तू प्रयत्न द्वारा अपने आत्मा को ऐसे मोक्षमार्ग में स्थापित कर,—ऐसी अचलरूप से स्थापना कर कि बीच में कभी टूट पड़े बिना अल्पकाल में मुक्त दशा प्रगट हो जाये।

यहाँ आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित करने को कहा, यानी शुद्ध

द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन लेकर तू अपने आत्मा में मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट कर। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। शुद्ध आत्मा का आश्रय लेकर जिसने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र प्रगट किये उसने अपने आत्मा को बँधमार्ग से विमुख करके मोक्षमार्ग स्थापित किया है। शुद्ध आत्मा के आश्रय से प्रगट हुए निश्चय रत्नत्रय ही नियमरूप से मोक्षमार्ग हैं, उससे भिन्न दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। उसके बदले तो जीव व्यवहार रत्नत्रय को ही मोक्ष का कारण मानता है, उसने शुद्ध आत्मा को जाना ही नहीं है; इसलिये शुद्ध आत्मा का आश्रय न करके राग का ही आश्रय करके वह जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! निश्चय सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप यथार्थ मोक्षमार्ग को पहिचानकर तू निरन्तर उसी में अपने आत्मा को निश्चल रूप से स्थापित कर।

और मोक्षमार्ग की विशेष प्रेरणा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! समस्त अन्य चिन्ता निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन—ज्ञान—चारित्र को ही ध्या। शुद्धात्म द्रव्य से एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह आत्मा के साथ ही अभेद है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय के साथ अभेदरूप ऐसे शुद्ध आत्मा को ही तू ध्या। उसका ध्यान करने से अन्य समस्त चिन्तायें छूट जाती हैं। —इस प्रकार आचार्यदेवने अस्ति नास्ति से मोक्षमार्ग समझाया है।

मोक्षमार्ग शुद्ध ज्ञानचेतनामय है। शुद्ध ज्ञानचेतनामें सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र तीनों समा जाते हैं। शुद्ध-ज्ञान-चेतनामय होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र के अनुभव में एकाग्र हुआ वहाँ पुण्य-पाप या हर्ष-शोक का अनुभव नहीं रहता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! समस्त कर्मचेतना और कर्मफल चेतना को छोड़कर शुद्ध ज्ञान-चेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही तू चेत, उसी का अनुभव कर;—वही मोक्षमार्ग है। शुद्ध द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रतिक्षण रत्नत्रय के निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं; उस रत्नत्रय में तन्मय होकर तू दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहर। इसके सिवा किसी भी परद्रव्य में किंचित भी न विहर। पर द्रव्य तेरे ज्ञान के ज्ञेय रूप हैं, परन्तु उन ज्ञेयों के अवलम्बन से तेरा मोक्षमार्ग नहीं है; अपने ज्ञानस्वभाव के ही अवलंबन से तेरा मोक्षमार्ग है; इसलिये हे भव्य! समस्त पर द्रव्यों का अवलंबन छोड़कर अपने ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन लेता हुआ तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र रूप मोक्ष पंथ में विहार कर। [प्रवचन से]

अरिहंत भगवान को पहिचानो !

[सच्चा जैन बनने के लिये अरिहंत भगवान का स्वरूप अवश्य जानना चाहिए]

[प्रवचनसार गाथा ८० पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का सार]

(लेखांक १)

श्री अरिहंत भगवान को नमस्कार हो।

❀

अरिहंत भगवान अपने इष्ट देव हैं, इसलिये उनका स्वरूप यथार्थतया जानना चाहिए।

❀

अरिहंत भगवान का स्वरूप यथार्थतया जानने से आत्मा का सच्चा स्वरूप ज्ञात होता है; क्योंकि अपने आत्मा का स्वरूप भी वास्तव में अरिहंत भगवान जैसा ही है।

❀

अनादिकाल से आत्मा में जो मिथ्यात्वभाव है वह अधर्म है। इस आत्मा का स्वभाव अरिहंत भगवान जैसा ही है, पुण्य-पाप रहित है, उसे चूककर पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मानना, पुण्य-पाप से धर्म मानना वह मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व का नाश कैसे होता है? और सम्यक्त्व कैसे प्रगट होता है?—उसका उपाय कहते हैं। —जो जीव अरिहंत भगवान के आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को बराबर जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है; उसका मिथ्यात्वरूपी भ्रम अवश्य नष्ट हो जाता है और शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है।—अनादि के अधर्म का नाश करके अपूर्व धर्म प्रगट करने का यह उपाय है।

❀

निश्चय से अरिहंत भगवान का और इस आत्मा का स्वभाव समान है, उस स्वभाव को जानने से सम्यग्दर्शन होता है, वह अपूर्व धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना तीनकाल में धर्म नहीं होता।

❀

जो जीव सर्वज्ञ लक्षण की परीक्षा द्वारा अरिहंत भगवान का स्वरूप जानता है वह जीवस्वरूप के आंगन में आया है; जीव अरिहंत भगवान को नहीं पहिचानता और शरीर की क्रिया से या राग से धर्म मानता है वह तो स्वभाव के आंगन में भी नहीं आया है।

❀

अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जीव नहीं जानता वही रागादि और शरीरादि की क्रिया को अपना स्वरूप मानता है; किन्तु जो जीव अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा को पहिचानता है, उसे भेदज्ञान हो जाता है इसलिये वह रागादि को अपना सच्चा स्वरूप नहीं मानता और शरी-

रादि की क्रिया को अपनी नहीं मानता; रागरहित चैतन्यभावरूप उसका परिणमन हो जाता है।

❀

तीनलोक के नाथ तीर्थंकर भगवान कहते हैं कि—मेरा और तेरा आत्मा एक ही जाति का है, दोनों की एक ही पाँति है। जैसा मेरा स्वभाव है वैसा ही तेरा स्वभाव है। हमें जो केवलज्ञानदशा प्रगट हुई है वह बाह्य से नहीं प्रगटी है किन्तु आत्मा में शक्ति है उसी में से प्रगट हुई है; तेरे आत्मा में भी मुझ जैसी ही परिपूर्ण शक्ति है। हे जीव! अपने आत्मा की शक्ति को पहिचान ले तो तेरा मोह नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

❀

जिस प्रकार मोर के अंडे में साढ़े तीन हाथ का रंगबिरंगी मोर होने का स्वभाव भरा है, इसलिये उसमें से मोर होता है; उसी प्रकार आत्मा में आनंदमय केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति है, उसमें से केवलज्ञान विकसित होता है—जो ऐसी अंतरशक्ति की प्रतीति करे, उसे सम्यग्दर्शन होकर अल्पकाल में केवलज्ञान कला विकसित हो जाती है।

किन्तु

'इस छोटे से अंडे में मोर कैसे हो जाता है'।'—ऐसी शंका करके यदि अंडे को छेदकर देखे तो उसका रस सूख जाता है और मोर नहीं होता; उसी प्रकार जो जीव आत्मा के स्वभाव-सामर्थ्य का विश्वास न करे और 'इस समय आत्मा भगवान जैसा कैसे हो-सकता है?'—ऐसी स्वभाव में शंका करे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता और न उसका मोह नष्ट होता है। और न निर्मल तत्त्वरुचि का रस होता।

❀

मोर के छोटे अंडे में मोर होने का स्वभाव है वह स्पर्शन रसन आदि इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता, परन्तु ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है; उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान होने का जो स्वभाव है वह इन्द्रियों द्वारा, मन द्वारा या राग द्वारा भी ज्ञात नहीं होता किन्तु वह इन्द्रियादि का अवलम्बन छोड़कर स्वभावोन्मुख अतीन्द्रिय से ही ज्ञात होता है।

❀

जिस प्रकार दियासलाई के सिरे में अग्नि उत्पन्न होने का सामर्थ्य है, उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा में केवलज्ञानज्योति प्रगट होने का सामर्थ्य है। जिस प्रकार दियासलाई में अग्नि प्रगट होने का सामर्थ्य है वह आँख से दिखाई नहीं देता किन्तु ज्ञान से ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार आत्मा में

केवलज्ञान होने का स्वभावसामर्थ्य है वह भी अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है।

❀

अपने ऐसे स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति और अनुभव करे तो सम्यग्दर्शन रूपी प्रथम धर्म हो। ऐसे स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति के बिना चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, व्रत-उपवास करे, प्रतिमा ले, पूजा-भक्ति करे या द्रव्यलिंगी मुनि हो जावे—चाहे जितना करे तथापि वह धर्म नहीं माना जावेगा और न वह करते-करते धर्म होगा।

❀

सम्यग्दर्शन प्रगटाने के लिये यह अलौकिक अधिकार है; यह अधिकार समझकर याद रखने जैसा है, और भीतर जुगाली करके आत्मा में परिणमित करने योग्य है। अपने अन्तर्स्वभाव में एकाग्रता से ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रगट होता है।

❀

जिसने अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा को मनद्वारा जान लिया, वह जीव स्वभाव के आंगन में आया है; किन्तु आंगन में आने के पश्चात अन्तर में उतरकर स्वभाव का अनुभव करने में अनंत पुरुषार्थ है।

❀

जिस प्रकार बड़े राजा-महाराजा के, महल के आंगन में आने पर सीधा राजा के निकट जाने के लिये हिम्मत चाहिए, उसी प्रकार चैतन्य भगवान के आंगन में आने के पश्चात् अन्तरोन्मुख होकर चैतन्यस्वभाव का अनुभव करने में अनंत पुरुषार्थ है। जो जीव वैसा अपूर्व पुरुषार्थ करे उसी को भगवान आत्मा की भेंट होती है—उसी को सम्यग्दर्शन होता है।

जो जीव शुभ विकल्प में अटक जाता है उसे चैतन्यभगवान की भेंट नहीं होती;—किन्तु यहाँ आंगन में अटकने की बात नहीं है। जो जीव आंगन में आया वह अंतर में आकर अनुभव करता ही है—ऐसी अप्रतिहतपने की यहाँ बात है।

❀

सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता, इसलिये यहाँ सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन की रीति में पुण्य या पाप नहीं है। उपयोग को अन्तर्मुख करके त्रिकाली चैतन्यद्रव्य में एकाग्र करना ही सम्यग्दर्शन की रीति है।

❀

देखो भाई! यही आत्मा के हित की बात है। ऐसी समझ पूर्व अनन्त-काल में एक क्षण मात्र भी नहीं की है। जो एक क्षण भी ऐसी समझ करे

उसके भव का नाश हुए बिना नहीं रहता।

❀

आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना, भले ही लाखों-करोड़ों की संपत्ति जोड़ ले, तथापि उसके आत्मा को क्या लाभ? आत्मा का लक्ष किए बिना आत्मा के अनुभव की अमूल्य घड़ी का अवसर नहीं मिलेगा।

❀

जिसने आत्मा का यथार्थ निर्णय किया, फिर भले ही उसे आहार-विहारादि हों और पुण्य-पाप के अमुक परिणाम भी होते हों, तथापि आत्मा का लक्ष नहीं छूटता—आत्मा का जो निर्णय किया है वह किसी भी प्रसंग पर नहीं हटता। प्रथम ऐसा निर्णय करना ही करने योग्य है।

❀

स्वयं सत्य को समझे वहाँ मिथ्या मान्यता अपने आप दूर हो जाती है। जिसने आत्मस्वभाव को जाना उसकी मिथ्या मान्यता दूर हो ही गई। सत्य समझे और विपरीत-मिथ्या मान्यता भी रहे—ऐसा नहीं हो सकता।

❀

'हे जीव! तू अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा को जान'—ऐसा कहा, इसमें इतना तो आ गया कि पात्र जीव को अरिहंतदेव के अतिरिक्त सर्व कुदेवादि की मान्यता छूटी ही गई है।

—अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर वहीं नहीं रुकता, किन्तु अपने आत्मा की ओर ढलता है।—मेरा स्वरूप द्रव्य-गुण और पर्याय से परिपूर्ण है, राग-द्वेष मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है—ऐसा निर्णय करके, पश्चात पर्याय का लक्ष छोड़कर और गुणभेद का लक्ष भी छोड़कर चिन्मात्र आत्मा को लक्ष में लेता है।

—इस प्रकार अकेले चिन्मात्र आत्मा का अनुभव करते ही सम्यग्दर्शन होता है और मोह नष्ट हो जाता है।

❀

भगवानके दर्शन और भगवान का साक्षात्कार कैसे होता है उसकी यह बात है। भगवान कैसे हैं वह जाने और मैं भी वैसा भगवान हूँ—"जिन सो ही आत्मा"— ऐसा जानकर उसी में लक्ष को एकाग्र करने से निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है, वही भगवान के दर्शन हैं, वही आत्मसाक्षात्कार है। "अप्पा सो परमप्पा"—इसलिये आत्माका दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है, वही स्वानुभव है, वही बोधिसमाधि है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इसके अतिरिक्त भगवान के और अपने आत्मा में जो परमार्थ से किंचित भी फेरफार मानता है उसे भगवान की भेंट—भगवान का साक्षा-

स्कार या भगवान के दर्शन नहीं होते।

❀

आत्मा को पहिचानकर उसका सम्यग्दर्शन करना यह इस मनुष्य–जीवन की सफलता है। आत्मा की पहिचान के संस्कार सहित जहाँ जावेगा वहाँ आत्मा की साधना चालू रखकर अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेगा। किंतु यदि जीवन में आत्मा की पहिचान के संस्कार नहीं डाले तो डोरारहित सुई की भाँति आत्मा भवभ्रमण में कहीं खो जायेगा। जिस प्रकार डोरा पिरोई हुई सुई नहीं खो जाती, उसी प्रकार यदि आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरोले तो आत्मा चौरासी के अवतार में न भटके।

❀

यह सम्यग्दर्शन के लिये अपूर्व बात है। जिस प्रकार व्यापारधन्धे में या भोजनादि में ध्यान रखता है, उसी प्रकार यहाँ आत्मा की रुचि कर के बराबर ध्यान रखना चाहिए; अंतर में मिलावट कर के समझना चाहिए। पवित्र मांगलिक रूप में यह अपूर्व बात है। "यह कुछ अपूर्व है, समझने जैसा है"—इस प्रकार उत्साह लाकर ६० मिनिट बराबर ध्यान रखकर सुने तो भी दूसरों की अपेक्षा भिन्नप्रकार से पुण्य हो और आत्मा के लक्ष से अंतरमें समझकर इस भावरूपपरिणमित हो जावे उसे तो अनंतकाल में अप्राप्त ऐसे सम्यग्दर्शन का अपूर्व लाभ हो। यह बात सुनना भी महँगी है और इसका समझना तो अभूतपूर्व है।

❀

सम्यग्दर्शन की अंतरक्रिया ही ही धर्म की पहली क्रिया है। सम्यग्दर्शन स्वयं श्रद्धा-गुण की पवित्र क्रिया है और उस में मिथ्यात्वादिक अधर्म की क्रिया का अभाव है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान—चारित्र के निर्मल भावरूप जो पर्याय परिणमित होती है वही धर्मक्रिया है; वह क्रिया रागरहित है; राग हो वह धर्म की क्रिया नहीं है। धर्मी जानता है कि मेरे स्वभाव के अनुभव में ज्ञान–दर्शन–आनन्द की निर्मल क्रिया होती है उसी में मैं हूँ, किन्तु रागकी क्रिया में मैं नहीं हूँ।

❀

द्रव्य–गुण—पर्याय को जानने के पश्चात् अन्तर के अभेद चैतन्यमात्र स्वभाव का अनुभव करने में भिन्न ही प्रकार का पुरुषार्थ है; उस अंतरक्रिया में स्वभावका अपूर्व पुरुषार्थ है। अनादि के भवसागर का अन्त ऐसे अपूर्व पुरुषार्थ से ही होता है। यदि स्वभावके अपूर्व पुरुषार्थ बिना भवसागर से पार हो सकते हों, तब तो समस्त जीव मोक्ष में पहुँच जाते! किन्तु स्वभाव के अपूर्व प्रयत्न के बिना वह बात

कभी समझ में नहीं आ सकती, और इसे समझे बिना कभी किसी जीव के भवभ्रमण का अंत नहीं आता। इसलिये अंतर की रुचि और धैर्यपूर्वक स्वभाव को समझने का सतत उद्यम करना चाहिए।

❀

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव सम्यग्दर्शन का अपूर्व उपाय बतलाते हुए भव्य जीव से कहते हैं कि हे भव्य! तू अरिहंत भगवान के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचान...उसे पहिचानने से तुझे अपने आत्मा की खबर पड़ेगी कि-"मैं भी अरिहंत की ही जाति का हूँ; अरिहंत भगवन्तों की पंक्ति में बैठूँ ऐसा मेरा स्वभाव है।"—इस प्रकार आत्मस्वभाव की पहिचान कर उस में एकाग्र होने से अपूर्व सम्यग्दर्शन होगा।

❀

सबसे पहले क्या करना उसकी यह बात है। अनादि के अज्ञानी जीव को छोटे से छोटा जैनधर्मी बनाने की अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि होने की यह बात है। मुनि या श्रावक होने से पूर्व कैसी श्रद्धा होना चाहिए उसकी यह बात है। इस सम्यक्श्रद्धारूपी भूमिका के बिना व्रत-प्रतिमा या मुनित्व कुछ भी सच्चा नहीं होता। अभी वस्तुस्वरूप क्या है उसे समझे बिना जल्दी-जल्दी बाह्य त्याग करने लगें और अपने को मुनित्व आदि मान बैठे तो धर्मकी रीति या धर्म के क्रम की खबर नहीं है।

❀

जिसने अन्तर में अपने आत्मस्वभाव का भान किया है उसे वह भान सदैव वर्तता ही रहता है। आत्मा के विचार में हो तभी सम्यग्दर्शन रहता है और दूसरे विचार में हो तब सम्यग्दर्शन चला जाता है—ऐसा नहीं है। सम्यक्त्वी को शुभाशुभ उपयोग के समय भी आत्मभान का विस्मरण नहीं होता, सम्यग्दर्शन नहीं छूटता और न दूषित होता है; प्रतिसमय उसके सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान वर्तते ही रहते हैं—आत्मा ही उस रूप परिणमित हो गया है। आत्मा का भान होने के पश्चात् उसे घोखना नहीं पड़ता—याद नहीं रखना पड़ता, परंतु आत्मा में उसका सहज परिणमन हो जाता है; नींद में भी आत्मभान का विस्मरण नहीं होता। इसप्रकार धर्मी को चौबीसों घन्टे सम्यग्दर्शनरूपी धर्म होता ही रहता है। ऐसा आत्मभान प्रगट करना ही जीवन में सबसे प्रथम कर्तव्य है।

❀

यह तो आत्मा की मुक्ति प्राप्त हो ऐसी बात है; इसे समझने के लिये अन्तर में रुचि और उत्साह होना चाहिए। बैठे में आता नहीं है अतः कि

पैसा मिलने की बात कितनी रुचिपूर्वक सुनता है! तब फिर आत्मा समझने के लिये अपूर्व रुचिपूर्वक—आत्मा की रुचिपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। सत्समागम से परिचय किये बिना जल्दी से यह बात समझ में नहीं आ सकती। "यही मुझे करने योग्य है"—इस प्रकार धैर्य धारण करके यह बात पकड़ने जैसी है।

*

अरिहंत भगवान के द्रव्य–गुण–पर्याय का निर्णय पुरुषार्थ द्वारा होता है; और उसका निर्णय करने से आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहिचान होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और मोह का क्षय होता है। इसीलिये हे जीवो! पुरुषार्थ द्वारा अरिहन्त भगवान को पहिचानो।

*

जिस जीवने अरिहन्त भगवान के परिपूर्ण सामर्थ्य को अपने ज्ञान में लिया, उसने अपने आत्मा में भी वैसे परिपूर्ण सामर्थ्य का स्वीकार किया और उसमें कमी का या विकार का निषेध किया।

*

अरिहन्त भगवान में और इस आत्मा में निश्चय से कोई अंतर नहीं है; इसलिये जिसने अरिहन्त के आत्मा का वास्तविक स्वरूप जाना उसे ऐसा लगता है कि अहो! 'मेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी ऐसा ही है,' इसके अतिरिक्त अन्य विपरीत भाव मेरा स्वरूप नहीं है।' ऐसा जानकर अपने आत्मा की ओर ढलने से उस जीव के मोह का नाश हो जाता है।

*

अरिहन्त भगवान को वास्तव में कब जाना कहा जाता है?— अरिहन्त भगवान के द्रव्य–गुण–पर्याय के साथ अपने आत्मा को मिलाकर, जैसा अरिहन्त का स्वभाव है वैसा ही मेरा स्वभाव है—ऐसा निर्णय करे तभी अरिहन्त भगवान को वास्तव में जाना कहा जाता है। और इसप्रकार अरिहन्त भगवान को जाने उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

*

जिसने अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष में लिया उस ज्ञान में ऐसा सामर्थ्य है कि अपने आत्मा में से विकार का और अपूर्णता का निषेध करके परिपूर्ण स्वभावसामर्थ्य का स्वीकार करता है और मोह का क्षय करता है।

*

जो जीव अरिहंत भगवान के आत्मा को बराबर जानता है वह जीव अपने चैतन्य सामर्थ्य के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है,—इसलिये

अरिहंत भगवान को जाननेवाला अरिहंत का अनुनन्दन होता है।

❀

धर्मी जीव ने अपने हृदय में अरिहंत भगवान की स्थापना की है; उसके अन्तर् में केवलज्ञान की महिमा अंकित हो गई है; और ऐसा परम महिमावन्त केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य मेरे आत्मा में भरा है ऐसी उसे स्वसन्मुख प्रतीति है।

❀

केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करने का सामर्थ्य शुभविकल्प में नहीं है किन्तु आत्माश्रित ज्ञान में ही वह सामर्थ्य है। केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करनेवाला ज्ञान अपने स्वभाव सन्मुख हो जाता है।

❀

जो जीव अरिहंत भगवान के केवलज्ञान का निर्णय करे वह जीव राग को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता अर्थात् राग से धर्म होना नहीं मानता; क्योंकि केवलज्ञानी को राग नहीं है, और जैसा केवलज्ञानी का स्वरूप है वैसा ही अपना परमार्थ स्वरूप है।

❀

जो जीव मात्र अपनी कुल परम्परा से ही अरिहंतदेव को महान मानता है, किन्तु अरिहंत भगवान के जीव का स्वरूप क्या है वह नहीं जानते उनका मिथ्यात्व दूर नहीं होता और धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये अरिहंत भगवान के आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है वह जानना चाहिए। अरिहंत भगवान के आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहिचाने वह मिथ्यादृष्टि रहता ही नहीं।

❀

जिसे मोह का क्षय करना हो उसे क्या करना चाहिए?—कि अरिहंत भगवान का आत्मा कैसा है, उनके गुणों का सामर्थ्य कैसा है और उनकी केवलज्ञानादि पर्याय का क्या स्वरूप है वह निश्चित करना चाहिए; उसका निर्णय करने से अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी वैसा ही परिपूर्ण है ऐसी सम्यक्प्रतीति होती है और मोह का नाश हो जाता है।

●

यहाँ अरिहंत भगवान इस आत्मा के ध्येयरूप—आदर्शरूप हैं। जिस प्रकार दर्पण में देखने से अपनी मुखाकृति दिखाई देती है उसी प्रकार अरिहंत इस आत्मा के दर्पण समान हैं; अरिहंत भगवान का स्वरूप पहिचानने से आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप कैसा है वह पहिचाना जाता है। अरिहंत भगवान को जो केवलज्ञानादि प्रगट हुए हैं-उनके प्रगट होने का मेरे आत्मा में सामर्थ्य है, और जो सर्व प्रकार के रागादि भाव अरिहंत भगवान के आत्मा में से दूर हो गये

है वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है और कभी भी राग हितकारी नहीं है इस प्रकार अरिहंत भगवान को पहिचानने से अपने स्वभाव सामर्थ्य की प्रतीति होती है और विकारी भावों से भेदज्ञान होता है।

❀

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! हमें तुझे तेरा शुद्ध स्वरूप बतलाना है; विकार या अपूर्णता वह तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है; तेरा सच्चा स्वरूप तो विकाररहित शुद्ध परिपूर्ण है—वह हमें दर्शाना है। और इस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्ब समान श्री अरिहंत भगवान हैं क्योंकि वे सर्वप्रकार से शुद्ध हैं।—इसलिये हे भाई! तू अरिहंत भगवान के आत्मा को पहिचान, और अपने आत्मा को भी वैसा ही जान।

❀

इस आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय जो सदैव शुद्ध हैं और पर्याय नई प्रगट करना है। पर्याय की शुद्धता प्रगट करने के लिये द्रव्य-गुण और पर्याय की शुद्धता का स्वरूप कैसा है वह जानना चाहिए। अरिहंत भगवान का आत्मा द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों प्रकार से शुद्ध है, इसलिये उनके स्वरूप को जानने से अपने शुद्धस्वभाव की प्रतीति होती है और उसी के अवलम्बन से पर्याय में शुद्धता होने लगती है।

❀

अरिहंत भगवान का आत्मा अति-स्पष्ट है, सर्वप्रकार से निर्मल है, उन्हें पहिचानने से ऐसा लगता है कि—अहो! यह तो मेरे शुद्ध स्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है, मेरा स्वरूप ऐसा ही है।—इस प्रकार यथार्थ तथा आत्म स्वभाव का भान होने से शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है।

❀

अरिहंत भगवान को रागका अत्यंत अभाव होकर परिपूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो गया है। उस केवलज्ञान में जो ज्ञात हुआ है वह मिथ्या नहीं होता;—ऐसा निर्णय करने में भगवान के केवल—ज्ञान की प्रतीति आ जाती है, और केवलज्ञान की प्रतीति करने से अपना परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भी प्रतीति में आ जाता है और सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय वह सम्यग्दर्शन का कारण होता है।

अरिहंत भगवान के निर्णय में केवलज्ञान का निर्णय आया, केवलज्ञान के निर्णय में आत्मा के ज्ञानस्वभाव का निर्णय आया और ज्ञानस्वभाव के निर्णय में केवलज्ञान स्वभाव सन्मुख का अनंत-पुरुषार्थ आया।

❀

सर्वज्ञ परमात्मा अरिहंत भगवान को जो जीव नहीं पहिचानता वह केवलज्ञान

को नहीं पहिचानता; और जो केवल-ज्ञान को नहीं पहिचानता वह आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव को भी नहीं पहिचानता; ज्ञानस्वभाव की पहिचान के बिना उसे कभी धर्म नहीं होता। इसलिये जिसे धर्म करना हो उसे प्रथम अरिहंत भगवान के स्वरूप को बराबर पहिचानना चाहिए।

❀

अरिहंत भगवान का और मेरा आत्मा निश्चय से समान ही है—ऐसा जो जीव जान ले, उसे ऐसी निःशंकता हो जाती है कि जिस प्रकार अरिहंत भगवान अपने पुरुषार्थ द्वारा मोह का क्षय करके पूर्णदशाको प्राप्त हुए उसी प्रकार मैं भी अपने पुरुषार्थ के बल से मोह का क्षय करके पूर्णदशा प्राप्त करनेवाला हूँ। मोह की सेना पर विजय पाने का उपाय मैंने प्राप्त किया है।

●

समस्त आत्मा अरिहंत जैसे ही हैं; अरिहंत जैसे अपने स्वरूप को जो समझना चाहे वह समझ सकता है। अंतर् के स्वभाव की रुचि और महिमा आये बिना जीव उसकी प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करता। जो अरिहंत जैसा अपना स्वरूप प्राप्त करना चाहे वह अवश्य ही कर सकता है। इस स्वरूप-प्राप्ति के लिए अन्तर्मुख दशा का अपूर्व प्रयत्न होना चाहिए।

❀

हे जीव! तुझे अपना भला करना है न?......तो तू इस बात की खोज-कर लेना कि जगत में सबसे अच्छा किसने किया है?—पूर्ण हित किसने प्रगट किया है?......

अरिहंत भगवंत इस जगत में संपूर्ण सुखी हैं, उन्होंने आत्मा का संपूर्ण भला किया है। अरिहंत भगवान ने किस प्रकार आत्मा का भला किया?.. ...

पहले अपने आत्मस्वभाव को परिपूर्ण जानकर उस स्वभाव के आश्रय द्वारा मोहका क्षय किया,—इस प्रकार अरिहंत भगवंतों ने आत्मा का भला किया। जैसे अपने आत्मस्वभाव को जाना और फिर उसमें लीन होकर मोह का क्षय करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किये, इसलिये वे अरिहंत भगवान सुखी हैं।

उनके आत्मा की वह केवलज्ञान दशा कहाँ से आई? त्रिकाली द्रव्य-गुण का जो स्वभावसामर्थ्य है उसमें से ही वह दशा प्रगट हुई है।

हे जीव! तेरे द्रव्य—गुण में भी अरिहंत भगवान जैसा ही स्वभाव सामर्थ्य है; उस स्वभाव की श्रद्धा—ज्ञान करके उसमें तू स्थिरता कर, तो तुझे अपने द्रव्य-गुण में से केवलज्ञान और पूर्ण

सुखमय दशा प्रगट होगी।—यही आत्मा का भला करने का उपाय है। दुनिया में अपना अच्छे से अच्छा करने वाले भगवान अरिहंत, उन्हीं को तू अपने आदर्शरूप रख।

❀

अहो! जिनके मोह नहीं है, अवतार नहीं है, मरण नहीं है, विकल्प नहीं है, पर की उपाधि नहीं है, भूख प्यास नहीं है, रोग नहीं है, राग नहीं है, हर्ष नहीं है, शोक नहीं है; जिनके दिव्य केवलज्ञान और संपूर्ण अतीन्द्रिय सुख प्रगट हो गया है तथा जो कृतकृत्य हैं—ऐसे अरिहंत भगवान ही आत्मा के दर्पण समान हैं, वे ही सच्चे आदर्शरूप हैं। उन अरिहंत भगवान के स्वरूप को जानने से अपने स्वरूप का प्रतिबिंब ज्ञात होता है।—इस प्रकार अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा को जानकर उसका ध्यान करते रहने से से जीव स्वयं भी मोहरूपी अरि को नष्ट करके अरिहंत हो जाता है।—यह अरिहंत होने का उपाय है! अनंत तीर्थंकरों ने यही उपाय किया है और दिव्यध्वनिमें भी ऐसा ही उपदेश किया है।

निश्चय से जैसा सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव है वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है; इसलिये सर्वज्ञ को पहिचानने से अपने आत्मा की पहिचान होती है; जो जीव सर्वज्ञ को न पहचाने वह अपने आत्मा को भी नहीं पहिचानता।

❀

समस्त पदार्थों को जानने रूप सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है किन्तु पर में कुछ फेरफार करे ऐसी शक्ति आत्मा में कभी नहीं है।

❀

अहो! समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति इस आत्मा में सदैव भरी है; उसकी प्रतीति करनेवाला जीव धर्मी जीव मानता है कि मैं अपनी ज्ञानक्रिया का स्वामी हूँ, किन्तु पर की क्रिया का स्वामी मैं नहीं हूँ।

❀

आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, उस शक्ति का विकास होने से अपने में सर्वज्ञता प्रगट होता है, किन्तु आत्मा की शक्ति का विकास होने से वह पर का कुछ कर दे—ऐसा नहीं हो सकता।

❀

मोक्षमार्गी मुनिवरों को किसकी शरण है?

अहो! अंतर में चैतन्यस्वभाव की महा शरण है उसे तो अज्ञानी जीव पहिचानते नहीं हैं और पुण्य में ही मूर्छित हो गये हैं। पूर्वकाल में अनंतवार पुण्य किये किन्तु वे जीव को शरण भूत नहीं हुए, उनसे किंचित भी मोक्षमार्ग का हित नहीं हुआ। हे भाई! अब तुझे अपने आत्मा का मोक्ष करना हो, संसार की चार गतियों के परिभ्रमण से छूटना हो तो अंतर में ज्ञान की शरण ले।

"अहो! हमें अपने स्वभाव की ही शरण है; पुण्य का विकल्प उठे उसे भी हम शरणरूप नहीं मानते; उस विकल्प को भी तोड़कर ज्ञान को अंतर में एकाग्र करने से आत्मा के परमानन्द का अनुभव होता है;—वही हमें शरण है, और दूसरे जीवों को भी वही शरण है।" देखो यह संत-मुनियों के अन्तर अनुभव से उठनेवाली झन्कार! प्रतिक्षण निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में झूलते झूलते बीच में यह वाणी निकल गई है।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से प्रगट हुए सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र-रूप वीतरागभाव ही मोक्ष का सच्चा कारण है; उसके सिवा जितने शुभ या अशुभ राग भाव हैं वे सब बंधन के ही कारण हैं। जिस प्रकार पापभाव बंधन का कारण है उसी प्रकार पुण्य-भाव भी बंधन का कारण है इसलिये मोक्षमार्ग में शुभ या अशुभ समस्त कर्मों का निषेध है—ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव का आदेश है।

शुभ या अशुभ समस्त कर्म जीव को बंध के ही कारण हैं, इसलिये वे निषेध करने योग्य हैं—ऐसा आचार्यदेव ने सिद्ध किया। वहाँ जो जीव मात्र पुण्य-पाप को ही जानता है, किन्तु पुण्य-पाप से रहित ज्ञान परिणमन को नहीं जानता, उसे ऐसा प्रश्न उठता है कि—जब मोक्षमार्ग में पुण्य और पाप दोनों का निषेध कर दिया, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रही? पुण्य-पाप दोनों छूट जाने पर किस के आधार से मुनिपना और मोक्षमार्ग रहेगा?

उसके उत्तर में आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे भाई! पाप और पुण्य समस्त कर्म छूट जाने से मुनिवर कहीं अशरण नहीं हो जाते; किन्तु उस समय ज्ञानस्वभाव में रमण करता हुआ वीतरागी ज्ञान ही उन्हें शरणभूत है; वे उस ज्ञान में लीन होकर आत्मा के परमामृत का अनुभव करते हैं। यह बात निम्नोक्त कलश में कहते हैं:—

निषिद्धे सर्वस्मिन्,
सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये
न खलु मुनयः संत्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं
प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदन्त्येते
परममसृतं तत्र निरता ॥ १०४ ॥
(समयसार : पुण्य-पाप अधिकार)

मोक्षमार्ग में शुभ या अशुभ भाव रूप समस्त कर्मों का निषेध किया गया है; परन्तु वह शुभाशुभ कर्म रहित निष्कर्म अवस्था प्रवर्तित होने से मुनि कहीं अशरण नहीं हैं। पुण्य—पाप रहित निर्विकल्प दशा के समय ज्ञान स्वभाव में ही एकाग्र होकर परिणमित होने वाला ज्ञान ही उन मुनिवरों को परम शरण है; ज्ञान में लीन होकर वे परमामृत का अनुभव करते हैं। पुण्य-पाप में तो आकुलता है, उसमें आनन्द का अनुभव नहीं है; पुण्य-पाप रहित निर्विकल्प दशामें ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर परिणमित होने से सिद्धभगवान जैसे अपूर्व आनंद का अनुभव होता है उसे परम अमृत की उपमा दी है। अज्ञानी जीवों को पुण्य की ही शरण भासित होती है, किन्तु अंतर् में ज्ञानस्वभाव शरणभूत है उसकी उन्हें खबर नहीं है। पुण्य ही मुझे शरणभूत है, पुण्य छूटने से मानो मुझ में कुछ भी नहीं रहेगा—ऐसा अज्ञानियों को लगता है, इसलिये पुण्य के निषेध की बात सुनते वे भड़क उठते हैं कि अरे! पुण्य छोड़ देंगे तो हम में क्या रहेगा? ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! पुण्य-पाप छूट जायेंगे तो फिर ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण आत्मा रहेगा। पहले तुम ऐसी श्रद्धा—ज्ञान तो करो कि हमारा चैतन्यस्वभाव पुण्य—पाप के बिना भी टिक सकता है। पुण्य-पाप के आधार से ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान है इसलिये पुण्य-पाप से पृथक् होने पर वह ज्ञान अशरण नहीं हो जाता किन्तु पुण्य-पाप रहित हुआ वह ज्ञान निज स्वभाव में गंभीरता पूर्वक लीन होकर परम अमृत का अनुभव करता है। इसलिये मोक्षमार्गी मुनिवरों को ऐसा वीतरागी ज्ञान ही शरणरूप है।

यहाँ उग्र बात बतलाने के लिये मुनियों की बात की है; क्योंकि मुनि परम निष्कर्म दशा को प्राप्त हैं; मुनियों की भाँति चौथे गुणस्थानवाले सम्यक्त्वी की बात भी समझ लेना चाहिए। उन्हें भी किसी पुण्य-पाप की शरण नहीं है किन्तु अन्तर् में अपने स्वभाव के अवलम्बन से परिणमित होने वाला ज्ञान ही शरण है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक अपने

ज्ञानस्वभाव का अवलंबन—यह एक ही शरण है। बीच में कहीं पुण्य की शरण नहीं है। भले ही पहले निचली भूमिका में पुण्य-पाप के भावों से सर्वथा न छूटे, किन्तु वे भाव होने पर भी ऐसी दृष्टि प्रगट करना चाहिये कि मुझे शरणभूत तो मेरा ज्ञानस्वभाव ही है; ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही मेरा मोक्षमार्ग है—इन पुण्य-पाप के अवलम्बन से मेरा मोक्षमार्ग नहीं है। जब तक ऐसी अन्तर् दृष्टि प्रगट करके चैतन्यस्वभाव का अवलंबन न ले तब तक जीव को मोक्षमार्ग का प्रारम्भ किसी प्रकार नहीं होता, यानी लेश-मात्र भी धर्म नहीं होता।

अहो! अन्तर् में चैतन्यस्वभाव की महा शरण है; उसे तो जीव पहिचानते नहीं हैं और पुण्य में मूर्छित हो गये हैं। पूर्वकाल में अनंतबार पुण्य किये, किन्तु वे जीव को कारणभूत नहीं हुए, —पुण्य से किंचित भी मोक्षमार्ग या हित नहीं हुआ। हे भाई! अब तुझे अपने आत्मा का मोक्ष करना हो, संसार की चार गतियों के परिभ्रमण से छूटना हो तो अन्तर् में ज्ञान की शरण ले। अन्तर्मुख एकाग्र होकर परिणमित होनेवाला ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। आत्मस्वभाव में एकाग्र होने से आत्मा के परमानंद का जो उपभोग होता है उसके स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं, अज्ञानी उस ज्ञानके आनंद का स्वाद नहीं जानता।

अहो! देखो तो, इन संत-मुनियों के अन्तर् अनुभव से उठनेवाली झन्कार! प्रतिक्षण निर्विकल्प आनंद के अनुभव में झूलते झूलते बीच में यह वाणी निकल गई है। उसमें आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! हमें अपने स्वभाव की ही शरण है; पुण्य का विकल्प उठे उसे भी हम शरणरूप नहीं मानते; उस विकल्प को भी तोड़कर ज्ञान को अंतर् में एकाग्र करने से आत्मा के परम आनंद का अनुभव होता है, वही हमें शरण है। दूसरे सम्यक्त्वी जीवों को भी यही शरण है। ज्ञानमात्र भाव के अतिरिक्त जितने परभाव हैं वे सब बंध के कारण हैं; तो फिर वे जीव को कैसे शरणरूप हो सकते हैं? किसी भी जीव को अपने ज्ञानानन्द स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की शरण नहीं है; अन्य किसी के अवल-म्बन से कभी मोक्षमार्ग नहीं होता। भगवान आत्मा के मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने की नसैनी कौनसी है? —सो कहते हैं कि: आत्मस्वभाव के अवलम्बन से जो सम्यक् श्रद्धा ज्ञान और रमणतारूपी वीतरागी दशा प्रगट हुई वही मोक्ष की सीढ़ी है; इसके सिवा पुण्य कहीं मोक्ष की सीढ़ी नहीं है, पुण्य तो धर्म की सीढ़ी नहीं

है, पुण्य करते-करते किसी समय उससे मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जावे ऐसा कभी नहीं होता। पुण्य स्वयं बंध का कारण है, वह कभी भी मोक्ष का साधन नहीं होता।

अंतर में अपने स्वभाव में लीन होकर ज्ञान परिणमित हो वही मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन की रीति भी यही है, सम्यग्ज्ञान की रीति भी यही है, और सम्यक्चारित्र की रीति भी यही है। ज्ञान बाह्योन्मुख होकर पुण्य-पाप में एकाग्रतारूप से परिणमित हो वह मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है; तथा जो ज्ञान अंतरोन्मुख होकर चिदानन्द स्वभाव में एकाग्र होकर परिणमित हो वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है, और वही मुनियों को शरणभूत है। किन्हीं बाह्य निमित्तों के या पंच महाव्रतादि के शुभ राग के कारण मुनिदशा नहीं टिकती, किन्तु अंतर में पुण्य-पाप रहित होकर जो ज्ञान चैतन्यस्वभाव में लीन हुआ उसीके आधार से मुनिदशा टिकती है, इसलिये वही ज्ञान मुनियों को शरण है। अहो! जो ज्ञान मेरे ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर परिणमित हो वही मुझे शरणरूप है, इसके अतिरिक्त कोई पर वस्तु या पुण्य भी वास्तव में मुझे शरणरूप नहीं है;—ऐसा जानकर चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से परिणमित होना ही मोक्ष का पंथ है।

[कार्तिक कृष्णा ४ के दिन परम पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

मुद्रक: जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर.
प्रकाशक: श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी.

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

माघ २४८१ ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक दसवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

इतना समझ लेना चाहिये कि....

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप वीतराग भाव ही है; और उसके सेवन से ही भवभ्रमण का अन्त आता है; इसके अतिरिक्त अन्य जो भी भेद या बाह्य साधनों को धर्म कहा हो उसे व्यवहार से ही उपचार मात्र धर्म संज्ञा जानना चाहिये। जो अंतर के वीतराग-भावरूप धर्म को नहीं जानता, और उपचार रूप बाह्य साधनों को ही धर्म मानकर अंगीकार करता है वह जीव यथार्थ धर्म को प्राप्त नहीं कर पाता किंतु संसार में भटकता है। जो इस रहस्य को नहीं जानता उसे धर्म की सच्ची श्रद्धा नहीं है और इसी लिये वह जीव धर्म को प्राप्त नहीं होता।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११८]

एक अंक
चार आना

जैनस्वाध्याय मन्दिर ∴ सोनगढ़ सौराष्ट्र

* सम्यक् पुरुषार्थ *

"सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, अथवा जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है वैसा ही होता है—ऐसा मानें तो फिर जीव का कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहता"
—ऐसा अज्ञानी लोग कहते हैं; किन्तु—

वास्तव में तो क्रमबद्ध पर्याय और सर्वज्ञ का निर्णय हुए बिना सम्यक् पुरुषार्थ होता ही नहीं। जिसे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं है—क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय नहीं है, और फेरफार करने की बुद्धि है उसका पुरुषार्थ मिथ्यात्व और राग-द्वेष में ही रुका है; उसके ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का सच्चा पुरुषार्थ नहीं होता। और जिसे क्रमबद्ध पर्याय तथा सर्वज्ञ का निर्णय है उसका पुरुषार्थ अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो गया है—वही मोक्ष का सम्यक् पुरुषार्थ है।

(—चर्चा से)

आत्मधर्म

माघ : २४८१ 卐 वर्ष दसवाँ 卐 अंक १०

दिव्यध्वनि का ढंढेरा

[शांतिनाथ भगवान का शांति–उपदेश]

[यह प्रवचन शांतिनाथ भगवान के केवलज्ञान–कल्याणक प्रसंग का है। इसका प्रथम भाग 'आत्मधर्म' अंक ११० में छप चुका है। उससे आगे यहाँ दिया जा रहा है।]

[ज्येष्ठ शुक्ला ४, वीर सं. २४७९]

दिव्यध्वनि में चौदह ब्रह्मांड के जीवों को भगवान का आमंत्रण है कि "अरे जीवो! तुम में परमात्मा होने का सामर्थ्य भरा है...तुम मुक्ति के योग्य हो... यह मोक्ष का मण्डप लगा है; तुम भी अपनी परमात्मदशा प्राप्त करने के लिये मोक्ष के मण्डप में आओ! अंतर् अवलोकन द्वारा अपने आत्मा को पहिचानकर उसकी महिमा करो, तो अल्पकाल में सिद्धदशा प्रगट होगी।'

भगवान की दिव्यध्वनि तो अमोघवाणी है, वह कभी खाली नहीं जाती...उस वाणी को झेलकर धर्मवृद्धि करनेवाले जीव अवश्य होते ही हैं.. वाणी कानों में पड़ते ही पात्र श्रोता को तो ऐसा प्रतीत! होता है कि अहो! मुझे ऐसी अपूर्व वाणी प्राप्त हुई है, इसलिये मैं अवश्य ही अपनी पात्रता से समझकर अल्पकाल में मुक्त हो जाऊँगा...इसप्रकार जो अंतरंग दृढ़तापूर्वक स्वीकार करके यथार्थ बात को समझ लें—उन्हीं श्रोताओं को यहाँ लिया है, ऐसे श्रोताओं को धन्य है...उनका अवश्य कल्याण हो जाता है।

शांतिनाथ भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् दिव्यध्वनि खिरी। भगवान को स्वयं तो पूर्ण शांति थी और दूसरों को भी दिव्यध्वनि द्वारा शांति का उपदेश देते थे...हे जीवो! तुम्हें आत्महित करना हो, शांति की आवश्कता हो, तो वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता को समझकर आत्मस्वभाव का आश्रय करो!

स्वतंत्रता का ढंढेरा

भगवान की दिव्यध्वनि में, वस्तु की त्रिकाली शक्ति और उसकी समय-समय की पर्यायों की स्वतंत्रता का ढँढेरा पीटा है। त्रिकाली द्रव्य स्वतंत्र है और उसकी प्रतिसमय की अवस्था भी स्वतंत्र है। अज्ञानी जीव काल-लब्धि का नाम लेकर पराश्रय में अटक जाते हैं, परन्तु काल तो परवस्तु है; वास्तव में आत्मा के स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ की दशा ही आत्मा की स्वकाललब्धि है। त्रिकाली सत् और समय-समय का सत् स्वतंत्र है; समस्त पदार्थ और उनकी वर्तमान पर्याय स्वतंत्र है। आत्मा जड़कर्म के कारण परिभ्रमण नहीं करता और जड़कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते। यदि जीव की पर्याय का कर्ता कोई दूसरा कहा जाये तो जीव की स्वतंत्रता ही कहाँ रही? इस जीव का कर्ता दूसरा है-ऐसा कहें तो जीववस्तु ही स्वतंत्र सिद्ध नहीं होगी; जिसका कर्ता हो वह कृत्रिम वस्तु को करता है, त्रिकाली वस्तु का कोई कर्ता नहीं होता। और यदि त्रिकाली वस्तु का कोई कर्ता नहीं है तो उसके वर्तमान का भी कौन कर्ता होगा?—कोई नहीं। जिस प्रकार त्रिकाली वस्तु स्वयंसिद्ध सत् है उसी प्रकार उस वस्तु का वर्तमानपना भी स्वयंसिद्ध सत् है। त्रिकाली वस्तु स्वतंत्र और उसका वर्तमानपना पर के कारण—ऐसा कभी नहीं हो सकता। त्रिकाली सत् की स्वतंत्रता में उसके प्रत्येक समय के सत् की स्वतंत्रता का भी समावेश हो जाता है; त्रिकाली सत से वर्तमान सत् कहीं पृथक् नहीं है। यदि वस्तु के एक समय के भी सत् को पराधीन-अर्थात् पर के कारण-मानें तो त्रिकाली वस्तु की स्वतंत्रता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि एक समय की पर्याय पराधीन होगी, तो उसी प्रकार दूसरे-तीसरे समय की पर्यायें भी पराधीन ही होंगी;—ऐसा होने से त्रिकाल प्रवर्तमान द्रव्य ही पराधीन सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तुस्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। जगत के अज्ञानी जीव जिस-प्रकार ईश्वर को जगतकर्ता मानते हैं, उसीप्रकार जैन सम्प्रदाय में रहकर भी यदि कोई ऐसा माने कि कर्म जीव को परिभ्रमण कराते हैं, अथवा आत्मा पर का कुछ करता है—तो वह भी अन्य

मतियों की भाँति मिथ्यादृष्टि ही है। एक समयकी अवस्था में विकार भी स्वतंत्ररूप से स्वयं करता है—ऐसा न जाने और माने कि कर्म ने विकार कराया है, तो वैसी मान्यतावाला जीव भी ईश्वर को जगत्कर्ता मानने वाले जैसा ही है; उसे वस्तु के स्वतंत्र स्वभाव की प्रतीति नहीं है।

और वास्तव में परमार्थ स्वभाव से एक समय के विकार का मैं कर्ता और वह मेरा कार्य—इस प्रकार निश्चय से जो विकार के साथ कर्ताकर्मपना माने उसे भी भगवान मिथ्यादृष्टि ही कहते हैं, क्योंकि वह विकार को ही आत्मा मानता है; विकार से भिन्न ज्ञायकस्वभाव का उसे भान नहीं है। 'आत्मा अपने स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है'—यह ठीक है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह विकार कोई दूसरा कराता है। दूसरा पदार्थ मुझे विकार कराता है—ऐसा जो मानता है वह तो अत्यन्त स्थूल भूल करता है; उसे तो व्यवहार की अर्थात् वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता की भी खबर नहीं है। अपने द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों से मैं स्वतंत्र हूँ, पर्याय में विकार होता है वह भी मेरी पर्याय के अपराध से होता है; परन्तु मेरे द्रव्य-गुण-स्वभाव में विकार नहीं है इसलिये स्वभाव से मैं विकार का कर्ता नहीं हूँ और विकार मेरा स्वरूप नहीं है;—ऐसा समझकर विकार-रहित ज्ञानस्वभाव का अनुभव करे वह जीव धर्मी है। यदि विकाररूप अंश को भी स्वतंत्र स्वीकार न करे तो त्रिकाली अंशी को स्वतंत्र स्वीकार करने का बल वह कहाँ से लायेगा? विकार पर कराता है—ऐसा माने अथवा तो विकार को ही अपना कर्तव्य मानकर अटके तो वह मिथ्यादृष्टि है। विकार के समय भी धर्मी की दृष्टि में ज्ञान-स्वभाव की ही अधिकता रहती है, और अज्ञानी तो उस विकार के समय अकेले विकार को ही देखता है—विकार से भिन्न ज्ञान को वह नहीं देखता। जिसने अपना परमार्थ स्वभाव दृष्टि में लिया है वह धर्मी जीव जानता है कि दयादि शुभपरिणाम भी विकार हैं; मैं उनका ज्ञाता हूँ परन्तु कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ। त्रिकाली आत्मा को क्षणिक विकार का कर्ता माने उसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है इसलिये वह धर्मी नहीं है। तीन काल तीन लोक में एक तिनके को भी तोड़ने का सामर्थ्य किसी आत्मा में नहीं है; जब परमाणु की अवस्था में चैतन्य का अधिकार नहीं है। अज्ञानी जीव पर का भला-बुरा कर देना मानता है, परन्तु अपने अज्ञान भाव और राग-द्वेष के अतिरिक्त पर में तो वह कुछ कर ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ में अपनी

अपनी स्वतंत्र शक्ति होने पर भी, पर का कुछ करे ऐसी शक्ति तो किसी द्रव्य में किंचित् ही नहीं है।

वस्तु स्थिति ही ऐसी है कि -
सकल वस्तु जगमें असहाई।
वस्तु वस्तु सों मिलै न कांइ॥
जीव वस्तु जाने जग जेती।
सोऊ भिन्न रहै सब सेती॥

[—नाटक समयसार :
सर्वविशुद्धिद्वार]

वास्तव में जगत के सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई पदार्थ दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, और न कोई पदार्थ किसी पदार्थ में एकमेक होता है। ज्ञानस्वभावी जीव जगत के पदार्थोंको जानता है, परन्तु वह सर्व पदार्थों से भिन्न ही रहता है। ज्ञाता सबको जानता है, किंतु वह किसी को बदलता नहीं है। तीनकाल-तीनलोक में समस्त द्रव्य असहाई हैं; कोई किसी को सहायता करे ऐसी शक्ति किसी द्रव्य में नहीं है, और न किसी द्रव्य में ऐसी पराधीनता है कि वह किसी की सहायता माँगे। जिस में जो शक्ति न हो वह कोई दूसरा नहीं दे सकता, और जिसमें जो शक्ति हो वह दूसरे का आश्रय नहीं लेता—यह महान सिद्धांत है। वस्तु स्वभाव की ऐसी स्वतंत्रता का निर्णय किये बिना धर्म या शांति नहीं होती; इसलिये शांतिनाथ भगवान की दिव्य-ध्वनि कहती है कि—हे जीवो! स्वाधीनता के बिना शांति नहीं होती; यदि तुम्हें शांति चाहिये हो, तो उसे अपने आत्मा में ही ढूँढो। आत्मा की शांति अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से बाहर नहीं होती। दुंदुभी के दिव्यनाद के बीच भगवान के उपदेश में ऐसा स्वतंत्रता का ढंढेरा पिटा है।

* अमोघ वाणी *

श्री तीर्थंकर भगवान की दिव्य-ध्वनि में जब ऐसा स्वतंत्र वस्तुस्वभाव का उपदेश हुआ तब अनेक पात्र जीव धर्म को प्राप्त हुए; भगवान को वाणी का पवित्र प्रवाह झेलकर अनेक जीव पावन—(पवित्र) हुए। भगवान की अपूर्व वाणी कानों मे पड़ते ही कोई जीव तो अन्तर की गहराई में उतरकर आत्मभान को प्राप्त हुए, किन्हीं ने श्रावक दशा प्रगट की और कोई जीव अन्तर में विशेष एकाग्र होकर मुनि हुए, तथा कोई स्त्रियाँ अर्जिका हुईं। इस प्रकार भगवान की छत्रछाया में मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविक - ऐसे चारों तीर्थों की स्थापना हुई। तीर्थंकर भगवान की अमोघ देशना निकले और उस समय धर्म प्राप्त करने वाले जीव न हों—ऐसा कभी नहीं हो सकता। भगवान की देशना के समय उसे झेलकर धर्मवृद्धि करने वाले पात्र जीव होते ही हैं। कोई ऐसा

कहे कि 'वैशाख शुक्ला दसवीं के दिन महावीर भगवान को केवलज्ञान होने पर भगवान की वाणी खिरी, परन्तु उस समय कोई जीव धर्म को प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये भगवान की देशना निष्फल गई'—तो यह बात यथार्थ नहीं है। अमुक समय तक तीर्थंकर भगवान की वाणी न खिरे यह दूसरी बात है, परन्तु वाणी खिरे और वह निष्फल जायें—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। भगवान की दिव्य वाणी तो 'अमोघ वाणी' है, वह कभी खाली नहीं जा सकती। वैशाख शुक्ला दसवीं के दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ, परन्तु वाणी नहीं खिरी; वाणी तो छियासठ दिन बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन खिरी। प्रथम वहाँ वाणी की योग्यता नहीं थी, और न सामने कोई वाणी झेलने वाला उत्कृष्ट पात्र जीव था। जब वहाँ वाणी छूटने का समय आया तब सामने गौतमस्वामी की भी गणधर पद के लिये तैयारी हो गई; दोनों का मेल सहज ही हो जाता है। भगवान की वाणी खिरे और उसे झेलकर धर्म समझने वाला पात्र जीव कोई न हो—ऐसा नहीं होता, अर्थात् वहाँ निमित्त-नैमित्तिक का मेल कभी नहीं टूटता। ऐसा होने पर भी, भगवान की वाणी के कारण सामनेवाला धर्म समझ जाता है—ऐसी पराधीनता भी नहीं है। वाणी से समझ हो तो सभी को सत्य समझ होनी चाहिये।

भगवान पूर्वभव में जब स्वयं साधक भूमिका में थे, उस समय अपने में धर्मवृद्धि के विकल्प से तीर्थंकर नामकर्म का बँध हुआ था, और उसीके उदय से दिव्यध्वनि खिरी; तो उस वाणी के समय उसे झेलकर धर्म की वृद्धि करने वाले जीव भी अवश्य होते ही हैं—न हों ऐसा नहीं होता।

इसी प्रकार यहाँ भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि—जगत के जीवों को सत्य समझाने का विकल्प उठने से इस काल में हमारी वाणी की रचना हो रही है; तो उस वाणी को झेलकर सत् समझने वाले भी इस काल में न हों—ऐसा नहीं हो सकता। देखो, पाँचवीं गाथा में वे कहते हैं कि—

तं एयत्तविहत्तं
दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं
चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥

—इस समयसार में मैं अपने आत्मा के निज वैभव से शुद्ध आत्मा का स्वरूप दर्शाता हूँ। 'मैं दर्शाता हूँ और तुम प्रमाण करना'—ऐसा कहा, तो वहाँ प्रमाण करने वाले जीव न हों ऐसा नहीं हो सकता। शुद्ध आत्मा का कथन करने वाली हमारी वाणी

निकले और सामने शुद्धात्मा को समझने वाले न हों—ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। हम आत्मा की जो बात कहना चाहते हैं उसे झेलनेवाले पात्र जीव भी हैं, उन से हम कहते हैं कि 'तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना।' सन्मुख प्रमाण करनेवाले पात्र जीवों को देखकर यह वाणी निकलती है। 'मैं कहता हूँ इसलिये तू मान लेना'—ऐसा आचार्य देव नहीं कहते, परंतु मैं अपने आत्म-वैभव से कहता हूँ और तू अपने स्वानुभव से प्रमाण करना—ऐसा कहा है, इसलिये सामने वाले पर उत्तर-दायित्व रखा है, उसमें प्रमाण करने की शक्तिरूप सामने वाले की योग्यता भी आ जाती है।

यहाँ उपादान-निमित्त की अपूर्व संधि से आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी शुद्धात्मा को दर्शाने वाली वाणी को जिस जीवने निमित्तरूप से स्वीकार किया है, उस जीव के उपादान में भी शुद्धात्मा को समझने की पात्रता है। 'अरे! इस दुषम पंचमकाल में मेरी ऐसी शुद्धात्मा का कथन करने वाली बात को प्रमाण करने वाले नहीं मिलेंगे'—ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते, परन्तु 'मैं दर्शाऊँ उसे प्रमाण करना'—ऐसा कहकर वे कहते हैं कि 'हमने सीधा तीर्थंकर भगवान का दिव्य उपदेश झेला है; तो ऐसा नहीं हो सकता कि हमारे उपदेश को झेलकर समझने वाले भरत क्षेत्र में न हों। जैसे—भगवान की अमोघ वाणी निकले और उसे झेलकर समझने वाले न हों—ऐसा नहीं होता, उसीप्रकार हमारा यह शुद्धात्मा का उपदेश हो, और उसे समझने वाले न हों—ऐसा नहीं हो सकता। देखो तो! यह अपूर्व संधि!

❀ धन्य वे वक्ता...

और धन्य वे श्रोता .. ❀

समयसार के श्रोता से श्री आचार्य प्रभु अनुरोध करते हैं कि—जैसा अखण्ड आत्मा मैं दर्शाता हूँ वैसे ही आत्मा को तू अपने अनुभव से प्रमाण करना... अंतर से रुचि लाकर स्वीकार करना; स्वीकार ही करना...अस्वीकार मत करना। देखो, यह वक्ता और श्रोता! उपदेशक वक्ता शुद्धात्मा ही बतलाना चाहते है और श्रोता को भी शुद्धात्मा का स्वरूप समझने का ही उत्साह है। वहाँ आचार्य-देव कहते हैं कि—'मैं जो शुद्धात्मा बतलाऊँ, उसे तू प्रमाण करना'—उसमें आदेश से हुक्म नहीं दिया है, परंतु यथार्थ स्थिति बतलाई है कि जो जीव शुद्धात्मा को समझने का इच्छुक है वही हमारा श्रोता है। सत् का आदर करके समझनेवाले जीव हमारे संयोग में न हों—ऐसा नहीं होता। हम अल्पकाल

[शेष पृष्ट २८१ पर]

परीक्षा करके
धर्म का स्वरूप जानना चाहिये

[पूज्य गुरुदेव का एक सरल प्रवचन]

卐

[वीर सं० २४८० मगसिर शुक्ला ६]

यह मनुष्य देह प्राप्त कर के निर्णय करने जैसा है कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? मनुष्यभव प्राप्त करके मेरा कल्याण कैसे हो सकता है?—इस बात की जिसे दरकार नहीं है और यों ही सांसारिक मजदूरी में जीवन बिताता है उसका जीवन तो पशु जैसा है। जीवन में आत्मा की दरकार करके जिसने अध्ययन किया होगा उसे अन्त समय में उसका लक्ष रहेगा...जीवन में जैसी भावना का मंथन किया होगा वैसा ही योग-फल आकर खड़ा हो जायगा। जिसे अपने आत्मा का हित करना है ऐसे आत्मार्थी जीव को चाहिए कि वह जीव-राजा को पहिचान कर उसकी श्रद्धा-बहुमान तथा सेवा-आराधना करे।

यह धर्म की परीक्षा करने की बात है। जिसे धर्म करना हो उसे सच्चे धर्म की परीक्षा करना चाहिए। जगत के लोग हीरा-माणिक-सोना इत्यादि पदार्थों की परीक्षा करते हैं, लेकिन अन्तर में चैतन्यतत्त्व क्या वस्तु है और उसका धर्म कैसा होता है—उसकी परीक्षा नहीं करते। बाह्य में पैसादि की प्राप्ति तो पुण्य के अनुसार होती है, उसमें बुद्धि काम नहीं आती, तथापि वहाँ परीक्षा करता है; तब फिर जिसे आत्मा में धर्म करना हो उसे धर्म-अधर्म की परीक्षा करके उसका स्वरूप जानना चाहिये। आत्मा का स्वभाव क्या है, उसे धर्म कैसे होता है—यह जानना चाहिये।

यह देह-मन-वाणी तो जड़ हैं; पैसा भी जड़ है; भीतर चैतन्यतत्त्व भिन्न है; वह अनादि-अनंत है; न तो किसीने उसे नया बनाया है और न कभी उसका नाश होता है; वह अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध तत्त्व है। ऐसे आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, वह परीक्षा करके जानना चाहिये। आत्मा में दया-दान या हिंसा के जो भाव होते हैं वह धर्म नहीं है, और शरीर तो जड़ है, वह आत्मा से बाह्य वस्तु है—आत्मा की

वस्तु नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान वह स्वभाव है, पुण्य-पाप वह विकार है और शरीर तो संयोग है;—इस प्रकार तीनों को पहिचान कर ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही आदरणीय मानना वह धर्म है। जड़ शरीरादि बाह्य पदार्थ तो पृथक् ही हैं, इसलिये वे हेय नहीं हैं और उपादेय भी नहीं हैं; वे तो ज्ञेय हैं। पुण्य-पाप विकार होने से हेय हैं और ज्ञानानन्द स्वभाव उपादेय है। ज्ञेय स्व-पर सभी कुछ है।—इसप्रकार हेय-ज्ञेय और उपादेय—समस्त तत्वों को परीक्षा करके पहिचानना चाहिये।

यह मनुष्य देह प्राप्त करके निर्णय करने जैसा है कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? यह शरीर तो पृथक् वस्तु है; आत्मा इससे भिन्न है। सगे-सम्बन्धी तो इस शरीर को पहिचानते हैं—आत्मा को नहीं जानते। शरीर में कोई रोग हो तो पूछते हैं कि भाई! कैसी तबियत है? लेकिन आत्मा में अनादिकालीन अज्ञानरोग लगा है, उसकी खबर कोई पूछता है? यहाँ से मरकर आत्मा कहाँ जायेगा? अरे! यह शरीर तो अल्पकाल रहनेवाला है, वह आत्मा के साथ सदैव नहीं रहेगा; और अंतर में जो पुण्य-पाप तथा क्रोध-मान-माया-लोभादि के भाव होते हैं वे भी क्षणिक वृत्तियाँ हैं—वह धर्म नहीं है। अन्तर में ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा सदैव रहनेवाला तत्व है; वह क्या है उसे जानना चाहिये। यह मनुष्यभव प्राप्त करके अब मेरा हित कैसे हो?—उसकी जिसे दरकार नहीं है और यों ही सांसारिक मजदूरी में जीवन बिताता है उसका जीवन तो पशु जैसा है। भाई! जब यह शरीर भी तेरा नहीं है, तो फिर बाह्य में प्रत्यक्ष अलग दिखाई देते हैं उन स्त्री-पुत्र-पैसादि की तो बात ही कहाँ रही! पैसा कमाने में अज्ञानी को सुख का भास होता है, किन्तु पैसा कमाने का भाव तो पापभाव है; फिर भी अज्ञानी को सन्निपात के रोगी की भाँति उसमें सुख भासित होता है। पराश्रित होकर जीता है वही दुःख है। मैं ज्ञानमूर्ति भगवान हूँ—यह तो जो जानता नहीं है और ऐसा मानता कि मेरा पर वस्तु के बिना नहीं चल सकता, वह जीव महान दुःखी है। मेरा पर वस्तु के बिना नहीं चल सकता—यह मान्यता ही महान दुःख है। जिसप्रकार हर्ष का सन्निपात हुआ हो तो वह रोगी हँसता दिखाई देता है, लेकिन वह दुःखी है, कुछ ही समय में वह मर जायेगा। उसीप्रकार अज्ञानी जीव को मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्ररूपी त्रिदोष हुआ है, इसलिये वह सन्निपात के रोगी की भाँति स्त्री-पुत्र-पैसे में सुख मानकर वहाँ रुचि करता है, लेकिन वह

सुखी नहीं है, वह आकुलता से दुःखी ही है।

देखो, निर्धनता कोई दोष नहीं है और सधनता कोई गुण नहीं है। बाह्य अनुकूलताओं के आधार से गुण या दोष नहीं है। उसी प्रकार शरीर में रोग होना कोई दोष नहीं है और सुन्दर शरीर होना कोई गुण नहीं है। शरीरादि संयोगों के आधार से आत्मा के गुणदोष नहीं हैं; किन्तु शरीर है सो मैं हूं, पैसे में सुख है,—ऐसा जिसे मिथ्याभिमान है उस जीव को मिथ्यात्व का महान दोष है; और जिसे शरीरादि से भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप का भान है वह जीव गुणवान है। चावल लेने जाता है तो वहाँ भी नमूना देखकर और जांच करके खरीदता है, तब फिर धर्म क्या वस्तु है उसे भी परीक्षा करके पहिचानना चाहिये। स्वयं पहिचाने बिना यों ही मान ले कि देव-गुरु ने कहा वह सच्चा है और उसके भाव को न जाने तो उसे लाभ नहीं हो सकता; सच्चे-झूठे की परीक्षा स्वयं करना पड़ेगी।

वर्तमान में त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधर भगवान महा विदेह क्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं, उन्होंने क्या तत्त्व कहा है वह स्वयं न जानें और यों ही—"जो भगवान ने कहा सो सच्चा"—ऐसा मानलें तो उस से अपने को सम्यग्ज्ञान का लाभ नहीं होगा। इसलिये देव–गुरुने जो कुछ कहा है उसमें हेय–ज्ञेय और उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करके स्वयं पहिचानना चाहिये।

जीव को बाह्य संयोग दुःखदायक नहीं हैं। शरीर में रोग हो, बिच्छू काटे उसका जीव को किंचत् दुःख नहीं है; किन्तु अंतर में—"शरीर मैं हूँ, मुझे बिच्छू ने काटा"—ऐसा जो मोहभाव है उसीका दुःख है।—ऐसा पहले निश्चित् करना चाहिये। अब, अंतर में जो राग द्वेष के भाव होते हैं वे भी क्षणिक हैं, उनमें भी जीव का सुख नहीं है। अंतर में ज्ञानस्वरूप आत्मा है; उस ज्ञान में पाँच वर्ष पहले की बात भी इसी समय ज्ञात होती है। दूर की वस्तु यहाँ बैठे-बैठे भी ज्ञानके ख्याल में आती है। विकार पहले हुआ हो उसे ज्ञान आज जाने, फिर भी ज्ञान में वैसा विकार नहीं होता। देखो यह ज्ञान का स्वभाव!! ज्ञान तो ज्ञातास्वरूप है, उस ज्ञान में विकार नहीं है, संयोग नहीं है। ऐसी ज्ञानस्वभावी वस्तु आत्मा है उसे पहिचान। बाजार में मिसरी लेने जावे तो वहाँ नीचे दर्जे की मिसरी पसन्द नहीं करता; फिर आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण जानने के सामर्थ्यवाला है, उस ज्ञान की हीन अवस्था पसन्द करने योग्य नहीं है; किन्तु परिपूर्ण जाने ऐसी पूर्ण

वहा ही आदरणीय है। भाई, तेरा ज्ञान-स्वभाव पूर्ण जाने ऐसा है, किन्तु राग-द्वेष करके रुक जाये ऐसा नहीं है, —ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर। ऐसा निर्णय करके ज्ञानस्वभाव का आदर करना वह हित का उपाय है।

भाई! आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ होकर पूर्ण जाने ऐसा है; उसके बदले की ऐसा—शरीरादि में मेरा सुख है—ऐसा मानकर राग-द्वेष-मोह में रुक गया है, इसलिये ज्ञान संकुचित हो गया है, किन्तु ज्ञान में सर्वज्ञता होने की शक्ति है, उसे पहिचान कर उसमें एकाग्र हो तो पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो जाये और राग-द्वेष दूर हो जाये। जिस प्रकार छोटीपीपल में चौसठपुटी चरपराहट-रूप होनेकी शक्ति है; लेकिन जब वह व्यक्त हो जाये तब दवा में काम आती है; उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और संत-मुनि कहते हैं कि भाई! तुझ में सर्वज्ञपद होने की शक्ति भरी है, उस में से सर्वज्ञता प्रगट हो वह पसंद करने योग्य है, इसके अतिरिक्त अल्पज्ञता और रागद्वेष पसन्द करने योग्य नहीं हैं। ऐसा अन्तर में भाव भासन होना चाहिए। अंतर में भास होना चाहिए कि अहो! मैं तो ज्ञान-स्वभाव जीवतत्त्व हूँ, पुण्य-पाप तत्त्व मेरी स्थायी वस्तु नहीं है, और बाह्य संयोग-वियोग भी मेरी वस्तु नहीं है! मैं संयोग से बिलकुल पृथक् हूँ; क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्ति भी मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है; मुझमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य भरा है—ऐसा जानकर उस परि-पूर्ण स्वभावसामर्थ्य का आदर करना वह हित का उपाय है। जीवन में जिसने इस बातका अभ्यास किया होगा और आत्मा की दरकार की होगी, उसे मृत्यु के समय उसका लक्ष रहेगा। लेकिन जिसने जीवनभर दरकार नहीं की वह मृत्यु के समय क्या करेगा? जीवन में जैसी भावना का मंथन किया होगा, वैसा ही योगफल आकर खड़ा रहेगा। देखो, किसी के घर बड़ा भारी राजा आया हो और उसी समय दुकान पर पर दो आने की चीज लेने कोई गड़-रिया आ पहुँचे, तो वह राजाका आदर करता है, गड़रिये के पास नहीं रुकता; उसी प्रकार जिसे आत्मा का हित करना है, आत्मा का कल्याण करना है वह जीव अंतर में चैतन्यराजा का आदर करता है, किन्तु क्षणिक पुण्य पाप के या संयोग के आदर में नहीं रुकता। समयसार में भी कहा है कि— जिस प्रकार धनका लोभी आदमी राजाको पहिचान कर उसकी सेवा करता है, उसी प्रकार जिसे अपने आत्मा का हित करना है ऐसे आत्मार्थी जीव को चाहिए कि जीवराजा को पहिचानकर उसकी श्रद्धा-बहुमान और सेवा-आरा-धना करे। "अहो! मेरा आत्मा तो चैतन्यस्वभाव है, वह राग जितना नहीं है, शरीरादि संयोग के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है"—इस प्रकार चैतन्य-स्वभाव को पहिचाने तो आत्मा का कल्याण होता है। इसलिये सत्समागम से परिचय करके यह बात बराबर सम-झने योग्य है।

—•—

अरिहंत भगवान को पहिचानो!

[अनादि के मोह का क्षय करके अपूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की रीति]

[श्री प्रवचनसार गाथा ८० पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों से]

* लेखांक—२ *

श्री अरिहंत भगवान को नमस्कार हो।

❀

जिसे आत्मा का अपूर्व हित करना हो उसे अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है वह जानना चाहिए; और जानने के लिये अरिहंत भगवान का स्वरूप जानना चाहिए। अरिहंत भगवान को पहिचानने से आत्मा का वास्तविक स्वरूप जाना जाता है।

❀

अरिहंत भगवान के आत्मा को जानने से अनुमान प्रमाण से अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है कि अहो! मेरे आत्मा का स्वरूप तो ऐसा सर्व प्रकार से शुद्ध है, पर्याय में विकार वह मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है; अरिहंत में जो नहीं है वह मेरा स्वरूप नहीं है; जितना अरिहंत में है उतना ही मेरे स्वरूप में है; निश्चय से मुझमें और अरिहंत में कोई अन्तर नहीं है;—ऐसी आत्मप्रतीति होने से, अज्ञान और विकार का कर्तृत्व छूटकर जीव अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ इसलिये स्वभाव में पर्याय की एकता होने से सम्यग्दर्शन हुआ। अब पुरुषार्थ द्वारा उस स्वभाव के ही आधार से रागद्वेष का सर्वथा क्षय करके, अरिहंत भगवान जैसी ही पूर्ण दशा वह जीव प्रगट करेगा।

❀

यह बात खास समझने जैसी है; इसमें अकेले परकी बात नहीं है। अरिहंत भगवान को जानना कहा उसमें वास्तव में तो आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को जानना कहा है। अरिहंत भगवान जैसा ही इस आत्मा का पूर्ण शुद्ध स्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात की है। जो जीव पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध स्वभाव को जाने उसे धर्म होता है; जो जीव ऐसा जानने का पुरुषार्थ न करे उसे धर्म नहीं होता। इस प्रकार इसमें यथार्थ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही हैं; और सत् निमित्त रूप से अरिहंत देव हैं—यह बात भी आजाती है। अरिहंत भगवान के सिवा जो अन्य कुदेवादि को मानता हो उसे मोह क्षय नहीं होता।

ध्यान रखना, यह अपूर्व बात है; इसमें अकेले अरिहंत की बात नहीं है किन्तु अपने आत्मा को मिलाकर बात है।

अरिहंत भगवान के साथ अपने आत्मा का इस तरह मिलान करना चाहिए कि —'अहो ! यह आत्मा तो केवलज्ञान स्वरूप है; अरिहंत भगवान के पूर्ण ज्ञान सामर्थ्य है और विकार किञ्चित् मात्र भी नहीं है; मेरा आत्मा भी अरिहंत जैसे स्वभाव वाला हूं ।'

❀

जिसने ऐसी प्रतीति की उसे अब स्वद्रव्योन्मुख होना ही रहा, किन्तु निमित्तों की ओर देखना नहीं रहा; क्योंकि अपनी पूर्णदशा अपने स्वभाव में से आती है; निमित्त में से नहीं आती; और उसे पुण्य-पाप या अपूर्ण दशा की ओर देखना भी नहीं रहा, क्योंकि वह भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसमें से पूर्णदशा नहीं आती। जिस में पूर्णदशा प्रगट होने का सामर्थ्य है ऐसे अपने द्रव्य-गुण में ही पर्याय की एकाग्रता करना रहा; ऐसी एकाग्रता की क्रिया करते-करते पर्याय शुद्ध हो जाती है और मोह दूर हो जाता है ।

*—ऐसी एकाग्रता की क्रिया कौन करता है ? जिसने प्रथम अरिहंत भगवान को पहिचाना हो और अरिहंत जैसा अपने आत्माका स्वरूप ख्याल में लिया हो वह जीव पर्याय की अशुद्धता दूर कर के शुद्धता प्रगट करने के लिये अपने शुद्ध स्वभाव में एकाग्रता का प्रयत्न करता है। किंतु जो जीव अरिहंत समान अपने स्वरूपको नहीं पहिचानता और पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मान रहा है वह जीव अशुद्धता दूर करके शुद्धता प्रगट करनेका प्रयत्न नहीं करता। इसलिये सर्व प्रथम आत्मा का शुद्ध स्वरूप पहिचानना चाहिए और उसके लिये अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना चाहिए यह धर्म की रीति है।

❀

इस समय इस भरतक्षेत्र में अरिहंत भगवान नहीं विचरते; किन्तु यहाँ से थोड़ी दूर महा विदेह क्षेत्र में सीमंधर भगवानादि तीर्थंकर अरिहंत रूप से साक्षात् विचरते हैं। क्षेत्र से अमुक अंतर होने पर भी भाव से स्वयं अपने ज्ञान में अरिहंत भगवान के स्वरूप का निर्णय करे तो उसमें क्षेत्र का अन्तर बाधक नहीं होता। जिसने अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मस्वभाव का निर्णय किया उसके तो अपने भाव में अरिहंत भगवान सदैव निकट ही वर्तते हैं। "जैसे अरिहंत वैसा मैं"—ऐसी प्रतीति के बल से भाव में से उसने अरिहंत भगवान के साथ का अन्तर तोड़ दिया है।

❀

किसी को ऐसी शंका हो कि इस समय तो अरिहंत नहीं हैं; फिर उनके

स्वरूप का निर्णय कैसे हो सकता है ? उसका समाधान:—यहाँ अरिहंत की उपस्थिति की बात नहीं की, किन्तु अरिहंत का स्वरूप जानने की बात की है। यहाँ अरिहंत की साक्षात् उपस्थिति हो तभी उनका स्वरूपजाना जा सकता है—ऐसा नहीं है। इस समय इस क्षेत्र में अरिहंत भगवान नहीं है किन्तु महा विदेह क्षेत्र में तो इस समय भी अरिहंत भगवान साक्षात् विराजमान हैं और ज्ञान द्वारा उनके स्वरूप का निःसन्देह निर्णय हो सकता है।

❀

सामने साक्षात् अरिहंत भगवान विराजते हों तब भी ज्ञान द्वारा ही उनका निर्णय होता है। परम औदारिक शरीर, समवशरण, दिव्यध्वनि, वह कहीं वास्तव में अरिहंत भगवान का स्वरूप नहीं है; वह सब तो आत्मा से पृथक् हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मा वह द्रव्य; ज्ञान–दर्शनादि उसके गुण और केवलज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्दादि पर्याय—ऐसे द्रव्य–गुण पर्याय से अरिहंत भगवान का स्वरूप पहिचाने तो अरिहंत को जाना कहा जाता है।

❀

क्षेत्र से निकट अरिहंत की उपस्थिति हो या न हो उसके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान में उनके स्वरूप का निर्णय है या नहीं उसके साथ सम्बन्ध है। क्षेत्र से निकट अरिहंत प्रभु विराज रहे हों, किन्तु उस समय यदि ज्ञान द्वारा जीव उनके स्वरूप का निर्णय न करे तो उस जीव को आत्मा का स्वरूप ज्ञात नहीं होता और उसके लिये तो अरिहंत भगवान अति दूर हैं।

और इस समय अरिहंत प्रभु क्षेत्र से निकट न होने पर भी यदि अपने ज्ञान द्वारा उनके स्वरूप का निर्णय करे तो उसके लिये अरिहंत प्रभु निकट उपस्थित हैं।

❀

इस समय इस भरत क्षेत्र में पंचमकाल में साक्षात् अरिहंत भगवान की अनुपस्थिति में भी जिन आत्माओं ने अपने ज्ञान में अरिहंत भगवान के स्वरूप का (—द्रव्य–गुण–पर्याय का) सच्चा निर्णय किया है और वैसा ही अपना स्वरूप है ऐसा जाना है, उनके लिये तो अरिहंत भगवान साक्षात् विराजमान हैं।

❀

देखो, इसमें किसकी महिमा है ? अरिहंत भगवान के स्वरूप का निर्णय करने वाले ज्ञान की महिमा है। भाई रे ! इस क्षेत्र में अरिहंत नहीं हैं,

किन्तु अरिहंत का निर्णय करनेवाला तेरा ज्ञान तो है न! उस ज्ञान के बल से अरिहंत का निर्णय करके क्षेत्र भेद निकाल दे। ज्ञान को अरिहंतका निर्णय करने में क्षेत्रभेद बाधक नहीं होता।—अहो! अरिहंत प्रभु के विरह को भुला दे ऐसी यह बात है।

❀

जिसने अपने भाव में भगवान को निकट किया उसको तो भगवान सदैव निकट ही वर्तते हैं; और जिसने अपने भाव में भगवान को दूर किया (अर्थात् भगवान को नहीं पहिचाना) उसको भगवान दूर हैं,-फिर भले ही क्षेत्र से निकट हों।

❀

द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंत भगवान के स्वरूप का निर्णय करने से पूर्ण स्वभाव प्रतीति में आ जाता है। अरिहंत भगवान को जो पूर्ण निर्मल दशा प्रगट हुई वह कहाँ से प्रगट हुई है? जहाँ सामर्थ्य था वहाँ से प्रगट हुई है। स्वभाव में पूर्ण सामर्थ्य था, उसकी सन्मुखता से वह दशा प्रगट हुई है। मेरा स्वभाव भी अरिहंत भगवान जैसा परिपूर्ण है, स्वभाव सामर्थ्य में कोई अन्तर नहीं है। बस! ऐसी स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करते ही मोह दूर हो जाता है और सम्यक्त्व होता है।—यह सम्यक्त्व का उपाय है।

जिस प्रकार अरिहंत भगवान अपने ज्ञान में सब कुछ जानते हैं, किन्तु पर द्रव्य का कुछ नहीं करते; और राग-द्वेष-मोह भी उनके नहीं है; उसी प्रकार मेरा आत्मा भी वैसा ही ज्ञान स्वरूपी है;—इस प्रकार ज्ञान स्वभाव की प्रतीति करना वह मोह क्षय का कारण है।

❀

जो जीव ऐसी ज्ञान स्वभाव की प्रतीति न करे और विपरीत माने उसने वास्तव में अरिहंत भगवान को भी नहीं पहिचाना है और वह अरिहंत भगवान का सच्चा भक्त नहीं है।

जिसने अरिहंत भगवान के पूर्ण स्वरूप को जाना और उसके द्वारा अपने आत्म स्वरूप का निर्णय किया, वह जीव सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है; वही सच्चा जैन है; वह जिनेश्वरदेव का लघुनन्दन है। प्रथम ऐसा निर्णय करना कि जिनेन्द्रदेव जैसा ही अपना स्वभाव है वह जैनत्व है; और फिर स्वभाव के अवलम्बन से पुरुषार्थ द्वारा वैसी पूर्ण दशा प्रगट करना वह जिनत्व है। अरिहंत के पूर्णस्वरूप को जाने बिना और उनके जैसे अपने निजस्वभाव को पहिचाने बिना सच्चा जैनत्व अंशमात्र भी नहीं हो सकता, इसलिये धर्म

नहीं होता।

❀

अहो! अरिहंत भगवान अपने स्वभाव से ही स्वयं सुखी हैं; इंद्रिय-विषयों के बिना ही उनका आत्मा सुखरूप परिणमित हो रहा है, इसलिये सुख वह आत्मा का ही स्वरूप है। स्वभाव से ही स्वयमेव सुखरूप हुए अरिहंत भगवंतों को शरीर का संयोग होने पर भी आहार, जल, औषधि या वस्त्रादि की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार १८ दोष रहित और अनंतगुण सहित ऐसा अरिहंत के आत्मा को पहिचानकर उसके साथ अपने आत्मा की तुलना करे तो अपना स्वतंत्र स्वभाव प्रतीति में आ जावे कि—अहो! कभी भी किन्हीं संयोगों में मेरा सुख नहीं है; सुख तो मेरा अपना स्वभाव है; मात्र मेरा स्वभाव ही सुख का साधन है। ऐसी समझ होने पर सम्यक्दर्शन होता है।

❀

अरिहंत भगवान को परिपूर्ण अतीन्द्रिय सुख है; उनकी पहिचान होने पर अतीन्द्रिय सुख की पहिचान होती है और इंद्रिय-विषयों में से सुख-बुद्धि दूर हो जाती है।

❀

अरिहंत भगवान को पहले अज्ञान दशा थी फिर ज्ञानदशा प्रगट हुई;—इन अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओं में अरिहंत के जो नित्य स्थित रहा है वह आत्मद्रव्य है। जो आत्मा पहले अज्ञानदशा में था वही इस समय ज्ञानदशा में है—ऐसे पहले-फिर को जोड़-रूप अन्वयरूप जो अखण्ड ज्ञानानंद स्वरूप पदार्थ है वह द्रव्य है। पर्याय पहले-फिर को जोड़रूप अन्वयरूप नहीं है किन्तु पृथक्-पृथक् है। पहली अवस्था वह दूसरी नहीं है, दूसरी अवस्था वह तीसरी नहीं है—इसप्रकार अवस्था में परस्पर भिन्नत्व है; और द्रव्य तो जो पहले समय में था वही दूसरे समय है; दूसरे समय में था वही तीसरे समय है—इस प्रकार द्रव्य में एकत्वता है।—ऐसा जाने तो अकेली पर्यायबुद्धि दूर होकर स्वद्रव्य सन्मुख हो जावे।

❀

किस अवस्था के समय द्रव्य सामर्थ्य नहीं है?—सभी अवस्थाओं के समय द्रव्यसामर्थ्य ज्यों का त्यों एकरूप है। जितना अरिहंत भगवान का द्रव्यसामर्थ्य है उतना ही अपना द्रव्यसामर्थ्य है। यह जानने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय मेरी अपूर्ण दशा होने पर भी अरिहंत भगवान जैसी पूर्ण दशा भी मुझमें से ही प्रगट होगा है और उस पूर्ण दशामें भी मैं ही स्थित रहनेवाला हूँ।

❀

द्रव्य का विशेषण वह गुण है।

जैसे कि सोना कैसा? तो कहते हैं कि सोना पीला, भारी, चिकना है; उसी प्रकार आत्मद्रव्य कैसा? तो कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप, चारित्रस्वरूप है;—इस प्रकार आत्म-द्रव्यको ज्ञानादि विशेषण लागू होते हैं, इसलिये वे आत्मा के गुण हैं। जितने गुण अरिहंत भगवान के आत्मा में हैं उतने ही गुण इस आत्मा में हैं। अरिहंत के और इस आत्मा के द्रव्य-गुण में अन्तर नहीं है। पर्याय में जो अन्तर है वह द्रव्य के अवलंबन से दूर हो जाता है।

❀

अरिहंत जैसा होने का उपाय क्या?—तो कहते हैं कि अरिहंत भगवान जैसे ही अपने द्रव्य-गुण हैं—ऐसा जानकर उनका अवलंबन करना वह अरिहंत जैसा होने का उपाय है।

❀

जितने अरिहंत हुए हैं उन सर्व अरिहंत भगवन्तों ने अपने द्रव्य का अवलंबन करके ही अरिहंत दशा प्रगट की है; उसी प्रकार सर्व जीवों के लिये अपने द्रव्य का अवलंबन करना ही सम्यग्दर्शन का और अरिहन्तपद का उपाय है।

❀

इस आत्मा का स्वभाव अरिहन्त भगवान जैसा किस प्रकार है वह जाने बिना, दया-भक्ति-व्रत-पूजा या शास्त्राभ्यासादि चाहे जितना करे तथापि किसी भी प्रकार धर्म नहीं होता। धर्म करने के लिये प्रारम्भिक कर्तव्य यह है कि अरिहंत भगवान का और उन्हीं जैसे अपने आत्मा का निर्णय करना।

❀

अरिहंतभगवान के स्वभाव में और इस आत्मा के स्वभाव में निश्चय से कुछ भी अंतर माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म नहीं होता।

❀

अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष में लेने से अपने परमार्थ स्वरूप का ख्याल आता है। भगवान के द्रव्य गुण पूरे हैं और उनकी पर्याय सम्पूर्ण ज्ञानमय है ऐसा निर्णय करने से, मेरे द्रव्य-गुण तो पूर्ण हैं और पर्याय सम्पूर्ण ज्ञानरूप और विकार रहित होना चाहिए—ऐसी प्रतीति होती है; और उस प्रतीति के बल से पूर्णता की ओर का पुरुषार्थ बढ़ता है।

❀

"पूर्णता के लक्ष से प्रारंभ" यानी जैसे अरिहन्त वैसा मैं—ऐसे लक्ष से धर्म का प्रारम्भ होता है। स्वभाव सामर्थ्य की पूर्णता भासित हुए बिना किसका आश्रय लेकर धर्म करेगा? अल्पता, तुच्छता के आश्रय से धर्म का का प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु प्रभुता

को पहिचानकर उसके बल से प्रभुता का पुरुषार्थ बढ़ता है। अपनी प्रभुता को जाने बिना धर्म के अपूर्व पुरुषार्थ का सच्चा उल्लास आता ही नहीं।

ॐ

अरिहन्त भगवान के साथ तुलना करके जीव अपने आत्मस्वरूप का निर्णय करता है कि जैसे अरिहंत भगवान हैं वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार अरिहन्त के स्वरूप को जानने से जीव स्वसमय को जान लेता है, और स्वसमय को जानने से उसका मोह दूर हो जाता है।—यह अपूर्व धर्मका प्रारम्भ है।

ॐ

अरिहंत भगवान की पर्याय में राग का अभाव है, इस लिये राग आत्मा का असली स्वरूप नहीं है;—इस प्रकार अरिहंत भगवान को पहिचानने से आत्मा और राग का भेदज्ञान होता है।

ॐ

ज्ञान पर्याय एक समय पर्यंत की होने पर भी उसमें त्रिकाली द्रव्य का निर्णय करने का सामर्थ्य है। सर्वज्ञ भगवान के सम्पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय को और वैसे ही अपने आत्मा को निर्णय में ले ले ऐसा सामर्थ्य ज्ञान का ही है, राग में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। अन्तर्मुख हो कर त्रिकाली स्वभाव के साथ तन्मय हो जाये—ऐसी एक समय की ज्ञानपर्याय की शक्ति है, किन्तु किसी भी राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि अन्तर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव के साथ तन्मय हो सके!

ॐ

अरिहंत भगवान का आत्मा सर्वतः विशुद्ध है; उनकी पर्याय भी अनंत चैतन्यशक्ति सम्पन्न है; ऐसा ख्याल में लिया उस समय अपने को वैसी शुद्ध पर्याय नहीं वर्तती किन्तु राग वर्तता है, तथापि 'राग मेरी अवस्था का मूल स्वरूप नहीं है; मेरी अवस्था अरिहंत भगवान जैसी अनंत चैतन्य शक्ति सम्पन्न राग रहित होना चाहिए''—ऐसा निर्णय स्वसन्मुखतासे होता है; और ऐसा निर्णय होने से राग के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर स्वभाव के साथ एकत्वबुद्धि होती है, इस लिये मोह दूर होकर सम्यग्दर्शन होता है।

जिस ज्ञानपर्याय ने अरिहंत भगवान के आत्मा का निर्णय किया उस में अपने त्रिकाली स्वरूप का निर्णय करने की भी शक्ति है। त्रिकाली वस्तु का निर्णय करने में त्रिकाल जितना समय नहीं लगता किन्तु वर्तमान एक पर्याय द्वारा त्रिकाली वस्तु का निर्णय होता है।

ॐ

जीव को सुख की आवश्यकता है; इस जगत में सम्पूर्ण सुखी श्री अरिहंत प्रभु हैं; इसलिये 'सुख की आव-

रूपता है'—उसका अर्थ यह हुआ कि अरिहंत भगवान जैसी दशारूप अपने को होना है। जिसने अरिहंत भगवान को पहिचाना हो और अपने आत्मा को अरिहंत भगवान जैसा जाना हो वही अरिहंत भगवान जैसी दशारूप होने की भावना करता है। इस प्रकार अरिहंत भगवान को पहिचाने बिना सुख का सच्चा उपाय नहीं हो सकता।

*

मुझे अरिहंत भगवान जैसा पूर्ण सुख प्रगट करना है यानी अरिहंत भगवान जैसा सामर्थ्य मेरे आत्मा में है—ऐसा जिसने स्वीकार किया उसने अरिहंत भगवान जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय के अतिरिक्त अपने में से सब निकाल दिया है, यानी वह मेरा स्वरूप नहीं है ऐसी प्रतीति की। आत्मा पर का कुछ करता है, निमित्त से लाभ-हानि होती है या शुभराग से धर्म होता है—यह सारी मान्यता दूर हो गई; क्योंकि अरिहंत भगवान के आत्मा में वह कुछ नहीं है।

*

अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने से अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय पहिचाने जाते हैं; इस प्रकार आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, समस्त पर्यायों और गुणों को एक चैतन्यद्रव्य में ही अन्तर्गत करने से एकाकार चैतन्यद्रव्य ही लक्ष में रह जाता है; उस समय सर्व विकल्पों की क्रिया रुक जाती है और मोह का नाश होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है।

*

जिसने भगवान के साथ तुलना करके आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का वास्तविक स्वरूप निश्चित् किया हो, वह गुण-पर्यायों को एक परिणमित द्रव्य में समावेश कर के द्रव्य को अभेदरूप से लक्ष में ले सकता है। अरिहंत जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, जिसने गुण-पर्यायों का एक स्वद्रव्य में संकलन किया उसने पर्याय को अन्तर्मुख करके आत्मा को अपने स्वभाव में ही धारण कर रखा; वहाँ मोह किसके आधार से रहेगा?—इसलिये निराश्रय हुआ मोह उसी क्षण नष्ट हो जाता है। जितनी द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता हुई उतना धर्म है।

*

जिस क्षण ज्ञान अभेद चैतन्य द्रव्य की ओर उन्मुख हुआ उसी क्षण पर्याय भेद और गुण भेद—दोनों का लक्ष एक साथ छूट गया है। अभेद स्वभाव की ओर ढले हुए ज्ञान में से भेद का विकल्प छूट गया है। निर्विकल्प होकर ऐसे अभेद चैतन्य का अनुभव करने में अपूर्व पुरुषार्थ है।

*

देखो, इस ज्ञानका सामर्थ्य ! अहो ! एक समय की ज्ञान-पर्याय में अनंत केवली भगवन्तों का निर्णय करने की शक्ति है। जिस ज्ञान ने अरिहन्त भगवान के केवलज्ञान का निर्णय किया उस ज्ञान में अपने स्वभाव का भी निर्णय करने की शक्ति है।

*

वस्तु का वास्तविक स्वरूप जैसा हो वैसा माने तो वस्तुस्वरूप और मान्यता दोनों एक होने से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होता है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है वह जानने के लिये अरिहन्त भगवान को पहिचानने की आवश्यकता है; क्योंकि अरिहन्त भगवान द्रव्य-गुण-पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध हैं। जैसे अरिहन्त भगवान हैं वैसा जब तक यह आत्मा न हो तब तक उसकी पर्याय में दोष है अशुद्धता है। अरिहंत भगवान जैसी अवस्था कब होती है? पहले अरिहन्त भगवान जैसे अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निर्णय करे तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होता है यानी अरिहन्त भगवान जैसा अंश प्रगट होता है और फिर उस शुद्ध स्वरूप में लीन होने से सर्व मोह का नाश होकर साक्षात् अरिहन्त भगवान जैसी शुद्धदशा प्रगट हो जाती है।

※ अरिहन्त भगवान जैसा ही मेरा स्वरूप है—इस प्रकार अपने आत्मा को निःशंकता, अरिहन्त के स्वरूप को जानने से अपने स्वरूप में भी निःशंकता हो जाती है; यदि अपने स्वभाव की निःशंकता न हो तो अरिहन्त के स्वरूप का भी यथार्थ निर्णय नहीं है। जिसने अरिहन्त का और अरिहन्त जैसे अपने स्वरूप का निर्णय किया उसने मोह क्षय का उपाय प्राप्त कर लिया है।

अहो ! अरिहन्त भगवान जैसे पूर्ण स्वरूपी आत्मा का साक्षात् अनुभव है—तो फिर क्या नहीं है? भले ही पंचमकाल हो और साक्षात् अरिहन्त भगवान का विरह हो, किन्तु जिसने अन्तर में अरिहन्त भगवान जैसे अपने स्वभाव का अनुभव किया है उसने समस्त मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।—इस प्रकार धर्मी को निःशंकता होती है कि मेरा स्वभाव मोह का नाशक है।

× × ×

※ अरिहन्त भगवान सर्वथा मोह रहित हो गये हैं और उन अरिहन्त जैसा का आत्मा स्वभाव है—ऐसी जिसने प्रतीति की उसके भी अल्पकाल में समस्त मोह का नाश हो जाता है। धर्मी जानता है कि अरिहन्त भगवान जैसा मेरा स्वभाव है वह स्वभाव मोह का नाशक है; और उस स्वभाव की

प्राप्ति तो मुझे हुई है, इसलिये मोह का सर्वथा क्षय हो जायेगा उसमें शंका नहीं पड़ती। हमारे आत्मा में सर्व सामर्थ्य है—उसके बल से दर्शन मोह और चारित्रमोह दोनों का सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान प्रगट करके साक्षात् अरिहन्त दशा प्रगट करेंगे।

हे जीवो !

अरिहँत भगवान को पहिचानो और उन जैसे अपने आत्मा को पहिचानो !

संसार का मूल

अज्ञानी अपने रागादि दोष पर से मानता है, और अपने ज्ञानादि गुण भी पर से मानता है, इसलिये उसे आत्मा के स्वाधीन गुणों की श्रद्धा नहीं है; और गुणवान ऐसे आत्मा की भी वास्तव में उसे श्रद्धा नहीं है। पर में से अपने गुण लेना चाहता है—ऐसी उसकी पराधीन बुद्धि ही मिथ्या होने से दुःखरूप है। वह जीव जिसको अपने दोष का कारण मानता है उसपर एकत्व बुद्धि से अनंता द्वेष करता है, और जिसमें गुण मानता है, उस पर एकत्व बुद्धि से अनंता राग करता है।—यह अनंत संसार के परिभ्रमण का मूल कारण है।

मोक्ष का मूल

ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं कि मैं पर से पृथक् हूँ, मेरे गुणदोष भी पर से भिन्न हैं; रागादि दोष या ज्ञानादि गुण मुझे पर के कारण नहीं होते; रागादि दोष मेरी पर्याय का अपराध है, और ज्ञानादि गुण तो मेरा स्वभाव है।—ऐसा जानने से ज्ञानी को पर के साथ एकत्वबुद्धि-पूर्वक के राग-द्वेष होते ही नहीं और न अपने गुण स्वभाव की प्रतीति कभी दूर होती है; इसलिये अनन्त संसार के परिभ्रमण का मूल उसके छिद गया है और मोक्ष का मूल कारण—ऐसा भेदज्ञान प्रगट हो गया है।

* सच्चा श्रोता *
और
श्रवण का तात्पर्य

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की रुचि और सन्मुखतापूर्वक जिसने ज्ञानी के पास में एक बार भी शुद्ध आत्मस्वभाव की बात सुनी वह श्रोता अल्पकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। श्री पद्मनन्दि मुनिराज कहते हैं कि

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन
येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो
भावि निर्वाणभाजनम्॥

राग की प्रीति नहीं, व्यवहार की प्रीति नहीं; किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रीति करके उसकी ओर के उल्लास से जिस जीव ने उसकी कहानी सुनी है वह जीव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। 'अहो! यह पर से भिन्न मेरे ज्ञायक तत्त्व की बात है, अपने ज्ञायक तत्त्व की प्रतीति करने में किसी रागका अवलम्बन है ही नहीं;'—ऐसे लक्षपूर्वक ज्ञानी स्वभाव की ओर के उत्साहपूर्वक एक बार भी जो जीव यह बात सुने वह भव्य जीव अवश्य अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, ऐसे ही सुन लेने की यह बात नहीं है, किन्तु साथ ही श्रोता पर आत्मा का निर्णय करने का उत्तरदायित्व है। अनादि से जो मान रखा था उसमें और इस बात में कहाँ मूल-भूत अन्तर पड़ता है वह बराबर समझकर निर्णय करना चाहिए। अभीतक अपनी मान्यता में कहाँ भूल थी और अब यह बात सुनने से उसमें कहाँ अन्तर पड़ा उसका भेद किए बिना यों ही सुन जायें तो उससे आत्मा को सत्य का किंचित् लाभ नहीं होगा। अकेले शब्द तो पूर्वकाल में अनन्तबार सुने, किन्तु तत्त्वनिर्णय के बिना आचार्यदेव उसे श्रवण रूप नहीं मानते; इसलिये समयसार में कहा है कि जीवों ने शुद्ध आत्मा की बात पूर्वकाल में कभी सुनी ही नहीं है। शुद्ध आत्मा के शब्द तो सुने किन्तु स्वयं अन्तर्मुख होकर शुद्ध आत्मा का निर्णय नहीं किया, इसलिये उसने शुद्ध आत्मा की बात वास्तव में सुनी ही नहीं है। देखो. श्रवण का सच्चा तात्पर्य क्या है

यह बात भी इस में आ गई। अबंध में पर लक्ष से जो शुभ राग होता है वह वास्तव में तात्पर्य नहीं है, किन्तु तत्त्व का निर्णय करके अन्तर में शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही सच्चा तात्पर्य है।

'अहो ! अब देखो तब एक समय में परिपूर्ण तत्त्व अन्तर में भरा है। भगवान आत्मा अपने स्वभाव की परिपूर्ण शक्ति का संग्रह कर के बैठा है, उसके स्वभावसामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं हुआ है, और तीन काल में एक समय भी उसी स्वभाव का विरह नहीं है; स्वयं जाग्रत होकर अन्तर में दृष्टि करे इतनी ही देर है; जिस में दृष्टि करने से निहाल हो जाये ऐसा यह स्वभाव है। 'मैं परिपूर्ण हूँ इत्यादि राग रूप विकल्प भी उसमें नहीं है, किन्तु उपदेश में समझाया कैसे जाये ? उपदेश में उसका कथन करते तो स्थूलता हो जाती है, इसलिये वास्तव में वह उपदेश का विषय नहीं है किन्तु अन्तर्दृष्टि और अन्तर्अनुभव का विषय है। उपदेश तो निमित्तमात्र है, स्वयं अन्तर्दृष्टि करके समझे तभी समझ में आये ऐसा अचिंत्य स्वभाव है। अन्तर में 'मैं एक ज्ञान स्वभाव हूँ राग या निमित्त मैं नहीं हूँ, ज्ञान स्वभाव में ही मेरा सर्वस्व है'—ऐसा लक्ष हुए बिना निश्चय-व्यवहार की या उपादान-निमित्त की अनादिकालीन भूल दूर नहीं होती, और वह भूल दूर हुए बिना अन्य चाहे जितने उपाय करे तो भी कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये जिन्हें आत्मा का कल्याण करना हो—धर्मी होना हो उन्हें यह बात बराबर समझकर निर्णय करने योग्य है।

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]

धर्म का निमित्त

अज्ञानी को तो अपने में धर्मभाव ही प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये उसको तो कोई धर्म का निमित्त भी नहीं है; क्योंकि कार्य हुए बिना निमित्त किसका ? अज्ञानी को अपने में धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ है, इसलिये उसके धर्म के निमित्तों का भी निषेध वर्तता है।

ज्ञानी को अन्तर् स्वभाव के भान द्वारा अपने भाव में धर्म प्रगट हुआ है, इसलिये उसी को धर्म के निमित्त होते हैं; किन्तु उसकी दृष्टि में निमित्तों की रुचिका—रागका निषेध और स्वभाव का आदर वर्तता है।

—इस प्रकार निमित्त के कारण धर्म होता है—ऐसा जो मानते हैं उनके तो धर्म के निमित्त ही नहीं होते, और जिनके धर्म के निमित्त होते हैं—ऐसे ज्ञानी निमित्त के कारण धर्म नहीं मानते।

[पृष्ठ २६४ का शेषांश]

में सिद्ध होने वाले हैं, तो हमारी बात को अस्वीकार करने वाले हमारे संयोग नहीं हो सकते। तीर्थंकर भगवान के समवशरण में जिस प्रकार अभव्य जीव नहीं होते, उसी प्रकार साक्षात् तीर्थंकर भगवान के पास से सुनकर हम जो शुद्ध आत्मस्वभाव की बात करते हैं उसका अस्वीकार करने वाले हमारी सभा में नहीं हो सकते।

भगवान को पूर्व साधक दशा में धर्मबुद्धि के विकल्प से तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध हुआ; उस कर्म के निमित्त से जो वाणी खिरी वह सुनकर धर्म समझने वाले जीव न हों ऐसा नहीं हो सकता। भगवान की वाणी धर्मबुद्धि का निमित्त है...परन्तु किसे?—कि सामने धर्म समझने वाले जीव हैं उन्हें। इस प्रकार समझने की योग्यता वाले पात्र जीव हैं उनके लिये वाणी निमित्त है—ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक मेल है।—तथापि 'मेरी समझ में नहीं आता'—ऐसा कहकर जीव उस वाणी के साथ के निमित्तनैमित्तिकपने की संधि के मार्ग को तोड़ डालता है... परन्तु ऐसे उल्टे जीव की यहाँ गिनती नहीं है, यहाँ तो 'हाँ' कहकर समझने वाले पात्र जीवों की ही बात है। पात्र श्रोता जनों के कानों में वाणी पड़ते ही ऐसा लगता है कि 'अहो! मुझे ऐसी अपूर्व वाणी मिली है, तो मैं अवश्य अपनी पात्रता से समझकर अल्पकाल में मुक्त हो जाऊँगा। भगवान शुद्धात्म-स्वभाव की ऐसी अपूर्व बात मेरे कानों में पड़ी और मेरे अन्तर में जम गई... इसलिये अब अल्पकाल में मेरी मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।'

आचार्यदेव ने पाँचवीं गाथा में शुद्धात्मा का अनुभव करने को कहा है, तो वहाँ संमुख सामने वाले जीव के वैसी योग्यता देखकर वैसा कहा है। —'किसकी योग्यता..?'—जो समझे उसकी! यहाँ तो सर्व जीवों को निमंत्रण है...उसमें से कोई निकल जाये तो वह उसकी अयोग्यता है; परन्तु वैसे जीवों को हम श्रोतारूप से स्वीकार ही नहीं करते। जो अंतर् से स्वीकार करके यथार्थ बात समझ जाये वैसे ही श्रोता को यहाँ लिया है।—ऐसे श्रोताओं को धन्य है, उनका अवश्य कल्याण हो जाता है। इस प्रकार वक्ता और श्रोता के भाव की संधि की है।

❀ दिव्यध्वनि का ढंढेरा ❀

दिव्यध्वनि में चौदह ब्रह्माण्ड के जीवों को भगवान का आमंत्रण है कि 'अरे जीवो! तुम में परमात्मा होने की सामर्थ्य है. तुम मुक्ति के योग्य हो...यह मुक्ति का मण्डप लगा है; तुम भी अपनी परमात्मदशा को प्राप्त करने के लिये इस मोक्ष के मण्डप में

आओ! मोक्ष की जड़ें गहरी हैं, संसार तो एक समय का ऊपरी विकार है, उसकी जड़ें गहरी नहीं हैं। भीतर स्वभाव की गहराई में विकार नहीं, परन्तु मोक्ष का सामर्थ्य भरा है। ऐसे अपने स्वभाव की श्रद्धा करो...यही धर्म का मूल है। धर्म के मूल गहरे हैं और विकार तो क्षणिक हैं; संसार के काल की अपेक्षा मोक्षअवस्था का काल अनंत गुना है; संसार की जितनी पर्यायें बीती हैं, उनकी अपेक्षा अनंतगुनी मोक्षपर्यायें प्रगट होने का सामर्थ्य आत्मा में भरा है।—ऐसे आत्म-स्वभाव का भान करके, उसकी महिमा में लीन होने से संसारपरिभ्रमण दूर होकर मुक्तदशा हो जाती है। इस-लिये हे जीवो! अंतरअवलोकन द्वारा ऐसे आत्मा को पहिचानो, उसकी महिमा करो तो अल्पकाल में सिद्ध दशा प्रगट हो..'—इस प्रकार आत्मा को पहि-चानकर सिद्ध होने के लिये भगवान की वाणी का आमंत्रण है।'

भगवान का आदर

आत्मा में त्रिकाली स्वभाव और क्षणिक विकार—यह दोनों वर्तमान में एक साथ वर्त रहे हैं।

अहो! वर्तमान में वर्तनेवाला भगवान मैं हूँ—इसप्रकार स्वभाव का आदर करना और रागादिक का आदर छूट जाना वह अपूर्व आत्मज्ञान है। वर्तमान वर्तनेवाले भगवान का आदर छोड़कर राग का और पर का आदर करता है वह अनादिकालीन अज्ञान है।

हे जीव! अपने त्रिकाली स्वभाव की परम महत्ता जानकर उसका आदर कर।

मनुष्य का कर्तव्य

कई लोग पूछते हैं कि मनुष्य का कर्तव्य क्या है?—मानव धर्म किसे कहते हैं? उसके उत्तर में गुरुदेव कहते हैं कि भाई! सब से पहले तो "मैं मनुष्य हूं"—ऐसी मान्यता ही महान भ्रम है! मनुष्यपना तो संयोगी पर्याय है, जीव—पुद्गल के संयोगरूप असमान जातीय पर्याय है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। मनुष्य पर्याय मैं नहीं हूं, मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं—ऐसा समझना वह आत्मा का प्रथम कर्तव्य है, और वही प्रथम धर्म है। मनुष्य-भव प्राप्त करके अगर कुछ करने जैसा हो तो यही है—इसके सिवा "मैं मनुष्य ही हूं"—ऐसा मानकर जो भी क्रियाकलाप किया जाता है वह सब व्यवहारमूढ़ अज्ञानी जीवों का व्यवहार है।

मैं तो देह से भिन्न केवल चैतन्य-मूर्ति हूं—इसप्रकार ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा का भान करने से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान—एकाग्रता रूपी जो वीतरागी पर्याय प्रगट हो वह "आत्मव्यवहार" है, वही धर्मी जीवों का व्यवहार है। "ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूं"—ऐसा न मानकर, "मनुष्य पर्याय ही मैं हूं। मनुष्य देह ही मैं हूं, शरीर की क्रियायें "मेरी हैं"—ऐसा मानकर पर्याय बुद्धि में लीन हुए मूढ़ जीव पर समय हैं, वे जैन नहीं हैं। "मानवधर्म" के नामसे अज्ञानी लोग शरीर के साथ की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व की ही पुष्टि करते हैं। ज्ञानी तो ऐसा कहते हैं कि हे भाई! मनुष्य पर्याय से आत्मा का भेदज्ञान करना, यानी जो मनुष्यपर्याय है सो मैं नहीं हूं, किन्तु देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मैं हूं—ऐसा भान करना वह तेरा प्रथम कर्तव्य है और वही प्रथम धर्म है।

❀ ❀ ❀

इस सम्बन्ध में श्री प्रवचनसार की ९४वीं गाथा में स्व—समय और पर—समय का वर्णन करते हुए निम्नानुसार कहा है:—

—पर समय यानी मिथ्यादृष्टि जीव कैसा होता है उसका वर्णन

"जो जीव—पुद्गलात्मक असमान-जातीय द्रव्यपर्याय का जोकि सकल अविद्याओं का एक मूल है उसका—आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की सम्भावना करने के लिये नपुंसक होने से उसीमें बल धारण करते हैं,

(–अर्थात् वे असमानजातीय द्रव्य पर्याय के प्रति ही बल धारण करने वाले हैं) वे—जिनके निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है–"मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है"-इस-प्रकार अहंकार-ममकार द्वारा ठगाते हुए अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार से च्युत हो कर, जिसमें समस्त क्रियाकलाप को छाती से लगाकर भेंटा जाता है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके रागी और द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूपी कर्म के साथ संगतपने के कारण वास्तव में पर समय होते हैं।"

स्वसमय जीव कैसा होता है उसका वर्णन

"जो असंकीर्ण (यानी पर से भिन्न) द्रव्य–गुण–पर्यायों द्वारा सुस्थित ऐसे भगवान आत्मा के स्वभाव का—जो कि सकल विद्याओं का एक मूल है उसका—आश्रय करके यथोक्त आत्म-स्वभाव की सम्भावना में समर्थ होने के कारण पर्यायमात्र के प्रति का बल दूर करके आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते हैं, वे—जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्त दृष्टि द्वारा समस्त एकान्तदृष्टि के परिग्रह के आग्रह प्रक्षीण किए हैं ऐसे मनुष्यादि गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार-ममकार न करके अनेक कक्षों में संचारित रत्नदीप की भाँति एकरूप ही आत्मा को उपलब्ध करते हुए, अविचलित चेतना विलास मात्र आत्मव्यवहार को अंगीकार करके, जिसमें समस्त क्रिया-कलाप को भेंटा जाता है ऐसे मनुष्य-व्यवहार का आश्रय न करते हुए राग-द्वेष के उन्मेष रुक गये हैं इसलिये परम उदासीनता का अवलंम्बन लेते हुए, समस्त पर द्रव्य की संगति दूर की है इसलिये मात्र स्वद्रव्य के साथ संगतपना होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं।"

यहां ऐसा कहा है कि—"मैं मनुष्य हूँ, शरीरादि की समस्त क्रियायें मैं करता हूँ, स्त्री–पुत्र–धनादिक के ग्रहण-त्याग का मैं स्वामी हूँ"—ऐसा मानना वह "मनुष्य व्यवहार" है, और जो जीव ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके प्रवर्तमान होते हैं वे मिथ्या-दृष्टि हैं।

"मात्र अचलितचेतना ही मैं हूँ, देहादिक मैं नहीं हूँ"—इसप्रकार स्व–पर का भेदज्ञान करके आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित होना वह "आत्म-व्यवहार" है; और धर्मी जीव ऐसे आत्मव्यवहार को अंगीकार करके प्रवर्तमान होते हैं।

जो मनुष्यादि पर्याय में लीन हैं वे एकान्तदृष्टि वाले हैं; वे लोग भिन्न चैतन्य को भूलकर मनुष्यव्यवहार का

आश्रय करते हैं, इसलिये रागी–द्वेषी होते हैं और पर द्रव्य के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं इसलिये वे पर समय हैं—मिथ्यादृष्टि हैं।

जो देह से भिन्न चैतन्य को जानकर भगवान आत्मस्वभाव में ही स्थित हैं वे अनेकान्तदृष्टि हैं; वे मनुष्यव्यवहार का आश्रय न करके आत्मस्वभाव का आश्रय करते हैं इसलिये रागी–द्वेषी नहीं होते किन्तु परम उदासीन रहते हैं और परद्रव्य के साथ सम्बन्ध न करके मात्र स्वद्रव्य के साथ ही सम्बन्ध करते हैं इसलिये वे स्वसमय हैं।

स्व–पर का भेदज्ञान करके स्व–समयरूप परिणमित होना ही प्रत्येक जीवका कर्तव्य है। (—प्रवचन से)

प्र श्नो त्त र

परिणाम और उसका कर्ता

(१) प्रश्न :– जड़ के परिणाम होता है ?

उत्तर :– हाँ, जड़ के भी परिणाम होता है।

(२) प्रश्न :– जड़ में ज्ञान तो नहीं है, तब फिर उसके परिणाम कैसे होता है ?

उत्तर :– जड़ वस्तु में ज्ञान–दर्शनरूप या राग द्वेषरूप परिणाम नहीं होते, परन्तु उसकी अवस्थारूप जड़ परिणाम होते हैं। जैसेकि –शरीर चले, खड़ा रहे, बोले, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की अवस्था बदलती रहे,- इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं वे सब जड़ के परिणाम हैं।

(३) प्रश्न :– उस जड़ के परिणाम का कर्ता कौन है ?

उत्तर :– उस जड़ के परिणाम का कर्ता जड़ स्वयं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है। शरीर में हलन–चलन हो, बोले, स्पर्शादि गुणों में परिवर्तन हो वे सब जड़ के परिणाम हैं, और उनका कर्ता जड़ है, आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

(४) प्रश्न :– परिणाम का अर्थ क्या ?

उत्तर :– जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य परिणामी है; इसलिये प्रतिसमय उसमें नवीन पर्याय होती रहती है, उस पर्याय को "परिणाम" कहा जाता है। अथवा परिणमन, परिणति, पर्याय यानी कार्य।

(५) प्रश्न :– परिणाम कहाँ रहता है ?

उत्तर :– परिणाम और परिणामी अभेद है, इसलिये जिस द्रव्य के परि-

णाम हों वे परिणाम उसी द्रव्य में रहते हैं; द्रव्य के परिणाम द्रव्य से पृथक् नहीं होते।

(६) प्रश्न :— कर्म किसके परिणाम हैं ?

उत्तर :— कर्म जड़ पुद्गल के परिणाम हैं, उनका कर्ता जड़ है, जीव उनका कर्ता नहीं है।

(७) प्रश्न :— राग किसके परिणाम हैं ?

उत्तर :— राग जीव के परिणाम हैं, उनका कर्ता जीव है, जड़कर्म उनका कर्ता नहीं है।

(८) प्रश्न :— एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणामों का कर्ता है ?

उत्तर :— नहीं; जड़ या चेतन सर्व द्रव्य अपने अपने परिणामों के कर्ता हैं; किसी द्रव्य के परिणामों का कर्ता दूसरा द्रव्य नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता है और उसके परिणाम वह उसका कर्म है।

(९) प्रश्न :— दो द्रव्य एकत्रित होकर एक अवस्था करते हैं या नहीं ?

उत्तर :— नहीं, दो द्रव्य एकत्रित होकर एक अवस्था नहीं करते, क्योंकि एक परिणाम के कर्ता दो नहीं होते; इसलिये जीव और शरीर दोनों एकत्रित होकर बोलने की अवस्था करें— ऐसा नहीं होता; और कर्म तथा आत्मा एकत्रित होकर रागादि भाव करें—ऐसा नहीं होता। रागादि भावों का कर्ता जीव अकेला ही है, और बोलने चालने की क्रिया के कर्ता वे जड़ पदार्थ अकेले ही हैं। ऐसी प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता है।

(१०) प्रश्न :— यह समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर :— प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र हैं और वह प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने कार्य को करता है,—ऐसा समझने से समस्त पर द्रव्यों से आत्मा का भेद-ज्ञान होता है और पराकी क्रिया के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि छूट जाती है, और मेरा कार्य कोई दूसरा करता है-ऐसी पराश्रयता की मिथ्याबुद्धि छूट जाती है;—ऐसा होने से स्वद्रव्य का आश्रय होता है और स्वद्रव्यके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का लाभ होता है।

[श्री समयसार कलश ५१ से ५४ के प्रवचनों से]

* सम्यक्त्वी की परिणति *

मैं अखण्ड ज्ञायक चिदानन्द स्वरूप हूँ—ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो उसके स्वभावसन्मुख उद्यम बना ही रहता है; वह स्वच्छन्द रूप से रागादि में प्रवर्तन नहीं करता। अभी अल्प विकार होता अवश्य है, किंतु रुचि की सन्मुखता तो ज्ञानानन्द स्वभाव की ओर ही रहती है; विकार की रुचि नहीं है—भावना नहीं है, इसलिये स्वच्छन्दरूप से विकार होता ही नहीं। जिसे अन्तर्दृष्टि हुई है ऐसे सम्यक्त्वी के तो ऐसी परिणति सदैव वर्तती ही रहती है।

—किन्तु जिसके अभी अंतर् स्वभाव के सन्मुख दृष्टि नहीं है, विकार की रुचि दूर नहीं हुई है और अपने को सम्यक्त्वी मानकर स्वच्छन्दरूप से रागादि में वर्तता है ऐसे निश्चयाभासी जीव को ज्ञानी समझाते हैं कि अरे भाई! अपने परिणाम का तू विवेक कर।

× × ×

"ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जग मांहि सहज वैरागी;
ज्ञानी मगन विषय सुख मांही, यह विपरीत संभवै नांही॥

परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १.	६)	आत्मधर्म : फाइलें १-२-३ ५-६-७वर्ष प्रत्येक का	३॥)
,, ,, भाग २.	५)		
,, ,, भाग ३.	४॥)	कुल फाइलों का मूल्य २२॥) होता है, लेकिन एकसाथ लेनेपर	१७॥)
समयसार (हिन्दी) (मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	भूल में भूल	॥।)
		मुक्ति का मार्ग	॥=)
प्रवचनसार (हिन्दी) (मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	॥)
		अष्टपाहुड	३)
आत्मावलोकन	१)	चिद्विलास	१=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१।=)	दसलक्षणधर्म	॥।)
द्वादशानुप्रेक्षा	≈)	जैन बालपोथी	।)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	'लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका'	।)॥
समयसार पद्यानुवाद	।)	सम्यक्दर्शन	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	≈)॥	स्तोत्रत्रयी	।≡)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)	भेदविज्ञानसार	२)
		पंचमेरु पूजन	॥।)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर.
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी.

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

फाल्गुन-चैत्र २४८१ * वर्ष दसवाँ * अंक ११-१२

संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

क्रमबद्धपर्याय-प्रवचन

प्रथम भाग

[प्रवचन संख्या आठ]

[११९-२०]

वार्षिक मूल्य — तीन रुपया

एक अंक — चार आना

इस अंक का मूल्य एक रुपया

जैनस्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

इस अंक के बारे में—

यह विशेषांक विलंब से पहुंच रहा है। इसके बारे में विशेष लिखने के पूर्व हम अपने प्रिय पाठकों से क्षमा चाहते हैं; परिस्थिति से विवश होने से इस अंक के प्रकाशन में देरी होती रही।

'क्रमबद्धपर्याय—प्रवचन प्रथमभाग' 'आत्मधर्म' के [गुजराती] कार्तिक मास के अंक नं १३३ में प्रकाशित हो गया था और सोचा था कि साथ ही साथ हिन्दी-भाषी पाठकों की सुविधा के लिये हिन्दी में भी शीघ्र प्रकाशित किया जाय; लेकिन सर्वप्रथम इसके लिये जो टाइप पसंद किया गया, उसके आने में विलंब हुआ तथा कुछ ऐसे विशेष टाइप रहे जो शीघ्र नहीं आये। दूसरी बात यह रही कि पृष्ठ संख्या की अधिकता से मुद्रण-कार्य में भी विलंब होता रहा। इन कारणों से यह विशेषांक निश्चित अवधि से भी बहुत समय के पश्चात् प्रकाशित कर रहे हैं; जिसका हमें दुःख है। लेकिन अनेक कठिनाईयां के बीच भी अंक को सुंदर बनाने का प्रयत्न कर सके हैं जिसका मूल्यांकन तो पाठक स्वयं करेंगे; इस आत्म-संतोष के साथ पुनः क्षमाप्रार्थी हैं।

भविष्य में नियमितरूप से अंक प्रकाशित होते रहेंगे।

—प्रकाशक

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण

—और—

अनेक प्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन]

पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में मुख्यरूप से एक बात पर खास भार दिया है कि—ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि रखकर ही इस क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि काल के समक्ष नहीं होती, किंतु ज्ञायकस्वभाव पर होती है। ज्ञायक सन्मुख की दृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ के बिना वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता और न उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। यह बात प्रत्येक मुमुक्षु को लक्ष में रखने योग्य है।

भाई रे! यह मार्ग तो मुक्ति का है या बन्धन का? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके मुक्ति की बात है; इस बात का यथार्थ निर्णय करने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो मुक्ति का मार्ग है उसके बहाने कोई स्वच्छन्द की पुष्टि करता है अथवा उसे "छूत की बीमारी" कहता है, उस जीव को मुक्ति का अवसर कब मिलेगा?

[—पूज्य गुरुदेव]

कुन्दकुन्द भगवान के मूल सूत्र

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
अह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्व-द्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति, सर्व द्रव्यणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति, तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति । अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।

मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो ।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों ॥ ३०८ ॥
जिव-अजिव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे ।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से ॥ ३०९ ॥
उपजै न आत्मा कोइ से, इससे न आत्मा कार्य है ।
उपजावता नहिं कोइ को, इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे कर्मआश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के ।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धि दिखै ॥ ३११ ॥

टीका का हिन्दी अनुवाद

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार (कंकन आदि परिणामों से उत्पन्न ऐसे) सुवर्ण का कंकनादि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणमों के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है; वह (कार्यकारणभाव) सिद्ध न होने से, अजीव का जीव का कर्मपना सिद्ध नहीं होता; और वह (अजीव को जीव का कर्मपना) सिद्ध न होने से, कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षरूप से (-अन्य द्रव्य से निरपेक्ष रूप से स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव को अजीव का कर्तापना सिद्ध नहीं होता; इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

[—समयसार गुजराती दूसरी आवृत्ति]

(यह प्रवचन समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका के हैं; मूल गाथा तथा टीका में भरे हुए गम्भीर रहस्य को पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में अत्यंत स्पष्टरूप से समझाया है।)

❋ पहला प्रवचन ❋

[आश्विन कृष्णा १२, वीर सं. २४८०]

(१) अलौकिक गाथा और अलौकिक टीका

यह गाथायें अलौकिक हैं और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अलौकिक की है। टीका में क्रमबद्धपर्याय की बात करके तो आचार्यदेव ने जैन-शासन का नियम और जैन-दर्शन का रहस्य

भर दिया है। भगवान आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, वह तो ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करता है। कहीं फेरफार करे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है और रागको भी बदलने का उसका स्वभाव नहीं है—राग का भी वह ज्ञायक है। जीव और अजीव सर्व पदार्थों की त्रिकाल की अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं, आत्मा उनका ज्ञायक है।—ऐसा ज्ञायक आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।

(२) जीव—अजीव के क्रमबद्ध परिणाम और आत्मा का ज्ञायकस्वभाव

[टीका] "जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः......"

आचार्यदेव कहते हैं कि— "प्रथम तो" अर्थात् सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि जीव क्रमबद्ध—क्रमनियमित ऐसे अपने परि-णामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है, इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है। देखो यह महान सिद्धान्त। जीव या अजीव प्रत्येक वस्तु में क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें उल्टा–सीधा होना ही नहीं। आजकल अनेक पण्डित और त्यागी आदि लोगों में इसके सामने बड़ा विरोध उठा है, क्योंकि इस बात का निर्णय करने जायें तो अपना अभी तक का माना हुआ कुछ भी नहीं रहता। संवत् २००३ में (प्रवचन-मण्डप के उद्घाटन प्रसंग पर) सर सेठ हुकमचंदजी इन्दौरवालों के साथ पं. देवकीनन्दनजी आये थे, उन्हे जब यह बात बतलाई तब वे बड़े आश्चर्यचकित हुए थे कि अहो! ऐसी बात है!! यह बात अभी तक हमारे लक्ष में नहीं आई थी। छहों द्रव्यों में उनकी त्रिकाल की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है। जगत में अनंत जीव हैं और जीव की अपेक्षा अनंतगुने अजीव हैं; वे सब द्रव्य अपने अपने क्रम नियमित परिणाम से उत्पन्न होते हैं।

जिस समय जिस पर्याय का क्रम है वह एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकती। जो पर्याय १०० नम्बर की हो वह ९९ नम्बर की नहीं हो सकती और १०० नंबर की पर्याय १०१ नंबर की भी नहीं हो सकती है। इसप्रकार प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है और समस्त द्रव्य क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होते हैं। अपने स्वभाव का निर्णय हुआ वहाँ धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं किसे बदल सकता हूँ? इसलिये धर्मी के पर को बदलने की बुद्धि नहीं है; राग को भी बदलने की बुद्धि नहीं है, वह राग का भी ज्ञायकरूप में ही रहता है।

(३) सर्वज्ञभगवान 'ज्ञापक' है, 'कारक' नहीं है

पहले तो ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इस जगत में ऐसे सर्वज्ञ-भगवान हैं कि जिनके आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है, और मेरा आत्मा भी ऐसा ही ज्ञानस्वभावी है। जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं; पदार्थ की तीनों काल की पर्यायों का क्रम निश्चित् है, सर्वज्ञदेव ने तीनकाल तीन लोक की पर्यायें जानी हैं। जो सर्वज्ञ ने जाना वह बदल नहीं सकता। तथापि सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वैसी अवस्था होती है—ऐसा भी नहीं है। सर्वज्ञभगवान तो ज्ञापकप्रमाण हैं, वे कहीं पदार्थों के कारक नहीं हैं; कारकरूप तो पदार्थ स्वयं ही है, प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने छह कारकों रूप होकर परिणमित होता है।

(४) क्रमबद्धपर्याय की झन्कार

आचार्यदेव पहले से ही क्रमबद्धपर्याय की झन्कार करते आ रहे हैं :—

"जीव पदार्थ कैसा है" उसका वर्णन करते हुए दूसरी गाथा में कहा था कि "क्रमरूप और अक्रमरूप वर्तते हुए अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायें अंगीकार की हैं।" पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है।—ऐसा कहकर वहाँ जीव की क्रमबद्धपर्याय की बात बतला दी है।

तत्पश्चात् ६२वीं गाथा मे कहा है कि—"वर्णादिक भाव, अनु–क्रम से आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों (पर्यायों) द्वारा पुद्गलद्रव्य के साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रगट करते हैं।" यहाँ "अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव" प्राप्त करना कहकर अजीव की क्रमबद्धपर्याय बतला दी है।

कर्ता–कर्म–अधिकार मे भी गाथा ७६–७७–७८ में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे तीन प्रकार के कर्म की बात करके क्रमबद्धपर्याय की बात जमा दी है। 'प्राप्य' अर्थात्, द्रव्य मे जिस समय जो पर्याय नियमित है उस क्रमबद्धपर्याय को उस समय वह द्रव्य प्राप्त करता है—पहुँच जाता है, इसलिये उसे 'प्राप्यकर्म' कहा जाता है।

(५) ज्ञायकस्वभाव समझे तभी क्रमबद्धपर्याय समझ मे आती है

देखो, इसमें ज्ञायकस्वभाव की ओर से लेना है। ज्ञायक की ओर से ले तभी यह क्रमबद्धपर्याय की बात यथार्थ समझ में आ सकती है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्मा के लिये समझना चाहता हो उसे यह बात यथार्थ रूप से समझ में आ सकती है। दूसरे हठी जीव तो इसे समझे बिना विपरीत ग्रहण करते है और ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धपर्याय के नाम से अपने स्वच्छंद की पुष्टि करते हैं। जिसे ज्ञान की श्रद्धा नही है, केवली की प्रतीति नही है, अन्तर् मे वैराग्य नही है, कषाय की मंदता भी नही है, स्वच्छन्दता बनी है और क्रमबद्धपर्याय का नाम लेता है—ऐसे हठी–स्वच्छंदी जीव की यहां बात नहीं है। जो इस क्रमबद्धपर्याय को समझ ले उसे स्वच्छन्द रह ही नहीं सकता, वह तो ज्ञायक हो जाता है। भगवान! क्रमबद्धपर्याय समझकर हम तो तुझे अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय कराना चाहते है और यह बतलाना चाहते है कि आत्मा पर का अकर्ता है। यदि अपने ज्ञायक

स्वभाव का निर्णय नही करेगा तो तू क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

जीव और अजीव समस्त पदार्थों को तीनों काल की पर्यायें क्रम-बद्ध है—उन सबको जाना किसने? सर्वज्ञदेव ने।

"सर्वज्ञदेव ने ऐसा जाना"—इस प्रकार सर्वज्ञता का निर्णय किसने किया?—अपनी ज्ञानपर्याय ने।

वर्तमान ज्ञानपर्याय अल्पज्ञ होने पर भी उसने सर्वज्ञता का निर्णय किसके समक्ष देखकर किया?—ज्ञानस्वभाव की ओर देखकर वह निर्णय किया है।

इस प्रकार जो जीव अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करता है उसी को क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है, और वह जीव पर का तथा राग का अकर्ता होकर ज्ञायकभाव का ही कर्ता होता है। ऐसे जीव को ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

(६) इसमें ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ है इसलिये यह नियतवाद नहीं है

प्रश्नः—गोम्मटसार में तो नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है न?

उत्तरः—गोम्मटसार में जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दी का है; जो जीव सर्वज्ञ को नहीं मानता, ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं करता, अन्तरोन्मुख होकर समाधान नहीं किया है, विपरीत भावों के उछाले कम भी नहीं किये हैं, और 'जैसा होना होगा'—ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्व का पोषण करता है, ऐसे जीव को गोम्मटसार में गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है; किन्तु ज्ञानस्वभाव के निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्याय को समझे तो ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाये।

(७) भय का स्थान नहीं किन्तु भय के नाश का कारण

प्रश्नः– क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करते हुए शायद स्वच्छन्दी हो जायेंगे–ऐसा भय है, इसलिये ऐसे भयस्थान में किसलिये जाना चाहिये?

उत्तरः– अरे भाई! क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह कहीं भय का कारण नहीं है; वह तो स्वच्छन्द के नाश का और निर्भयता होने का कारण है। ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति के बिना, मैं पर को बदल दूं–ऐसी कर्ताबुद्धि से स्वच्छन्दी हो रहा है, उसके बदले पदार्थों की पर्याय उनके अपने से ही क्रमबद्ध होती है, मैं उसका कर्ता या बदलनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ– ऐसी प्रतीति होने से स्वच्छन्द छूटकर स्वतंत्रता का अपूर्व भान होता है। यह क्रमबद्धपर्याय की समझ भय का स्थान नहीं है, भय तो मूर्खता और अज्ञान में होता है, यह तो भय के और स्वच्छन्द के नाश का कारण है।

(८) "ज्ञायकपना" ही आत्मा का परम स्वभाव है

आत्मा ज्ञायक वस्तु है, ज्ञान ही उसका परम स्वभाव–भाव है। 'ज्ञायकपना' आत्मा का परम भाव है, वह स्व-पर के ज्ञातृत्व के सिवा दूसरा क्या कर सकता है? जैसा 'है' और जैसा 'होता है' उसका वह ज्ञाता है। द्रव्य और गुण वह त्रिकाल सत् और पर्याय वह एक एक समय का सत्, उस सत् का आत्मा ज्ञाता है, किन्तु किसी पर का उत्पादक, नाशक या उसमें फेरफार करनेवाला नहीं है। यदि उत्पन्न करना, नाश करना या फेरफार करना माने तो वहाँ ज्ञायक-भावपने की प्रतीति नहीं रहती। इसलिये जो ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता और पर में फेरफार करना मानता है उसे ज्ञायकत्व नहीं रहता किन्तु मिथ्यात्व हो जाता है।

(९) "छूत का रोग" नहीं किन्तु वीतरागता का कारण

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल क्रमबद्धपर्याय नामक 'छूत का

रोग' फैल रहा है। अरे भाई! यह क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति तो वीतरागता का कारण है। जो वीतरागता का कारण है उसे तू रोग कहता है? क्रमबद्धपर्याय न माने तो वस्तु ही नहीं रहती। क्रमबद्धपर्यायपना तो वस्तु का स्वरूप है; उसे रोग कहना महान विपरीतता है। द्रव्य प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा उसका धर्म है; क्रमबद्धपर्याय में जिस समय जिस पर्याय का स्वकाल है, उस समय द्रव्य उसी पर्याय को द्रवित होता है—प्रवाहित होता है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है और अपना स्वभाव ज्ञायक है। ऐसे स्वभाव को मानना वह रोग नहीं है, किन्तु ऐसे वस्तुस्वभाव को न मानकर फेरफार करना मानना वह मिथ्यात्व है और वही महान रोग है।

(१०) अमुक पर्यायें क्रम से और अमुक अक्रमरूप होती हैं—ऐसा नहीं है

प्रत्येक द्रव्य की तीनों काल की पर्यायों में क्रमबद्धपना है, उसे जो न माने वह सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नही मानता, क्योंकि यदि आत्मा के ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति करे तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी अवश्य आ जाती है।

यहाँ क्रमबद्धपर्याय का कथन हो रहा है उसमें अनादि अनंतकाल की समस्त पर्यायें समझ लेना चाहिये। द्रव्य की अमुक पर्यायें क्रमबद्ध हों और अमुक अक्रम से हों—ऐसे दो भाग नहीं हैं। कोई ऐसा कहे कि—"अबुद्धिपूर्वक पर्यायें तो ज्ञान की पकड़ में नहीं आती, इसलिये वे तो क्रमबद्ध होती हैं, किन्तु बुद्धिपूर्वक की पर्यायों में क्रमबद्धपना लागू नहीं होता, वे तो अक्रमरूप भी हो सकती हैं।"—यह बात सच्ची नहीं है। अबुद्धिपूर्वक की या बुद्धिपूर्वक की कोई भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं। कोई ऐसा कहे कि—"भूतकाल की पर्यायें तो हो चुकी हैं, इसलिये उनमें कोई फेरफार नहीं हो सकता,

किन्तु भविष्य की पर्यायें बाकी हैं, इसलिये उनके क्रम में फेरफार किया जा सकता है।" ऐसा कहनेवाले को भी पर्याय का क्रम बदलने की बुद्धि है वह पर्यायबुद्धि है। आत्मा ज्ञायक है उसको प्रतीति करने की यह बात है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो "मैंने इसका ऐसा किया और उसका वैसा न होने दिया"—ऐसी कर्ता-बुद्धि की सब विपरीत मान्यताओं का भुक्का उड़ जाता है अर्थात् विपरीत मान्यता चूरचूर हो जाती है और अकेली ज्ञायकता रहती है।

(११) ऐसी सत्य बात के श्रवण की भी दुर्लभता

अभी कई जीवों ने तो यह बात सत्समागम से यथार्थतया सुनी भी नहीं है। 'मैं ज्ञान हूँ, जगत की प्रत्येकवस्तु अपनी-अपनी क्रम-बद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, किंतु किसीका कहीं बदलनेवाला नहीं हूँ'—ऐसा यथार्थ सत्य सत्समागम से सुनकर जिसने जाना भी नहीं है, उसे अन्तर में उसकी सच्ची धारणा कहाँ से होगी? और धारणा बिना उसकी यथार्थ रुचि और परिणमन तो कहाँ से हो? आजकल यह बात अन्यत्र कहीं सुनने को भी नहीं मिलती। यह बात समझकर उसका यथार्थ निर्णय करने योग्य है।

(१२) क्रम और वह भी निश्चित

'जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः......' यह मूल टीका है, इसके हिन्दी अर्थ में पंडित जयचंद्रजी ने ऐसा लिखा है कि—'जीव प्रथम ही क्रमकर निश्चित अपने परि-णामों कर उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है।' क्रम तो है ही, और वह भी नियमित, अर्थात् इस द्रव्य में इस समय ऐसी ही पर्याय होगी—यह भी निश्चित है।

कोई ऐसा कहे कि—'पर्याय क्रमबद्ध है अर्थात् वह एक के बाद एक क्रमशः होती है—यह ठीक है, किन्तु किस समय कैसी पर्याय होगी वह निश्चित नहीं है'—तो यह बात सत्य नहीं है। क्रम और

वह भी निश्चित् है; किस समय की पर्याय कैसी होना है वह भी निश्चित् है। यदि ऐसा न हो तो सर्वज्ञ ने जाना क्या? अहो! यह क्रमबद्धपर्याय की बात जिसकी प्रतीति मे आये उसके ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होकर मिथ्यात्व का और अनन्तानुबंधीकषाय का नाश हो जाता है; उसके स्वच्छंदता नहीं किन्तु स्वतंत्रता होती है। निर्मानता, निर्मोहता, पवित्रता जीवन में प्रगट करना हो तो ऐसे ज्ञायकस्वभाव का निश्चय प्रथम से ही होना चाहिये।

(१३) ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ और उसमे एक साथ पाँच समवाय

अज्ञानी कहते हैं कि—"इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड़ जाता है"—किन्तु ऐसा नही है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरन्तर ज्ञायकपने का सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जहाँ पर्याय स्वसन्मुख हुई वहाँ एक समय में उस पर्याय में पाँचों समवाय आ जाते हैं। नाटक समयसार में प. बनारसीदास जी भी कहते है कि—

> **टेक डारी एक मैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,**
> **खोजी जीवे वादी मरै साँची कहवति है ॥४१॥**

दुराग्रह को छोड़कर एक में अनेक धर्मों को ढूंढ़ना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये संसार में जो कहावत है कि "खोजो पावे वादी मरे" सो सत्य है।

पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म का अभाव—यह पाँचों समवाय एकसमय की पर्याय में आ जाते हैं।

(१४) स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा और गोम्मटसार के कथन की संधि

स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में गाथा ३२१–२२–२३ में स्पष्ट कहा

है कि जिस समय जैसा होना सर्वज्ञदेव ने देखा है, उस समय वैसा ही होगा, उसे बदलने में कोई समर्थ नहीं है ।–जो ऐसा श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें शंका करता है वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है, उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है ।

जो जीव ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं करता और मात्र क्रमबद्ध-पर्याय का नाम लेकर स्वच्छन्द से विषय–कषाय का पोषण करता है उसे गोम्मटसार में गृहीत मिथ्यादृष्टि गिना है; किन्तु निर्मल–ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके जो जीव क्रमबद्धपर्याय को मानता है उस जीव को कहीं भी मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है ।

(१५) एक बार.......यह बात तो सुन !

अहो, आत्मा का ज्ञानस्वभाव, जिसमें भव नहीं है, उसका जिसने निर्णय किया वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, उसे भेदज्ञान हुआ, उसने केवली को यथार्थरूप से माना । प्रभु ! ऐसा ही वस्तु-स्वरूप है और ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है, एकबार आग्रह छोड़कर अपनी पात्रता और सज्जनता लाकर यह बात तो सुन ।

(१६) राग की रुचिवाला क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं

प्रश्नः– आप कहते हैं कि क्रमबद्धपर्याय होती है, तो फिर क्रम-बद्धपर्याय में जो राग होना होगा वह होता है ?

उत्तरः– भाई ! तेरी रुचि कहाँ अटकी है ? तुझे ज्ञान की रुचि है या राग की ? जिसे ज्ञानस्वभाव की रुचि और दृष्टि हुई है, वह तो फिर अस्थिरता के अल्पराग का भी ज्ञाता ही है । और 'जो राग होना था वह हुआ'—ऐसा कहकर जो राग की रुचि नहीं छोड़ता वह तो स्वच्छन्दी–मिथ्यादृष्टि है । जो यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझे उसकी तो दृष्टि पलट जाती है ।

(१७) उल्टा प्रश्न—"निमित्त न आये तो....?"

'ऐसा निमित्त आये तो ऐसा होता है, और निमित्त न आये तो नहीं होता'—इस प्रकार जिनके निमित्ताधीन दृष्टि है उन्हें क्रमबद्ध-पर्याय की यथार्थ प्रतीति नहीं है। 'क्रमबद्धपर्याय होना हो किन्तु निमित्त न आये तो ?' यह प्रश्न ही उल्टा है। क्रमबद्धपर्याय में जिस समय जो निमित्त है वह भी निश्चित ही है; निमित्त न हो ऐसा होता ही नहीं।

(१८) दो नई बातें! —समझे उसका कल्याण

एक तो नियमसार को 'शुद्धकारणकार्य' की बात, और दूसरी यह 'क्रमबद्धपर्याय' की बात।—यह दो बातें सोनगढ़ से नई निकली हैं—ऐसा कई लोग कहते हैं, लोगों में आजकल यह बात प्रचलित नहीं है इसलिये नई मालूम होती है। शुद्धकारणपर्याय की बात सूक्ष्म है, और दूसरी यह क्रमबद्धपर्याय की बात सूक्ष्म है,—यह बात जिसे जम जाये उसका कल्याण हो जाता है! यह एक क्रमबद्धपर्याय की बात बराबर समझे तो उसमें निश्चय–व्यवहार और उपादान–निमित्त आदि सब स्पष्टीकरण आ जाते हैं। वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध और मैं उसका ज्ञायक—यह समझने से सब समाधान हो जाते हैं। भगवान! अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर तू पर के करने की मान्यता में रुक गया? पर में तेरी प्रभुता या पुरुषार्थ नहीं है; इस ज्ञायकभाव में ही तेरी प्रभुता है, तेरा प्रभु तेरे ज्ञायकमन्दिर में विराजमान है उसके सन्मुख हो और उसकी प्रतीति कर।

(१९) आत्मा अनादि से ज्ञायकभावरूप ही रहा है

जगत में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का प्रत्येक जीव और अनंत सिद्धभगवान, और अनन्तानन्त परमाणुओं में प्रत्येक परमाणु,—वे सब क्रमबद्धरूप से परिणमित हो ही रहे हैं, मैं उनमें क्या बदल सकता हूँ? मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसा जो निर्णय करे उसे सम्यग्दर्शन

हो जाता है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव है वह अनादि अनन्त जानने का ही कार्य करता है। आत्मा तो अनादिकाल से ज्ञायकभावरूप ही रहा है, किन्तु अज्ञानी को मोह द्वारा वह अन्यथा अध्यवसित हुआ है—यह बात प्रवचनसार की २००वीं गाथा में कही है । आत्मा तो ज्ञायक होने पर भी अज्ञानी उसकी प्रतीति नहीं करता, और "मैं पर का कर्ता हूँ"—ऐसा मोह द्वारा अन्यथा मानता है ।

(२०) कथंचित् क्रम-अक्रमपना किसप्रकार है ?

कोई ऐसा कहता है कि—"जीव की पर्याय मे कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप हैं; तथा शरीरादि अजीव की पर्याय मे भी कुछ क्रमबद्ध है और कुछ अक्रमरूप है ।"—वह सारी बात वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय से विपरीत है, ज्ञानस्वभाव से विपरीत है और केवली से भी विपरीत है अर्थात् सूत्र से भी विपरीत है। वस्तु में ऐसा क्रम-अक्रमपना नही है, किन्तु पर्याय अपेक्षा से क्रमबद्धपना; और गुण सहवर्ती है उस अपेक्षा से अक्रमपना—इसप्रकार वस्तु क्रम-अक्रमरूप है ।

(२१) केवली को मानता है वह कुदेव को नही मानता

कोई ऐसा कहता था कि—"जैसा केवली ने देखा वैसा हुआ है, इसलिये जो फिरका (सम्प्रदाय) मिला और जैसे गुरु मिले (—वे भले ही मिथ्या हों तथापि) उनमे फेरफार करने की उतावल नहीं करना चाहिये; क्योंकि कुदरत के नियम में वैसा आया है इसलिये उसे बदलना नही चाहिये ।"

—किन्तु भाई ! तुझे केवलज्ञान का विश्वास हो गया है ? और कुदरत का नियम अर्थात् वस्तुस्वरूप जम गया है ? जिसे केवलज्ञान का विश्वास हो गया है और वस्तुस्वरूप समझ में आ गया उसके अंतर मे गृहीत-मिथ्यात्व रहता ही नहीं; कुधर्म को या कुगुरु को माने ऐसा क्रम उसके होता ही नहीं । इसलिये सम्यक्त्वी

जीव कुधर्म–कुगुरु का त्याग करे तो उससे कहीं उसके पर्याय की क्रमबद्धता टूट जाती है—ऐसा नहीं है। सच्चे पुरुषार्थ में निर्मल क्रमबद्ध पर्याय होती है।

(२२) ज्ञायकस्वभाव

जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न हो–अर्थात् जिस पर्यायरूप से परिणमित हो उसीके साथ वह तन्मय है। अहो! द्रव्य स्वयं उस-उस पर्याय के साथ तन्मय होकर परिणमित हुआ है, वहाँ दूसरा कोई उसे क्या करेगा? आत्मा तो परम पारिणामिक स्वभावरूप ज्ञायक है; ज्ञायकभावरूप रहना ही उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव का निर्णय किया वहाँ स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से शुद्ध पर्याय होती जाती है।

(२३) "क्रमबद्ध को नहीं मानता वह केवली को नहीं मानता"

"बस! जैसा निमित्त आये वैसी पर्याय होती है; हम क्रमबद्ध को नहीं मानते।" ऐसा कहनेवाला केवलीभगवान को भी नहीं मानता, और वास्तव में वह आत्मा को भी नहीं मानता। क्रमबद्ध-पर्याय का अस्वीकार करना वह ज्ञानस्वभाव का ही अस्वीकार करने जैसा है। भाई! यह क्रमबद्धपर्याय कहीं किसीके घर की कल्पना नहीं है, किन्तु वस्तु के घर की बात है; वस्तु का ही स्वरूप ऐसा है। कोई न माने तो उससे कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं बदल सकता।

(२४) ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को मोड़े बिना क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आती

"शुभ–अशुभ भाव भी जैसे क्रमबद्ध थे वैसे आये," ऐसा कहकर जो जीव राग के पुरुषार्थ में ही अटक रहा है और ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को नहीं मोड़ता, वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है, किन्तु मात्र बातें करता है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से राग की रुचि छूट जाती है और तभी क्रमबद्धपर्याय का

सच्चा निर्णय होता है। भाई! तू किसके समक्ष देखकर क्रमबद्ध-पर्याय मानता है? जिसने ज्ञायकस्वभाव की ओर देखकर क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय किया, वह राग का भी ज्ञाता ही हो गया है; यह राग बदलकर इस समय ऐसा राग करूँ इसप्रकार राग को बदलने की बुद्धि में से उसका वीर्य हट गया और ज्ञानस्वभाव की ओर ढल गया; उसके राग दूर होने का क्रम चालू हो गया है; वर्तमान साधकदशा हुई है और उसी पुरुषार्थ से क्रमबद्धपर्याय के क्रम में अल्पकाल में केवलज्ञान भी आयेगा, उसका पुरुषार्थ चल रहा है। ज्ञानी को क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में स्वभाव की दृष्टि से प्रयत्न चालू ही है, वह ज्ञान की अधिकता रूप ही अर्थात् भूतार्थ के आश्रित ही परिणमित होता है: उसमें न उतावल है और न प्रमाद है। प्रवचनसार की २०२वीं गाथा में प. हेमराजजी कहते हैं कि —विभावपरिणति को छूटता न देखकर सम्यग्दृष्टि जीव आकुल–व्याकुल भी नहीं होता और समस्त विभावपरिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता; भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके वर्तता है उसमें उसे पुरुषार्थ बना ही रहता है। एक साथ पाँचों समवाय उसमें आ जाते हैं।

(२५) अपने–अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं...

प्रवचनसार गाथा ९९ "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं..." इत्यादि में आचार्यदेव ने क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत अलौकिक रीति से रख दिया है। हार के मोती के दृष्टांत से, द्रव्य के परिणाम अपने–अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं—यह बात समझाकर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप एकदम स्पष्ट कर दिया है। और एक ही समय में उत्पाद-व्यय,–ध्रुव होने पर भी उन तीनों का भिन्न–भिन्न लक्षण है—नाश अर्थात् व्यय, नष्ट होनेवाले भाव के आश्रित है; उत्पाद, उत्पन्न होनेवाले भाव के आश्रित है और ध्रौव्य स्थित रहनेवाले

भाव के आश्रित है।—इसप्रकार प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहकर उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की साँकल बना ही है। (देखो गाथा १०१)

(२६) 'सत्' और उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव

अहो! भगवन्तों ने जंगल में निवास करके, अपने ज्ञान में वस्तु-स्वरूप को ग्रहण करके तादृश वर्णन किया है। एक ओर सम्पूर्ण सत् का ज्ञेय पिण्ड जगत में पड़ा है और दूसरी ओर उसे जानने-वाला ज्ञानस्वभाव है। महासत्ता सत्, अवान्तरसत्ता सत्, जड़-चेतन प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल सत् और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी क्रमबद्धप्रवाह मे उसके अपने स्वकाल से सत्, और इन सबको जाननेवाली ज्ञानपर्याय भी सत्।—इसप्रकार सब क्रमबद्ध और व्यव-स्थित सत् है। जहाँ उसका निर्णय किया वहाँ अपने को ज्ञातृत्व ही रहा और कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि दूर हो गई। सत् का ज्ञाता न रहकर उा सत् को बदलना चाहे वह मिथ्याबुद्धि है।

(२७) ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पाँचों समवाय आ जाते हैं

समस्त पर्यायें तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु उसका निर्णय कौन करता है? ज्ञाता का ज्ञान हो उसका निर्णय करता है। जिस ज्ञान ने ऐसा निर्णय किया उसने अपना (ज्ञानस्वभाव का) निर्णय भी साथ ही कर लिया है। जहाँ स्वभाव सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया वहाँ—

(१) स्वभाव की ओर का सम्यक् "पुरुषार्थ" आया,

(२) जो शुद्धता प्रगट हुई है वह स्वभाव में से हुई है, इसलिये "स्वभाव" भी आया,

(३) उस समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होना थी वही प्रगटी है, इसलिये "नियत" भी आया,

(४) जो निर्मलदशा प्रगट हुई है वही उस समय का स्वकाल है, इसप्रकार स्वकाल भी आ गया,

(५) उस समय निमित्तरूप कर्म के उपशमादि स्वयं वर्तते हैं, इसप्रकार "कर्म" भी अभावरूप निमित्तरूप से आ गया —उपकरोक्तानुसार स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

(२८) उदीरणा—संक्रमणादि में भी क्रमबद्धपर्याय का नियम

कर्म की उपशम, उदीरणा, संक्रमणादि अवस्थाओं का शास्त्र में वर्णन आता है, वह सब अवस्थायें भी क्रमबद्ध ही हैं, शुभभाव से जीव ने असाता प्रकृति का साता रूप से संक्रमण किया—ऐसा कथन आता है, परंतु वहाँ, कर्म की वह अवस्था होना नहीं थी और जीव ने की—ऐसा नहीं है; किन्तु वैसी अवस्था होने के समय जीव के वैसे परिणाम निमित्त होते हैं—ऐसा बतलाया है। सर्वत्र एक ही अबाधित नियम है कि पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है और आत्मा ज्ञायक है—फेरफार करनेवाला नहीं है। जीव ने शुभभाव किये और कर्म में असाता पलटकर साता हुई, वहाँ उस कर्म की अवस्था में फेरफार तो हुआ है, किन्तु उसमें कहीं उसकी अवस्था का क्रम नहीं टूटा है; और जीव ने शुभभाव करके उस अजीव में फेरफार किया—ऐसा भी नहीं है, असाता बदलकर साता हुई वहाँ ऐसा ही उस अजीव की अवस्था का क्रम था।

(२९) द्रव्य सत्, पर्याय भी सत्

लोग कहते हैं कि—जीव सब छोड़कर चला गया, किन्तु वहाँ उसने कहीं जीवत्व छोड़ा है? जीव तो जीवरूप रहकर ही अन्यत्र गया है न! जिसप्रकार जीव जीवरूप से सत् रहा है उसीप्रकार उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी उस उस समय का सत् है, वह बदलकर दूसरे समय की पर्यायरूप नहीं हो जाती।

(३०) ज्ञायक के निर्णय बिना सब पढ़ाई उल्टी है

मैं ज्ञान हूँ-ज्ञायक हूँ ऐसा न मानकर पर में फेरफार करना

मानता है वह बुद्धि ही मिथ्या है। भाई! आत्मा ज्ञान है–इस बात के निर्णय बिना तेरी सब पढ़ाई उल्टी है; तेरे तर्क और न्याय भी विपरीत हैं। ज्ञानस्वभाव की गम पड़े बिना आगम भी अनर्थकारी हो जाते हैं। शास्त्र में निमित्त से कथन आये वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि के अनुसार उसका आशय लेकर उल्टा मिथ्यात्व का पोषण करता है।

(३१) "मैं तो ज्ञायक हूँ"

सब जीवों की पर्याय क्रमबद्ध है तो मैं किसे बदल सकता हूँ? सर्व अजीवों की पर्याय भी क्रमबद्ध है तो मैं किसे पलट सकता हूँ? —मैं तो ज्ञायक हूँ; ज्ञायकत्व ही मेरा परम स्वभाव है। मैं ज्ञाता ही हूँ, किसीको बदलनेवाला नहीं हूँ। किसीका दुःख मिटा दूँ या सुखी कर दूँ यह बात मुझमें नहीं है—इसप्रकार अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन है।

(३२) अपनी मानी हुई सब बात को बदलकर यह बात समझना पड़ेगी

सोलापुर में अधिवेशन के समय विद्वत्परिषद ने इस क्रमबद्ध-पर्याय के सम्बन्ध में चर्चा उठाई थी, किन्तु उसका कोई निर्णय नहीं आया; ज्यों का त्यों गोला ही समेट लिया; क्योंकि जो इस बात का निर्णय करने लगे तो, निमित्त के कारण कहीं फेरफार होता है—यह बात नहीं रहती और अभी तक का रटा हुआ सब बदलना पड़ता है। किन्तु वह सब बदलकर, क्रमबद्धपर्याय जिस प्रकार कही जाती है उसका निर्णय किये बिना किसी प्रकार श्रद्धा–ज्ञान सच्चे नहीं हो सकते।

(३३) क्रमबद्ध परिणमित होने वाले ज्ञायक का अकर्तृत्व

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; ज्ञान उसका परम स्वभाव है; और ज्ञान के साथ श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण

रहते हैं। द्रव्य परिणमित होने से उन समस्त गुणों का क्रमानुसार परिणमन होता है।

आत्मा ज्ञायक है इसलिये उसका स्वभाव स्वपर को जानने का है; पर को करे या राग द्वारा पर का कारण हो ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, और पर उसका कुछ करे या स्वयं पर को कारण बनाये—ऐसा भी स्वभाव नहीं है; इस प्रकार अकारणकार्यस्वभाव है।

यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार में यह क्रमबद्धपर्याय की बात लेकर आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है, अर्थात् जीव ज्ञायक ही है—ऐसा समझाया है। जीव ज्ञानस्वभावी है, उसके अनंत गुणों की समय-समय की पर्यायें क्रमबद्ध ही उत्पन्न होती हैं और वे जीव के साथ एकमेक हैं। तीनकाल की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में ही उत्पन्न होती है, कोई भी पर्याय उल्टी-सीधी उत्पन्न नहीं होती।

(३४) पुरुषार्थ का महान प्रश्न

इसमें महान प्रश्न यह है कि—"तब फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा?"

समाधान :— यह निर्णय किया वहाँ मात्र ज्ञातापना ही रहा, इसलिये पर में फेरफार करने की बुद्धि से हटकर पुरुषार्थ का बल स्वभाव की ओर ढल गया। इसप्रकार ज्ञान के साथ वीर्यगुण (पुरुषार्थ) भी साथ ही है। ज्ञान की क्रमबद्धपर्याय के साथ स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ भी साथ ही वर्तता है; क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहीं पृथक् नहीं रह जाता। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हुआ वहाँ उसके साथ वीर्य, सुख, श्रद्धा, चारित्र, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण एकसाथ ही परिणमित होते हैं इसलिये इसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है।

(३५) "ज्ञापक" और "कारक"

अनादि-अनंतकाल में किस समय किस द्रव्य की कैसी पर्याय है

वह सर्वज्ञदेव ने वर्तमान में प्रत्यक्ष जान लिया है; किन्तु सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वे द्रव्य वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा नही है; किन्तु उस-उस समय की निश्चित् क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने का द्रव्यों का ही स्वभाव है। सर्वज्ञ का केवलज्ञान तो 'ज्ञापक' अर्थात् बतलानेवाला है, वह कहीं पदार्थों का कारक नहीं है। छहों द्रव्य ही स्वयं अपने–अपने छह कारकरूप से परिणमित होते हैं।

❀ दूसरा प्रवचन ❀

[आश्विन कृष्णा १३, वीर सं. २४८०]

> पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना शुद्धपर्याय कभी नहीं होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं।

(३६) जिसका पुरुषार्थ ज्ञायक की ओर ढला उसीको क्रमबद्ध की श्रद्धा हुई

"अहो! मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान ही मेरा परम स्वभाव है;—ऐसे निर्णय का अन्तर में प्रयत्न करे उसके ऐसा निर्णय हो जाता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है और सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान से ऐसा ही जाना है। जिस जीव ने अपने ज्ञान मे ऐसा निर्णय किया उसे सर्वज्ञ से विरुद्ध कथन करनेवाले (अर्थात् निमित के कारण कुछ फेरफार होता है या राग से धर्म होता है—ऐसा मनानेवाले) कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र की मान्यता छूट गई है; उसका पुरुषार्थ ज्ञानस्वभाव की ओर ढला है और उसीको सर्वज्ञदेव की तथा क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा हुई है।

(३७) सर्वज्ञदेव को न माननेवाले

कोई ऐसा कहे कि "सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्याय को वर्तमान में नहीं जानते, किन्तु जब वह पर्याय होगी तब वे उसे जानेंगे !"—तो ऐसा कहनेवाले को सर्वज्ञ की श्रद्धा भी नहीं रही। भाई रे! भविष्य के परिणाम होंगे तब सर्वज्ञदेव जानेंगे—ऐसा नहीं है, सर्वज्ञदेव को तो पहले से ही तीनकाल–तीनलोक का ज्ञान वर्त रहा है। तुझे ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु निमित्त द्वारा क्रम बदलना हो सकता है ऐसा मानना है तो यह तेरी दृष्टि ही विपरीत है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय का निर्मल क्रम प्रारम्भ हो जाता है, यह नियम है।

जीव–अजीव के सर्व परिणाम क्रमबद्ध जैसे हैं वैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं और सूत्र में भी वैसे ही बतलाये हैं; इसलिये आचार्यदेव ने गाथा मे कहा है कि—"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते......" जीव–अजीव के क्रमबद्ध परिणाम जैसे हैं वैसे ही उसी सब प्रकारों के सर्वज्ञदेव ज्ञाता हैं, किन्तु उनके कारक नहीं है।

(३८) जो आत्मा का ज्ञायकपना नहीं मानता वह केवली आदि को भी नही मानता

जीव प्रतिसमय अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है; जीव मे अनन्त गुण होने से एक समय में उन अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम होते हैं; उनमें प्रत्येक गुण के परिणाम प्रतिसमय नियमित क्रमबद्ध ही होते हैं।—ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करने से ज्ञान स्वसंन्मुख होकर अकर्तारूप से—साक्षीभाव से परिणमित हुआ; वहाँ, साधकदशा होने से अभी अस्थिरता का राग भी होता है किन्तु ज्ञान तो उसका भी साक्षी है। स्व–परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ उसकी क्रमबद्ध-पर्याय ऐसी ही है कि उससमय ज्ञायक को जानते हुए वैसे राग को भी जाने। ऐसे ज्ञायकपने को न माने और पर्याय के क्रम में फेरफार करना माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता;

केवलीभगवान को भी वह नहीं मानता और केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे होते हैं उन्हें भी वह नहीं जानता। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लिया उसे सम्यग्दर्शनादि हुए हैं, और उसीने वास्तव में केवलीभगवान को, उनके शास्त्रों को और गुरु को माना है।

(३६) पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी, पुरुषार्थी को ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं

देखो, इसमें आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ की बात है। "क्रमबद्धपर्याय" का ऐसा अर्थ नहीं है कि जीव चाहे जैसे कुधर्म को मानता हो तथापि उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। अथवा चाहे जैसे तीव्र विषय-कषायों मे वर्तता हो या एकेन्द्रियादि पर्याय में वर्तता हो तथापि उसे भी क्रमबद्धरूप से उस पर्याय में सम्यग्दर्शनादि हो जायें —ऐसा कभी नहीं होता। जो कुधर्म को मानते हैं, तीव्र विषय–कषाय में वर्तते हैं, या एकेन्द्रिय में पड़े हैं, उन्हें कहाँ अपने ज्ञान-स्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की खबर है? पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना कदापि शुद्धपर्याय नहीं होती। ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और जो वैसा पुरुषार्थ नहीं करता उसे क्रमबद्ध मलिन पर्याय होती है। पुरुषार्थ के बिना ही हमें सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा हो जायेगी—ऐसा कोई माने तो वह क्रम-बद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है। जो जीव कुदेव को, कुगुरु को, कुधर्म को मानता है और स्वच्छन्दता से तीव्र कषायों में वर्तता है—ऐसे जीव को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही नहीं है। भाई! अपने ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ बिना तूने क्रमबद्धपर्याय को कहाँ से जाना? जबतक कुदेव–कुधर्म आदि को माने तबतक उसकी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शन की योग्यता हो ही नहीं सकती। सम्यग्दर्शन की योग्यता-

वाले जीव को उसके साथ ज्ञान का विकास, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी योग्य ही होते हैं; एकेन्द्रिपना आदि पर्याय में उसप्रकार के ज्ञान, पुरुषार्थ आदि नहीं होते, ऐसा ही उस जीव की पर्याय का क्रम है। यहाँ तो यह बात है कि पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की उसे सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिये पर का और रागादि का अकर्ता हुआ और उसीने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ रूप से जाना है। अभी तो कुदेव और सुदेव का निर्णय करने की भी जिसके ज्ञान में शक्ति नहीं है, उस जीव में ज्ञायकस्वभाव का और अनंत गुणों की क्रम-बद्धपर्याय का निर्णय करने की शक्ति तो कहाँ से होगी ? और यथार्थ निर्णय के बिना क्रमबद्धपर्याय मे शुद्धता हो जाये—ऐसा नहीं होता ।

(४०) "अनियतनय" या "अकालनय" के साथ क्रमबद्धपर्याय का विरोध नहीं है

प्रवचनसार के परिशिष्ट के ४७ नयों में २७ वें अनियतनय से आत्मा को "अनियत" कहा है, परंतु अनियत अर्थात् अक्रमबद्ध—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। वहाँ पानी की उष्णता का उदाहरण देकर समझाया है कि जिसप्रकार उष्णता पानी का नित्यस्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु उपाधिभाव है, इसलिये उस विकार की अपेक्षा से आत्मा को अनियत कहा है। इसीप्रकार ३१वें बोल में वहाँ "अकालनय" कहा है, उसमें भी कहीं इस क्रमबद्धपर्याय के नियम से विरुद्ध बात नहीं है; कहीं क्रमबद्धपर्याय को तोड़कर वह बात नहीं है। (इन अनियतनय तथा अकालनय सम्बन्धी विशेष समझ के लिये आत्मधर्म में प्रकाशित होनेवाले पूज्य गुरुदेव के प्रवचन पढ़ें।)

(४१) जैनदर्शन की मूलवस्तु का निर्णय

मूल वस्तुस्वभाव क्या है उसका पहले बराबर निर्णय करना चाहिए। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव क्या है ? और ज्ञेय पदार्थों

का क्रमबद्धस्वभाव क्या है ?—उसके निर्णय में विश्वदर्शनरूप जैन-दर्शन का निर्णय आ जाता है; किन्तु अज्ञानियों को उसका निर्णय नहीं है।

देखो, यह मूलवस्तु है; इसका पहले निर्णय करना चाहिये। इस मूलवस्तु के निर्णय बिना धर्म नहीं हो सकता। जिस प्रकार कोई आदमी किसी दूसरे आदमी के पास पाँचहजार की उगाही के लिये जाये; वहाँ कर्जदार आदमी उसे अच्छी—अच्छी मिठाइयों का भोजन कराये; किन्तु लेनदार कहे कि भाई! भोजन की बात पीछे, पहले मुख्य (मूल) बात करो, यानी मैं पाँचहजार रुपये लेने आया हूँ; उनकी पहले व्यवस्था कर दो,—इस प्रकार वहाँ भी मुख्य बात पहले करते हैं; उसी प्रकार यहाँ मुख्य (मूल) रकम यह है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है उसका निर्णय करना चाहिये। आत्मा ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थों की पर्याय का क्रमबद्धस्वभाव है—उसका जो निर्णय नहीं करता, और "ऐसा निमित्त चाहिये तथा ऐसा व्यवहार चाहिये"—इसप्रकार व्यवहार की रुचि में रुक जाता है उसका किंचित् भी हित नहीं होता। अहो! मैं ज्ञायक हूँ—यह मूल बात जिसकी प्रतीति में आ गई उसे क्रमबद्धपर्याय जमे बिना नहीं रहेगी; और जहाँ यह बात जमी वहाँ सब स्पष्टीकरण हो जाते हैं।

(४२) हार के मोतियों के दृष्टान्त द्वारा क्रमबद्धपर्याय की समझ; और ज्ञान को सम्यक् करने की रीति

प्रवचनसार की ९९वीं गाथा में लटकते हुए हार का दृष्टान्त देकर उत्पाद–व्यय–ध्रुव सिद्ध किये हैं; उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात आ जाती है। जिस प्रकार लटकते हुए हार के मोतियों में पीछे पीछे के स्थानों में पीछे पीछे के मोतियों के प्रगट (प्रकाशित) होने से और आगे आगे के मोतियों के प्रगट नहीं होने से प्रत्येक मोती अपने–अपने स्थान में प्रकाशित है; उसमें आगे-आगे के स्थान में

आगे-आगे का मोती प्रकाशित होता है और पीछे-पीछे के मोती प्रकाशित नहीं होते; उसी प्रकार लटकते हुए हार की भाँति परिणमित द्रव्य में समस्त परिणाम अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित रहते हैं; उसमें पीछे-पीछे के अवसरों में पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं और आगे-आगे के परिणाम प्रगट नहीं होते। (देखो, गाथा ९९ की टीका।) लटकते हुए हार के डोरे में उसका प्रत्येक मोती यथास्थान क्रमबद्ध जमा हुआ है; यदि उसमें उल्टा-सीधा करने जाये—पाँचवें नम्बर का मोती हटा कर पच्चीसवें नम्बर पर लगाने जाये—तो हार का डोरा टूट जायेगा, इसलिये हार की अखण्डता नहीं रहेगी। उसी प्रकार जगत का प्रत्येक द्रव्य झूलता अर्थात् परिणमनशील है। अनादि-अनन्त पर्यायरूप मोती क्रमबद्ध जमे हुए हैं; उसे न मानकर एक भी पर्याय का क्रम तोडने जाये तो गुण का और द्रव्य का क्रम टूट जायेगा, अर्थात् श्रद्धा ही मिथ्या हो जायेगी। मैं तो ज्ञायक हूँ; मैं निमित्त बनकर किसीकी पर्याय में फेरफार कर दूँ—ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है;—इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा अकर्तापना हो जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है, और वही जीव स्व-परप्रकाशक ज्ञान द्वारा इस क्रमबद्धपर्याय को यथार्थतया जानता है।—इसप्रकार अभी तो ज्ञान को सम्यक् करने की यह रीति है; इसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

(४३) ज्ञायकभाव का परिणमन करे वही सच्चा श्रोता

इस क्रमबद्धपर्याय के विषय में आजकल बड़ी गड़बड़ी शुरू हुई है, इसलिये यहाँ उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। अभी तो जिसे इस बात के श्रवण का भी प्रेम न आये वह अन्तर में पात्र होकर परिणमित कहाँ से करेगा? और अकेले श्रवण का प्रेम करे किन्तु स्वच्छन्द टालकर अंतर में ज्ञायकभाव का परिणमन न करे तो उसने भी वास्तव में यह बात नहीं सुनी है। यही बात समयसार की चौथी गाथा में आचार्यदेव ने रखी है; वहाँ कहा है कि एकत्वविभक्त

शुद्धात्मा का श्रवण जीव ने पहले कभी नहीं किया है; अनन्तबार साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवशरण में जाकर दिव्यध्वनि सुन आया, तथापि आचार्य भगवान कहते हैं कि उसने भावभासनरूप शुद्धात्मा की बात का श्रवण किया ही नहीं; क्यों ? क्योंकि अंतर में उपादान जागृत करके उस शुद्धात्मा की रुचि नहीं की इसलिये उसके श्रवण में निमित्तपना भी नहीं आया।

(४४) जहाँ स्वच्छन्द है वहाँ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है; साधक को ही क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा है

प्रश्न :– क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हो जाये, किन्तु पर्याय के क्रम में से स्वच्छन्द दूर न हो तो ?

उत्तर:—ऐसा हो ही नहीं सकता। भाई ! जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे उसके पर्याय में स्वच्छन्द का क्रम रह ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसने वह प्रतीति की है। ज्ञान-स्वभाव की पहिचान के पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, उसकी यहाँ बात नहीं है; क्योंकि ज्ञानस्वभाव की पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्याय को भी नहीं समझा है। ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति की वहाँ तो अनंतगुणों का अंश निर्मलरूप से परिणमित होने लगा है; श्रद्धा में सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान में सम्यग्ज्ञान हुआ, आनंद के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का अंश स्वोन्मुख हुआ,—इसप्रकार समस्त गुणों की अवस्था के क्रम में निर्मलता का प्रारम्भ हो गया। अभी जिसके श्रद्धा–ज्ञान सम्यक् नहीं हुए हैं, आनंद का भान नहीं है, वीर्यबल अन्तर्स्वभावोन्मुख नहीं हुआ है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है। क्रमबद्ध-पर्याय की प्रतीति के साथ तो स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है; श्रद्धा–ज्ञान सम्यक् हुए हैं, अतीन्द्रिय आनंद और वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है, इसलिये वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नहीं। साधकदशा

में अस्थिरता का राग आता है, किन्तु वहाँ स्वच्छन्द नहीं होता। और जो राग है उसका भी परमार्थतः तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमें भेदज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो, अथवा क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, वस्तुस्वभाव का निर्णय कहो—यह सब साथ ही हैं। क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धावाले को हठ भी नहीं रहती और स्वच्छन्द भी नही रहता। सम्यक्श्रद्धा होने के साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनित्व धारण कर लेना चाहिये—ऐसी हठ नहीं होती, और चाहे जैसा राग हो उसमें कोई हर्ज नहीं है—ऐसा स्वच्छन्द भी नही होता; ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्ग का उद्यम उसके चलता ही रहता है। चारित्र की कमजोरी मे अपना ही अपराध मानता है, किसी अन्य का दोष नही मानता।

(४५) यह समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायं

आजकल उपादान-निमित्त और निश्चय-व्यवहार की बड़ी उलझनें चल रही हैं; यदि यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप बराबर समझे तो वे सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। "द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है"—ऐसा कहा। उसमें उस-उस पर्याय का क्षणिक उपादान आ जाता है। प्रत्येक समय की पर्याय अपने-अपने क्षणिक उपादान से ही क्रमबद्धरूप से—नियमितरूप से उत्पन्न होती हैं; अपने परिणामों से ही अर्थात् उस समय की क्षणिक योग्यता से ही उत्पन्न होती है, निमित्त से उत्पन्न नहीं होती। प्रत्येक गुण में अपने-अपने क्षणिक उपादान से क्रमबद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं; —इस प्रकार अनंत गुणों के अनंत परिणाम एक समय में उत्पन्न होते हैं। यह जो क्रमबद्धपना कहा जाता है वह "उर्द्धवंता सामान्य" की अपेक्षा से अर्थात् कालप्रवाह की अपेक्षा से कहा जाता है।

(४६) वज्रभींत जैसा निर्णय

भाई! अपने ज्ञान को अंतरोन्मुख करके एकबार वज्रभींत जैसा

यथार्थ निर्णय तो कर। वज्रभींत जैसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्ग की ओर तेरा वीर्य नहीं चलेगा। यह निर्णय करने से तेरी प्रतीति में निरंतर ज्ञान की अधिकता हो जायेगी और राग उस ज्ञान का ज्ञेय हो जायेगा। इसके अनुभवज्ञान बिना अनादि से स्व-पर के स्वरूप को भूलकर पर का मैं करूं और पर को बदल दूं ऐसा मान रहा है—ऐसी बुद्धि तो संसारभ्रमण के कारणरूप है।

(४७) केवली की भाँति सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; ज्ञान किसे बदलेगा? जिस प्रकार केवलीभगवान जगत के ज्ञाता-दृष्टा ही हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य कर रहा है। भगवान एक समय में परिपूर्ण जानते हैं और यह जीव अल्प जानता है—इतना ही अन्तर है। किंतु अपने ज्ञाता-दृष्टापने की प्रतीति न करके, अन्यथा मानकर जीव संसार में भटक रहा है। अल्प और अधिक ऐसे भेद को गौण कर डाले तो सर्व जीवों में ज्ञान का एक ही प्रकार है, समस्त जीव ज्ञानस्वरूप हैं और जानने का ही कार्य करते हैं; किंतु ज्ञानरूप से अपना अस्तित्व है उसे प्रतीति में न लेकर, ज्ञान के अस्तित्व में पर का अस्तित्व मिलाकर पर के साथ एकत्व मानता है, पर से लाभ-हानि मानता है वही दुःख और संसार है।

(४८) निमित्त वास्तव में कारक नहीं किन्तु अकर्ता है

"सर्वज्ञभगवान को तो परिपूर्ण ज्ञान विकसित हो गया है, वे तो 'ज्ञायक' हैं इसलिये वे पर में कुछ भी फेरफार नहीं करते, यह बात ठीक है, किंतु यह जीव तो निमित्तरूप से कारक होकर अपनी इच्छानुसार पदार्थों में फेरफार—उल्टासीधा कर सकता है?"—ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नहीं है। ज्ञायक हो या कारक हो, किंतु पदार्थ की क्रमबद्धपर्याय को बदलकर कोई उल्टी-सीधी नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य निरन्तर स्वयं ही अपना कारक होकर क्रमबद्धपर्यायरूप

से उत्पन्न होता है, निमित्तरूप दूसरा द्रव्य वास्तव में कारक नहीं किंतु अकारक है; अकारक को कारक कहना वह उपचारमात्र है; इसी प्रकार निमित्त अकर्ता है, उस अकर्ता को कर्ता कहना वह उपचार है—व्यवहार है—अभूतार्थ है।

(४९) ज्ञायक के निर्णय में ही सर्वज्ञ का निर्णय

भगवान सर्व के ज्ञायक हैं—ऐसा निर्णय किसने किया ? ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर स्वयं ज्ञायक हुआ तभी भगवान के ज्ञायकपने का यथार्थ निर्णय हुआ।

(५०) पर्याय में अनन्यपना होने से, पर्याय के बदलने पर द्रव्य भी बदलता है; चक्की के निचले पाट की भाँति वह सर्वथा कूटस्थ नहीं है

यहाँ ऐसा कहा है कि क्रमबद्धपरिणामरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—"दवियं ज उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं" द्रव्य अपने जिन गुणों से जिन क्रमबद्धपरिणामोंरूप उत्पन्न होता है उनमें उसे अनन्य जान। इसलिये, अकेली पर्याय ही पलटती है और द्रव्य गुण तो "चक्की के निचले पाट की भाँति" सर्वथा कूटस्थ ही रहते हैं—ऐसा नहीं है। पर्याय के बदलने से उस-उस पर्यायरूप से द्रव्य-गुण उत्पन्न होते हैं। पहले समय की पर्याय में जो द्रव्य-गुण अनन्य थे वे दूसरे समय पलटकर दूसरे समय की पर्याय में अनन्य हैं। पहले समय में पहली पर्याय का जो कर्ता था वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय का कर्ता हुआ है। इसी प्रकार कर्ता की भाँति कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण—इन सब कारकों में प्रतिसमय परिवर्तन होता है। पहले समय जैसा कर्तापना था वैसा ही कर्तापना दूसरे समय नहीं रहा; पर्याय के बदलने से कर्तापना आदि भी बदले हैं। कर्ता-कर्म आदि छह कारक पहले जिस स्वरूप में थे उसी स्वरूप में दूसरे समय नहीं रहे। पहले समय में

पहली पर्याय के साथ तद्रूप होकर उसका कर्तृत्व था, और दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूप होकर उस दूसरी पर्याय का कर्तृत्व हुआ। इसप्रकार पर्याय अपेक्षा से, नई नई पर्यायों के साथ तद्रूप होता-होता सारा द्रव्य प्रतिसमय पलट रहा है; द्रव्य-अपेक्षा से ध्रुवता है। यह कुछ सूक्ष्म बात है।

प्रवचनसार की ९३वीं गाथा में भी कहा है कि—"तेहिं पुणो पज्जाया..." द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। द्रव्य के परिणमित होने से उसके अनन्त गुण भी क्रमबद्धपर्यायरूप से साथ ही परिणमित हो जाते हैं। पर्याय में अनन्यरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से, पर्याय के परिणमित होने से द्रव्य भी परिणमित हुआ है—यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि यदि द्रव्य सर्वथा ही परिणमित न हो तो पहली पर्याय से छूटकर दूसरी पर्याय के साथ वह कैसे तद्रूप होगा? पर्याय के बदलने पर यदि द्रव्य न बदले तो वह अलग पड़ा रहेगा!—इसलिये दूसरी पर्याय के साथ उसकी तद्रूपता हो ही नहीं सकती। किन्तु ऐसा नहीं होता, पर्याय परिणमित होती रहे और द्रव्य अलग रह जाये ऐसा नही होता।

कोई ऐसा कहे कि—"पहले समय की जो पर्याय है वह स्वयं ही दूसरे समय की पर्यायरूप परिणमित हो जाती है, द्रव्य परिणमित नही होता"—तो यह बात असत्य है। पहली पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती; पर्याय में से पर्याय प्रगट होती है—ऐसा माननेवाले को तो "पर्यायमूढ़" कहा है। पर्याय के पलटने पर उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव भी (पर्याय अपेक्षा से) पलट गये हैं। यदि ऐसा न हो तो समय-समय की नई पर्याय के साथ द्रव्य का तद्रूपपना सिद्ध नहीं हो सकता। "सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है"—ऐसा कह कर आचार्यदेव ने अलौकिक नियम दिखा दिया है। श्री दीपचंद जी कृत चिद्विलास में भी यह बात की है।

(५१) जीव का सच्चा जीवन

जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ, उसमें तन्मयरूप से जीव ही है, अजीव नहीं है। अजीव के या राग के आश्रय से उत्पन्न हो ऐसा जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है। और क्रमबद्ध-परिणाम न माने तो उसे भी वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है। "जीवित जीव" तो अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है, उसके बदले अजीवादि निमित्त के कारण जीव उत्पन्न होता है—ऐसा माने, अथवा तो जीव निमित्त होकर अजीव को उत्पन्न करता है—ऐसा माने तो उसने जीव के जीवन को नहीं जाना है। जीव का जीवन तो ऐसा है कि पर के कारण-कार्य बिना ही स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है।

(५२) दृष्टि अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है

आत्मा ज्ञायकस्वरूप...समभावी सूर्य है,—ऐसे स्वभाव को जो नहीं जानता और स्वच्छन्दी होकर मिथ्यात्व की विषमबुद्धि से कर्तृत्व मानता है—पर में उलटा-सीधा करना चाहता है—उसने जीव को वास्तव में माना ही नहीं है; ज्ञायकस्वरूप जीवतत्त्व को उसने जाना ही नहीं है। कर्तृत्व मानकर कहीं भी फेरफार करने गया वहाँ स्वयं ज्ञातारूप से नहीं रहा, और क्रमबद्धपर्याय ज्ञेयरूप है उसे नहीं माना; इसलिये अकर्ता साक्षीस्वरूप ज्ञायक जीवतत्त्व उसकी दृष्टि में नहीं रहा। ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है वह ज्ञाता है—अकर्ता है और निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से वह उत्पन्न होता है। ज्ञातास्वभाव पर जिसकी दृष्टि नहीं है और पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसे विपरीतदृष्टि में क्रमबद्धपर्याय अशुद्ध होती है। इस प्रकार यह दृष्टि बदलने की बात है; पर की दृष्टि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने की यह बात है; ऐसी दृष्टि प्रगट किये बिना यह बात यथार्थरूप से समझ में नहीं आ सकती।

(५३) ज्ञायक के लक्ष बिना एक भी न्याय सच्चा नहीं होता

पानी का जो प्रवाह है वह उलटा-सीधा नहीं होता; पहले का पीछे और पीछे का आगे—ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य अपने अनादि-अनन्त पर्यायों के प्रवाहक्रम को द्रवित होता है—प्रवाहित होता है; उस प्रवाहक्रम में जिस-जिस पर्याय को वह द्रवित होता है उस–उस पर्याय के साथ वह अनन्य है। जिस प्रकार मकान के खिड़की–दरवाजे नियत हैं; छोटे–बड़े अनेक खिड़की–दरवाजों में जिस स्थान पर जो खिड़की या दरवाजा लगाना हो वही बराबर बैठता है, बड़ा दरवाजा काटकर छोटे दरवाजे की जगह लगा दें तो उस बड़े दरवाजे की जगह क्या लगायेंगे ? बड़े दरवाजे की जगह कहीं छोटा दरवाजा फिट नहीं हो सकता, वहाँ तो बढ़ई प्रत्येक खिड़की—दरवाजे पर नम्बर लिख रखता है। यदि उस नम्बर में गड़बड़ी हो जाये तो खिड़की–दरवाजों का मेल टूट जाता है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं; उन पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय में जिस पर्याय का जो स्थान (—स्वकाल) है वह आगे—पीछे नहीं होता। यदि एक भी पर्याय के स्थान को (प्रवाहक्रम को) बदलकर इधर–उधर करने जायें तो कोई व्यवस्था ही न रहे; क्योंकि एक पर्याय को बदलकर दूसरे स्थान पर रखा, तो दूसरे स्थान की पर्याय को बदलकर तीसरे स्थान पर रखना पड़ेगी—इसप्रकार सारा द्रव्य ही छिन्नभिन्न हो जायेगा,—अर्थात् उस जीव की दृष्टि मे द्रव्य खण्ड–खण्ड होकर मिथ्यात्व हो जायेगा; सर्वज्ञता या ज्ञायकता तो सिद्ध ही नहीं होगी। "मैं ज्ञायक हूँ",—इस बात का जबतक लक्ष न हो तबतक एक भी सच्चा न्याय समझ में नहीं आ सकता। आत्मा ज्ञायक और सर्व पदार्थ ज्ञेय,—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित हैं। जैसे पदार्थ हैं वैसा ही ज्ञान जानता है, और जैसा ज्ञान जानता है वैसे

ही पदार्थ हैं, तथापि किसी के कारण कोई नहीं है—ऐसा वस्तुस्वरूप है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो ज्ञाता हुआ वह राग का भी ज्ञाता ही है और वह राग भी उसके ज्ञान का ज्ञेय होकर रहता है। पदार्थों की व्यवस्था का ज्ञायक न रहकर फेरफार करना मानता है उसे अपने ज्ञान का ही विश्वास नहीं है।

(५४) "पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित या अव्यवस्थित ?"

भाई, तू ज्ञान है; ज्ञान क्या करता है ? वस्तु जैसी हो वैसी जानता है। तेरा स्वरूप जानने का है। तू विचार तो कर कि पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ? यदि व्यवस्थित कहा जाये तो उसमें कहीं भी फेरफार करना नहीं रहता, ज्ञातृत्व ही रहता है; और यदि अव्यवस्थित कहा जाये तो ज्ञान ने जाना क्या ? पदार्थों का परिणमन अव्यवस्थित कहने से ज्ञान ही अव्यवस्थित सिद्ध होगा; क्योंकि अव्यवस्थित हो तो केवलीभगवान ने जाना क्या ? इसलिये न तो केवलज्ञान ही सिद्ध होगा और न आत्मा का ज्ञानस्वभाव ! ज्ञानस्वभाव की पहिचान के बिना न तो मिथ्यात्व दूर होता है और न धर्म का अंश भी प्रगट होता है।

(५५) जीव या अजीव सबकी पर्याय क्रमबद्ध है, उसे जाननेवाला ज्ञानी तो ज्ञाताभावरूप से ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है

कोई कहे कि "कभी जीव क्रमबद्धपरिणामरूप से परिणमित होता है और कभी अक्रमरूप से भी; उसी प्रकार अजीव भी कभी क्रमबद्ध परिणमित होता है और कभी जीव उसे अक्रमरूप से भी परिणमित कर देता है।"—ऐसा नहीं है। भाई ! जीव या अजीव किसी का ऐसा स्वरूप नहीं है कि अक्रमरूप से परिणमित हों। केवलज्ञान चौथे गुणस्थान में हो जाये और सम्यग्दर्शन तेरहवें गुणस्थान में हो—ऐसा कभी नहीं होता; पहले केवलज्ञान हो जाये और फिर

मुनिदशा ग्रहण करे—ऐसा भी कभी नहीं होता; ऐसा ही वस्तु के परिणमन का स्वभाव है। धर्मी के स्वभावदृष्टि में ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ चालू ही है; ज्ञान में धैर्य है, चारित्र में अल्प राग होता है उसे भी जानते हैं; किन्तु उन्हें आकुलता नहीं है, उतावल नहीं है, हठ नहीं है; वह तो क्रमबद्ध अपने ज्ञाताभावरूप उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है।

(५६) अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है

जिसप्रकार जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उसीप्रकार अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, जीव उसका कर्ता नहीं है। यह शरीर हिले-डुले, भाषा बोली जाये, वह सब अजीव की क्रमबद्धपर्यायें हैं। उसमें जिस समय जो पर्याय होती है वह उसके अपने से ही होती है, उस पर्यायरूप से वह अजीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, जीव उसका कारण नहीं है, और न वह जीव का कार्य है। इस प्रकार अकार्यकारणपना जीव में भी है, और अजीव मे भी है, इसलिये उन्हें परस्पर कोई भी कारणकार्यपना नहीं है;—ऐसा वस्तुस्वरूप बतलाकर यहाँ आत्मा का ज्ञायकस्वभाव बतलाना है।

(५७) सर्व द्रव्यों में "अकार्यकारणशक्ति।"

सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पादक—उत्पाद्यभाव का अभाव है, अर्थात् सर्व द्रव्यों को पर के साथ अकार्यकारणपना है। इसप्रकार "अकार्यकारणशक्ति" सभी द्रव्यों में है। अज्ञानी कहते हैं कि "अकार्यकारणशक्ति तो सिद्ध में ही है और संसारी जीवों को तो पर के साथ कार्य-कारणपना है"—यह बात झूठ है।

(५८) पुद्गल में क्रमबद्धपर्याय होने पर भी......

पुद्गल में कर्म आदि की अवस्था भी क्रमबद्ध है; पुद्गल में वह

अवस्था होना नहीं थी और जीव ने विकार करके वह अवस्था उत्पन्न की ऐसा नहीं है। पुद्गलकर्म में उपशम-उदीरणा-संक्रमण-क्षय इत्यादि जो अवस्थायें होती हैं उन अवस्थाओंरूप से पुद्गल स्वयं क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता है। ऐसा होने पर भी ऐसा नियम है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर जीव जहाँ अकर्तारूप से परिणमित हुआ, वहाँ जगत में ऐसी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतावाले कोई परमाणु ही नहीं है कि जो उसे मिथ्यात्वप्रकृति रूप से बँधें। मिथ्यात्वप्रकृति के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही उसे ज्ञायक-दृष्टि में से छूट गया है।—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओं में बड़ी अच्छी तरह समझायेंगे।

(५६) क्रमबद्धपर्याय को न समझनेवाले की कुछ भ्रमणायें

अजीव में ज्ञान नही है, इसलिये उसकी अवस्था तो जैसी होना होती है वैसी क्रमबद्ध होती रहती है; किन्तु जीव की अवस्था क्रम-बद्ध नही होती, वह तो अक्रमरूप भी होती है—ऐसा कोई माने तो वह बात असत्य है।

अजीव में ज्ञान नहीं है, इसलिये जीव उसकी अवस्था जैसी करना चाहे वैसी कर सकता है, इसलिये उसकी अवस्था क्रमबद्ध नहीं है किन्तु अक्रम है; पानी-भरा हो उसमें जैसा रंग डालोगे वैसे रंग का हो जायेगा—ऐसा कोई माने तो उसकी बात भी झूठ है।

क्रमबद्धपर्याय है इसलिये हमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना चाहिये—ऐसा कोई माने तो वह भी अज्ञानी है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञातामात्रपने का पुरुषार्थ आ जाता है उसे वह नहीं समझा है।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे स्वभाव का पुरुषार्थ करने से सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय होता है, वह यथार्थ है। इस ओर आत्मा का ज्ञायकस्वभाव न माने तथा दूसरी ओर पदार्थों में क्रमबद्धपरिणाम

न माने और फेरफार करना माने तो वह जीव न तो वस्तुस्वरूप को जानता है, और न पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को ही वास्तव में मानता है।

(६०) जीव के कारण बिना ही अजीव को क्रमबद्धपर्याय

शरीर की अवस्था भी अजीव से होती है। मैं उसकी अवस्था को बदलूं अथवा तो अनुकूल आहार–विहार का बराबर ध्यान रखकर शरीर को अच्छा कर दूं—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आहार के एक रजकण को भी बदलना वह जीव की क्रिया नहीं है। "दाने–दाने पर खानेवाले का नाम"—ऐसी एक पुरानी कहावत है, वह क्या बतलाती है ?—कि जिसके पेट में जो दाना आना है वही आयेगा; जीव उसका ध्यान रखकर शरीर की रक्षा कर दे —ऐसा नहीं है। जीव के कारण बिना ही अजीव अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। आत्मा का स्वभाव अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होने का है।

"अरे ! इस शरीर का कोई अंग जिस तरह ऊँचा–नीचा करना हो वैसा हम कर सकते हैं; तो क्या हममें इतनी शक्ति नहीं है कि परमाणु को बदल सकें ?"—ऐसी दलील अज्ञानी करते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई ! क्या परमाणुओं में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे अपने क्रमबद्धपरिणामों से ऊँचे–नीचे हों ? क्या अजीव द्रव्यों में शक्ति ही नहीं है ? भाई ! अजीव में भी ऐसी शक्ति है कि तेरे कारणपने के बिना ही वह स्वयं अपनी हलन–चलनादि अवस्थारूप उत्पन्न होता है, अपनी अवस्था में वह तद्रूप है; उसमें कुछ भी फेरफार करने की शक्ति जीव में नहीं है।—जीव में उसे जानने की शक्ति है। इसलिये तू अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर और अजीव के कर्तृत्व की बुद्धि छोड़।

❋ तीसरा प्रवचन ❋

[आश्विन कृष्णा १४, वीर सं. २४८०]

> जिसे समझने से आत्मा का हित हो ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यहाँ "योग्यता" कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतंत्रता बतलाई जाती है वही उपदेश इष्ट है; इसके सिवा पर के कारण कुछ होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है —प्रिय नहीं है। समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है।

(६१) अधिकार की स्पष्टता

यह सर्वविशुद्ध-ज्ञान-अधिकार है; "सर्वविशुद्धज्ञान" यानी अकेला ज्ञायकभाव। ज्ञायकस्वरूप जीव कर्म का कर्ता नहीं है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। क्रमबद्धपर्याय के वर्णन में आत्मा का ज्ञायकस्वभाव सिद्ध करके उसे अकर्ता बतलाया है। आत्मा निमित्तरूप से भी जड़कर्म का कर्ता नहीं है—ऐसा उसका स्वभाव है।

(६२) क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम कब चालू होता है?

प्रथम तो जीव की बात की है कि—जीव अपने अनन्त गुणों के परिणामों से क्रमबद्ध नियमितरूप से उत्पन्न होता है, और उन परिणामों में अनन्यरूप से वह जीव ही है, अजीव नहीं है। इसमें द्रव्य गुण और पर्याय तीनों आ गये। अपने अनादि-अनंत परिणामों में क्रमबद्धरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव किसी पर के कार्य में कारण नहीं है और कोई पर उसके कार्य में कारण नहीं है; किसीके कारण किसीकी अवस्था के क्रम में फेरफार हो—ऐसा कभी नहीं होता। "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि होने से धर्मी को क्रमबद्धपर्याय निर्मलरूप से परिणमित होने लगती है,

किन्तु पर्याय को आगे–पीछे करने पर उसकी दृष्टि नहीं है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का पुरुषार्थ होने से क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम चालू हो जाता है।

(६३) अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों ली ?

किसी को ऐसा प्रश्न उठे कि यहाँ तो आत्मा को अकर्ता सिद्ध करना है, उसमें यह क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों की ?—तो उसका कारण यह है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य स्वयं अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होते हैं—यह बात जमे बिना, "मैं पर को बदल दूँ"—ऐसी कर्ताबुद्धि नहीं छूटती और अकर्तृत्व नहीं होता। मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ और प्रत्येक वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है उसका मैं ज्ञाता हूँ किन्तु कर्ता नहीं हूँ—ऐसा निश्चय होने से कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व अर्थात् साक्षीपना—ज्ञायकपना हो जाता है। स्वभाव से तो सर्व आत्मा अकर्ता ही है, किन्तु यह तो पर्याय में अकर्तापना हो जाने की बात है।

(६४) क्रमबद्ध है, तो फिर उपदेश क्यों ?

पर्याय तो क्रमबद्ध ही होती है, तो फिर शास्त्र में इतना अधिक उपदेश क्यों दिया है ?—ऐसा कोई पूछे, तो कहते हैं कि भाई ! उस सब उपदेश का तात्पर्य तो ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कराना है। उपदेश की वाणी तो वाणी के कारण क्रमबद्ध निकलती है। इससमय ऐसी ही भाषा निकालकर मैं दूसरों को समझा दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि ज्ञानी के नहीं है।

(६५) वस्तुस्वरूप का एक ही नियम

सर्व द्रव्य अपने–अपने परिणाम के कर्ता हैं, किसी अन्य का हस्तक्षेप उसमें नहीं है। "ऐसा निमित्त आये तो ऐसा हो सकता है और दूसरा निमित्त आये तो वैसा हो जायेगा"—ऐसा वस्तुस्वरूप में

नहीं है। वस्तुस्वरूप का एक ही नियम है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही अपनी पर्याय का कर्ता है, और दूसरे से वह निरपेक्ष है। वस्तु स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होती है—ऐसा न मानकर, दूसरा उसमें फेरफार कर सकता है—ऐसा जो मानता है उसे पर में फेरफार करने की बुद्धि रहती है, इसलिये पर की ओर से हटकर वह अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर उन्मुख नही होता, इसलिये उसे ज्ञातापना नहीं होता—अकर्तापना नहीं होता और कर्तृत्वबुद्धि नहीं छूटती यहाँ "प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं है"—इस नियम के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्व समझाकर कर्ताबुद्धि को छुड़ाते हैं।

(६६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि प्रगट किये बिना, क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहे वह महान स्वच्छन्दी है

इस क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर कोई स्वच्छन्द से ऐसा बचाव करे कि "हमें क्रोध होना था वह क्रमबद्ध हो गया, उसमें हम क्या करें ?" तो उससे कहते हैं कि अरे मूढ़ जीव ! अभी तुझे आत्मा के ज्ञायकपने की प्रतीति नहीं हुई तो तू क्रमबद्धपर्याय की बात कहाँ से लाया ! ज्ञायकस्वभाव के निर्णय से ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। तेरी दृष्टि ज्ञायक पर है या क्रोध पर ? यदि ज्ञायक पर दृष्टि हो तो फिर ज्ञायक में क्रोध होना कहाँ से आया ? अपने ज्ञायकभाव का निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, फिर तुझे क्रमबद्धपर्याय की खबर पड़ेगी। ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ज्ञायक को ज्ञान का ज्ञेय बनाना—उसीकी इसमें मुख्यता है, राग को ज्ञेय करने की मुख्यता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया वहाँ ज्ञान की ही अधिकता रहती है—क्रोधादि की अधिकता कभी भी नहीं होती, इसलिये ज्ञाता को अनन्तानुबंधी क्रोधादि होते ही

नहीं; और उसीको क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति हुई है।

क्रोध के समय जिसे ज्ञानस्वरूप का तो भास नहीं होता उसे क्रोध की ही रुचि है, और क्रमबद्धपर्याय को ओट लेकर बचाव करना चाहता है वह तो महान स्वच्छंदी है। क्रमबद्धपर्याय में ज्ञायकभाव का परिणमन भासित न होकर, क्रोधादिकषाय का परिणमन भासित होता है यही उसकी विपरीतता है। भाई रे! यह मार्ग तो छूटकारे का है या बंधन का? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके छुटकारे की बात है; इस बात का यथार्थ निर्णय होने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो छुटकारे का मार्ग है उसके बहाने स्वच्छन्द का पोषण करता है उस जीव को छुटकारे का अवसर कब आयेगा!!

(६७) अजर प्याला!

यह तो अजर-अमर प्याला है; इस प्याले को पचाना दुर्लभ है। पात्र होकर जिसने यह प्याला पिया और पचाया वह अजर-अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त होता है।

(६८) क्रमबद्धपर्याय में भूमिकानुसार प्रायश्चितादि का भाव होता है

"लगे हुए दोषों का प्रायश्चित करने का वर्णन तो शास्त्र में बहुत आता है; दोष हुआ वह पर्याय भी क्रमबद्ध है, तब फिर उसका प्रायश्चितादि किसलिये?"—ऐसी किसीको शंका हो तो उसका समाधान यह है कि—साधक को उस-उस भूमिका में प्रायश्चितादि का वैसा विकल्प होता है उसका वहाँ ज्ञान कराया है। साधकदशा के समय क्रमबद्धपर्याय में उस प्रकार के भाव आते हैं वह बतलाया है। "हमें क्रमबद्धपर्याय में दोष होना था वह हो गया, उसका प्रायश्चित क्या करें?"—ऐसा कोई कहे तो वह मिथ्यादृष्टि

स्वच्छंदी है; साधक को ऐसा स्वच्छंद नहीं होता। साधकदशा तो परम विवेकवाली है; उसे अभी वीतरागता नहीं हुई है और स्वच्छंद भी नहीं रहा है, इसलिये दोषों के प्रायश्चितादि का शुभविकल्प आये—ऐसी ही वह भूमिका है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर भी सम्यक्त्वी को चौथे गुण-स्थान में ऐसा भाव आता है कि मैं चारित्रदशा लूं; मुनि को ऐसा भाव आता है कि लगे हुए दोषों की गुरु के निकट जाकर सरलतापूर्वक आलोचना करूँ और प्रायश्चित लूं—"कर्म तो जब खिरना होंगे तब खिरेंगे, इसलिये अपने को तप करने की क्या आवश्यकता है?"—ऐसा विकल्प मुनि को नहीं आता; किन्तु ऐसा भाव आता है कि मैं तप द्वारा निर्जरा करूँ—शुद्धता बढ़ाऊँ।—ऐसा ही उस-उस भूमिका के क्रम का स्वरूप है। "चारित्रदशा तो क्रम-बद्धपर्याय में जब आना होगी तब आ जायेगी"—ऐसा कहकर सम्यक्त्वी कभी स्वच्छंदी या प्रमादी नहीं होता; द्रव्यदृष्टि के बल में उसका पुरुषार्थ चलता ही रहता है। वास्तव में द्रव्यदृष्टिवाले को ही क्रमबद्धपर्याय यथार्थरूप से समझ में आती है। क्रम बदलता नहीं है, तथापि पुरुषार्थ की धारा नहीं टूटती—यह बात ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि बिना नहीं हो सकती। शास्त्रों में प्रायश्चित आदि का वर्णन करके मध्यम भूमिका में कैसे-कैसे भाव होते हैं—उसका ज्ञान कराया है। वास्तव में तो ज्ञाता को ज्ञान की अधिकता में उन प्रायश्चितादि का विकल्प भी ज्ञेयरूप ही है।

(६९) क्रम-अक्रम सम्बन्ध में अनेकान्त और सप्तभंगी

कोई ऐसा कहता है कि—"सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं—ऐसा कहने में तो एकान्त हो जाता है; इसलिये कुछ पर्यायें क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमबद्ध हैं—ऐसा अनेकान्त कहना चाहिये;"—तो ऐसा कहनेवाले को एकान्त अनेकान्त की खबर नहीं है। सभी पर्यायें क्रमबद्ध

ही "हैं" और अक्रमरूप "नहीं हैं"—ऐसा अनेकान्त है। अथवा क्रम-अक्रम का अनेकान्त लेना हो तो इसप्रकार है कि सर्व गुण द्रव्य में एक साथ सहभावीरूप से वर्तते है, इसलिये उस अपेक्षा से द्रव्य अक्रम-रूप ही है और पर्याय–अपेक्षा से क्रमरूप ही है,–इसप्रकार ही कथंचित् क्रमरूप और कथंचित् अक्रमरूप–ऐसा अनेकान्त है, किन्तु कुछ पर्यायें क्रमरूप और कुछ पर्यायें अक्रमरूप—ऐसा मानना तो अनेकान्त नहीं किन्तु वस्तुस्वरूप से विपरीत होने से मिथ्यात्व है।

पर्याय–अपेक्षा से तो क्रमबद्धपना ही है—यह नियम है; तथापि इसमें अनेकान्त और सप्तभंगी आ जाती है। गुणों की अपेक्षा से अक्रमपना और पर्यायों की अपेक्षा से क्रमपना—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है, वह ऊपर कहा जा चुका है। तथा वस्तु में (१) स्यात् क्रमपना, (२) स्यात् अक्रमपना, (३) स्यात् क्रम-अक्रमपना, (४) स्यात् अवक्तव्यपना, (५) स्यात् क्रम–अवक्तव्यपना, (६) स्यात् अक्रम–अवक्तपना, और (७) स्यात् क्रम–अक्रम—अवक्तव्यपना;—इसप्रकार क्रम–अक्रम सम्बन्ध में सप्तभंगी भी उतरती है; किस प्रकार ? वह कहा जाता है—

(१) पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध होती है, इसलिये पर्यायों की अपेक्षा से कहने पर वस्तु क्रमरूप है।

(२) सर्व गुण एक साथ सहभावी है, इसलिये गुणों की अपेक्षा से कहने पर वस्तु अक्रमरूप है।

(३) पर्यायें तथा गुण–इन दोनों की अपेक्षा से (एक साथ) लेकर कहने पर वस्तु क्रम–अक्रमरूप है।

(४) एक साथ दोनों नहीं कहे जा सकते उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है।

(५) वस्तु में क्रमपना और अक्रमपना दोनों एक साथ होने पर भी क्रमरूप कहते समय अक्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस

अपेक्षा से वस्तु क्रम-अवक्तव्यरूप है।

(६) इसी प्रकार अक्रमरूप कहने से क्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

(७) क्रमपना और अक्रमपना दोनों अनुक्रम से कहे जा सकते हैं किन्तु एक साथ नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

—इसप्रकार क्रम-अक्रम संबन्ध में सप्तभंगी समझना चाहिये।

(७०) अनेकान्त कहाँ और किसप्रकार लागू होता है? (सिद्ध का दृष्टान्त)

यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है वह समझे बिना कई लोग अनेकांत के या स्याद्वाद के नाम से गप्पें हाँकते हैं। जिस प्रकार अस्ति-नास्ति में वस्तु स्व-रूप से अस्तिरूप है और पर-रूप से नास्तिरूप है;—ऐसा अनेकान्त है; किन्तु वस्तु स्व-रूप से भी अस्तिरूप है और पर-रूप से भी अस्तिरूप है—ऐसा अनेकान्त नहीं है, वह तो एकान्तरूप मिथ्यात्व है। उसी प्रकार यहाँ क्रम–अक्रम में भी समझना चाहिये। पर्यायें क्रमबद्ध हैं और गुण अक्रम हैं—ऐसा अनेकान्त है, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध हैं और पर्यायें अक्रम भी हैं—ऐसा मानना वह कहीं अनेकान्त नहीं है; वह तो मिथ्यादृष्टि का एकान्त है। पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं—अक्रम नहीं है ऐसा अनेकान्त है। पर्याय में अक्रमपना तो है ही नहीं, इसलिये उसमें "कथंचित् क्रम और कथंचित् अक्रम" —ऐसा अनेकान्त लागू नहीं होता। वस्तु में जो धर्म हों उनमें सप्त-भंगी लागू होती है, किन्तु वस्तु में जो धर्म ही न हो, उनमें सप्त-भंगी लागू नहीं होती।

"सिद्धभगवन्त एकान्त सुखी ही हैं"—ऐसा कहनेपर कोई अज्ञानी पूछे कि—सिद्ध भगवान को एकान्त सुख ही क्यों कहते हो? कथंचित् सुख और कथंचित् दुःख—ऐसा अनेकान्त कहो न? उसका समाधान:—भाई! सिद्धभगवान को जो सुख प्रगट हुआ है वह

एकान्त सुख ही है, उसमें दुःख किंचित्‌मात्र है ही नहीं, इसलिये उसमें तेरा कहा हुआ सुख–दुःख का अनेकान्त लागू नहीं होता। सिद्धभगवान को शक्ति में या व्यक्ति में किसी प्रकार दुःख नहीं है इसलिये वहाँ सुख–दुःख का ऐसा अनेकान्त या सप्तभंगी लागू नहीं होती; किन्तु सिद्धभगवान को एकान्त सुख ही है और दुःख किंचित्‌ नहीं है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है। (देखो, पंचाध्यायी, गाथा ३३३–३४–३५) उसीप्रकार यहाँ पर्याय में क्रमबद्धता है और अक्रमता नहीं है—ऐसा अनेकन्त लागू होता है, किन्तु पर्याय में क्रमता भी है और अक्रमता भी है—ऐसा अनेकान्त नहीं है क्योंकि पर्याय में अक्रमता नहीं है। पर्याय से ही क्रमरूप और पर्याय से ही अक्रमरूप —ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीव का स्वरूप नहीं है, किन्तु पर्याय से क्रम-वर्तीपना और गुण से अक्रमवर्तीपना—ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीव का स्वरूप है।

(७१) ट्रेन के दृष्टान्त से शंका और उसका समाधान

शंका:—एक आदमी ट्रेन के डिब्बे में बैठा है और ट्रेन पूर्वदिशा की ओर जा रही है; वहाँ ट्रेन के चलने से उस आदमी का भी पूर्व की ओर जो गमन हो रहा है वह तो क्रमबद्ध है, किन्तु वह आदमी डिब्बे में खड़ा होकर पश्चिम की ओर चलने लगे तो उस गमन की अवस्था अक्रमरूप हुई न ?

समाधान:—अरे भाई! तुझे अभी क्रमबद्धपर्याय की खबर नहीं है। पर्याय का क्रमबद्धपना कहा जाता है वह तो ऊर्ध्वप्रवाह की अपेक्षा से (—कालप्रवाह की अपेक्षा से) है क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं है। वह आदमी पहले पूर्व में चले और फिर पश्चिम में चलने लगे तो उससे कहीं उसकी पर्याय के काल का क्रम टूट नहीं गया है। ट्रेन पूर्व में जा रही हो और डिब्बे में बैठा हुआ आदमी पश्चिम की ओर चलने लगे, तो उससे कहीं उसकी वह पर्याय अक्रमरूप नहीं

हुई है। अरे! ट्रेन पूर्व में जा रही हो और सारी ट्रेन पीछे पश्चिम की ओर चलने लगे तो वह भी क्रमबद्ध ही है। पर्यायों का क्रमबद्ध-पना द्रव्य के ऊर्ध्वप्रवाहक्रम की अपेक्षा से है। यह क्रमबद्धपर्याय की बात अनेक जीवों ने तो अभीतक सुनी ही नहीं है। क्रमबद्धपना क्या है और किस प्रकार है, तथा उसका निर्णय करनेवाले का ध्येय कहाँ जाता है—वह बात लक्ष में लेकर समझे ही नही तो उसकी प्रतीति कहाँ से हो? वस्तु में अनंत गुण हैं, वे सब एकसाथ—बिछे हुए—तिर्यक्‌प्रचयरूप हैं इसलिये वे अक्रमरूप हैं, और पर्यायें एक के बाद एक—व्यतिरेकरूप—ऊर्ध्वप्रचयरूप हैं इसलिये वे क्रमरूप है।

(७२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन है?

देखो, क्रमबद्धपर्याय तो जीव और अजीव सभी द्रव्यों में है; किन्तु यह बात कहीं अजीव को नही समझाते; यह तो जीव को समझाते हैं, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है। ज्ञाता को अपने ज्ञायकस्वभाव का भान होने पर वह क्रमबद्धपर्याय का भी ज्ञाता हो जाता है।

(७३) भाषा का उत्पादक जीव नही है

पाँचों अजीव द्रव्य भी अपने-अपने गुणों से अपने क्रमबद्ध नियमित परिणामरूप से उत्पन्न होते हुए अजीव ही हैं—जीव नहीं हैं। अजीव द्रव्य—उनमें प्रत्येक परमाणु भी—अन्य कारकों की अपेक्षा न रखकर स्वयं अपने छह कारकरूप होकर अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते हैं; वे भी किसी अन्य के कर्ता नहीं हैं, और दूसरे का कार्य बनकर उसे अपना कर्ता बनायें ऐसा भी नहीं है। भाषा बोली जाती है वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है और उस पर्यायरूप से अजीवद्रव्य उत्पन्न होता है, जीव उसे उत्पन्न नहीं करता।

प्रश्न :— केवलीभगवान की वाणी तो इच्छा के बिना ही सहज-रूप से निकलती है इसलिये वह क्रमबद्धपर्याय है और उसे जीव

उत्पन्न नहीं करता—ऐसा भले ही कहो, किंतु छद्मस्थ की वाणी तो इच्छापूर्वक है इसलिये छद्मस्थ तो अपनी इच्छानुसार भाषा को परिणमित करता है न?

उत्तरः— भाई! ऐसा नहीं है। केवलीभगवान के या छद्मस्थ के जो वाणी निकलती है वह तो अजीव के अपने वैसे क्रमबद्धपरिणामों से ही निकलती है, जीव के कारण नहीं। छद्मस्थ को उस काल इच्छा होती है, किन्तु उस इच्छा ने वाणी को उत्पन्न नहीं किया है। और इच्छा है वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है, ज्ञान की अधिकता में धर्मी जीव उस इच्छा का भी ज्ञायक ही है।

(७४) ज्ञायक को ही जानने की मुख्यता

वास्तव में तो, इच्छा को जानना भी व्यवहार है। ज्ञान को अन्तरोन्मुखकर के ज्ञायक को जानना वह परमार्थ है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में राग को जानने की मुख्यता नहीं है किन्तु ज्ञायक को जानने की मुख्यता है। ज्ञान में ज्ञायक की मुख्यता हुई तब राग को उसका व्यवहार-ज्ञेय कहा; ज्ञाता जागृत हुआ तब राग को रागरूप से जाना और तभी राग को व्यवहार कहा गया। इस प्रकार निश्चय-पूर्वक ही व्यवहार होता है, क्योंकि ज्ञान और राग दोनों एकसाथ उत्पन्न होते हैं; धर्म शुरू होने में पहले रागरूप व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नहीं है। यदि राग को अर्थात् व्यवहार को पहले कहो तो ज्ञान के बिना (निश्चय के बिना) उस व्यवहार को जाना किसने? व्यवहार स्वयं तो अंधा है, उसे कहीं स्व-पर की खबर नहीं है राग और भेदरूप व्यवहार का पक्ष छोड़कर निश्चय का अवलम्बन करके स्व-परप्रकाशक ज्ञाता जागृत हुआ वही, ज्ञायक को जानते हुए राग को भी व्यवहार-ज्ञेयरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ हैं; पहले व्यवहार और

फिर निश्चय—ऐसा माने, अर्थात् राग के अवलम्बन से ज्ञान होना माने, तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

(७५) "इष्टोपदेश" की बात :- कौन-सा उपदेश इष्ट है ?

द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से उसमें समय-समय की क्षणिक योग्यता की बात भी आ गई।

कोई कहे कि—"योग्यता की बात तो 'इष्टोपदेश' में आई है, इसमें कहाँ आई ?" उसका उत्तर :— यह भी इष्ट-उपदेश की ही बात है। इष्ट उपदेश अर्थात् हितकारी उपदेश। जिसे समझने से आत्मा का हित हो—ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यह "योग्यता" कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतंत्रता बतलाई जा रही है वही उपदेश इष्ट है; इसके सिवा पर के कारण कुछ-होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है—प्रिय नहीं है। समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है; किन्तु पर्याय में फेरफार आगा-पीछा होना बतलाकर जो कर्ताबुद्धि का पोषण करे वह उपदेश इष्ट नहीं है अर्थात् सच्चा नही है, हितकारी नहीं है। "जो आत्मा को हितमार्ग में प्रवर्तन कराये वह गुरु है; वास्तव में आत्मा स्वयं ही अपनी योग्यता से अपने आत्मा को हितमार्ग में प्रवर्तित करता है इसलिये वह स्वंय ही अपना गुरु है। निमित्तरूप से अन्य ज्ञानी गुरु होते हैं, किन्तु उस निमित्त के कारण इस आत्मा में कुछ हो जाये—ऐसा नहीं हो सकता।" देखो, यह इष्ट उपदेश! इस प्रकार उपदेश हो तभी वह इष्ट है—हितकारी है—सत्य है, इससे विरुद्ध उपदेश हो तो वह इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है—सत्य नहीं है।

(७६) आत्मा का ज्ञायकत्व और पदार्थों के परिणमन में क्रमबद्धता

आत्मा ज्ञायक है, ज्ञातापना उसका स्वरूप है। जिसप्रकार केवली-

भगवान जगत के सर्व द्रव्य–गुण–पर्याय के ज्ञाता है, उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता है। ज्ञान ने जाना इसलिये पदार्थों में वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा नहीं है, और पदार्थ वैसे हैं इसलिये उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और पदार्थों का क्रमबद्धपरिणमनस्वभाव है। "ऐसा क्यों ?"—ऐसा विकल्प ज्ञान में नहीं है और पदार्थों के स्वभाव में भी ऐसा नहीं है। "ऐसा क्यों ?"—ऐसा विकल्प करके जो पदार्थ को बदलना चाहता है उसने ज्ञान के स्वभाव को नहीं जाना है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से साधकभाव ज्ञाता हो जाता है; "ऐसा क्यों ?"—ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प उसे नहीं होता।

(७७) ऐसी है साधकदशा !—एक साथ दस बोल

ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वह—

—क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, (१)
—उसके ज्ञान में सर्वज्ञ की सिद्धि आई, (२)
—उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, (३)
—उसे मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ, (४)
—उसे अकर्तृत्व हुआ, (५)
—उसने सर्व जैनशासन को जान लिया, (६)
—उसने देव–गुरु–शास्त्र को यथार्थरूप से पहिचान लिया, (७)
—उसके निश्चय–व्यवहार दोनों एकसाथ आये, (८)
—उसकी पर्याय में पाँचों समवाय आ गये, (९)
—"योग्यता ही वास्तविक कारण है" उसका उसे निर्णय हुआ इसलिये इष्ट-उपदेश भी उस में आ गया। (१०)

(७८) यह लोकोत्तरदृष्टि की बात है, जो इससे विपरीत माने वह लौकिक-जन है

अहो, यह अलौकिक लोकोत्तर बात है। एक ओर ज्ञायकस्व-

भाव और सामने क्रमबद्धपर्याय—उसका निर्णय करना वह लोकोत्तर है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों का पर्याय क्रमबद्ध है—ऐसा न मानकर जो कुछ भी फेरफार करना मानता है वह लौकिकजन है, लोकोत्तर जैनदृष्टि उसे नहीं रहती। अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख दृष्टि रखकर आत्मा क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है और पदार्थों की क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायों को जानता है—ऐसा जो लोकोत्तर-स्वभाव है, उसे जो नहीं मानता वह भले ही जैनसम्प्रदाय में रहता हो, तथापि भगवान उसे अन्यमती—लौकिकमती—अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। "लौकिकमती" कहने से कई लोगों को यह बात कठिन मालूम होती है? किन्तु भाई! समयसार में आचार्यभगवान स्वयं कहते हैं कि—"ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादि-कार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धान्तस्य सम-त्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।" (गाथा ३२२-२३ टीका)

—जो आत्मा को कर्ता ही देखते हैं—मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नहीं करते, क्योंकि लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देव-नारकादि कार्य करते हैं, और उनके (—लोक से बाह्य हो जानेवाले मुनियों के) मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है—ऐसे अपसिद्धान्त की (मिथ्यासिद्धान्त की) दोनों के समानता है। इसलिये आत्मा के नित्यकर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों का (मुनियों का) भी मोक्ष नहीं होता।

उसके भावार्थ में पं. जयचन्दजी भी लिखते हैं कि—

"जो आत्मा को कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हों तो भी लौकिक-जन सरीखे ही हैं; क्योंकि लोक ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनियों ने भी आत्मा को कर्ता मान लिया, इस तरह इन दोनों का

मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिकजनों के मोक्ष नहीं है उसी तरह उन मुनियों के भी मोक्ष नहीं है।"

देखो, इससें मूल सिद्धान्त है। दिगम्बर जैनसम्प्रदाय का द्रव्य-लिंगी साधु होकर भी, यदि "आत्मा पर का कर्ता है"—ऐसा माने, तो वह भी लौकिकजनों की भांति मिथ्यादृष्टि ही है। अब, आत्मा पर का कर्ता है—ऐसा शायद सीधी तरह न कहे, किन्तु—

— निमित्त हो तदनुसार कार्य होता है ऐसा माने, अथवा हम निमित्त होकर पर का कार्य कर दें–ऐसा माने,

— अथवा राग के—व्यवहार के—अवलम्बन से निश्चयश्रद्धा–ज्ञान होना माने,—शुभरागरूप व्यवहार करते करते निश्चयश्रद्धादि होना मानें,

— मोक्षमार्ग में पहले व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा मानें,

— अथवा राग के कारण ज्ञान हुआ, अर्थात् राग कर्ता और ज्ञान उसका कार्य—ऐसा मानें,

तो वे सब भी वास्तव में लौकिकजन ही हैं, क्योंकि उनके लौकिकदृष्टि दूर नहीं हुई है। लौकिकदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि।

"ज्ञायक" के सन्मुख दृष्टि करके क्रमबद्धपर्याय को जाननेवाले सम्यक्त्वी लोकोत्तर दृष्टिवान हैं, और उनसे विरुद्ध माननेवाले लौकिक दृष्टिवान हैं।

(७६) समझने के लिये एकाग्रता

यदि यह बात सुनकर समझे तो आनन्द आये ऐसी है, किन्तु इसे समझने के लिये ज्ञान को अन्यत्र से हटाकर कुछ एकाग्र करना चाहिये। अभी तो जिसके श्रवण में भी एकाग्रता न हो और श्रवण के समय भी चित्त अन्यत्र भटकता हो, वह अन्तर में एकाग्र होकर यह बात समझेगा कब ?

(८०) भीतर दृष्टि करने से सारा निर्णय होता है

प्रश्न :— आप तो बहुत से पक्ष (–पहलू) समझाते हैं, किन्तु हमारी बुद्धि अल्प है, उसमें क्या–क्या समझें ?

उत्तर :— अरे भाई ! जो समझना चाहे उसे यह सब समझ में आ सकता है। दृष्टि बाह्य मे डाली है, उसे बदलकर अंतर मे दृष्टि करते ही यह सभी पक्ष समझ में आ सकते हैं। समझनेवाला स्वयं भीतर बैठा है या कहीं अन्यत्र गया है ? अन्तर में शक्तिरूप से परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव विद्यमान है; उसमें दृष्टि करे इतनी देर है। "मेरे नैनों की आलस से रे...मैं हरि को न नीरख्यो जरी..." इस प्रकार दृष्टि डालते ही निहाल कर दे ऐसा भगवान आत्मा भीतर बैठा है, किन्तु नयनों के आलस्य से अज्ञानी उसे नहीं देखता। अंतर्मुख दृष्टि करते ही इन सब पक्षों का निर्णय हो जाता है।

(८१) ज्ञाता स्व–पर को जानता हुआ उत्पन्न होता है

ज्ञाताभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भी जानता है, स्व–पर दोनों को जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु स्व–पर दोनों को करता हुआ उत्पन्न नहीं होता। कर्ता तो एक स्व का ही है, और स्व में भी वास्तव में ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्याय को ही करता है, राग का कर्तृत्व धर्मी की दृष्टि में नहीं है।

ज्ञान उत्पन्न होता हुआ स्व को और राग को भी जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु "राग को करता हुआ" उत्पन्न होता है—ऐसा नहीं है। ज्ञान उत्पन्न होता है और स्वयं अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना और जानना दोनों क्रियायें एकसाथ हैं; ज्ञान में वे दोनों क्रियायें एकसाथ होने में कोई विरोध नहीं है। "आत्मा स्वयं अपने को किस प्रकार जानता है—इस सम्बन्ध में प्रवचनसार की ३६वीं गाथा में आचार्यदेव ने शंका–समाधान किया

है। एक पर्याय में से दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होने में विरोध है, किन्तु ज्ञानपर्याय स्वयं उत्पन्न हो और उसी समय वह स्व को जाने—ऐसी दोनों क्रियायें एकसाथ होने में कोई विरोध नही है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर को प्रकाशित करने का है। ज्ञान स्वयं अपने को नही जानता—ऐसा जाननेवाले ने वास्तव में ज्ञान को ही नहीं माना है। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी स्वयं अपने को जानता हुआ क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है। यह बात बराबर समझने योग्य है।

(८२) लोकोत्तरदृष्टि की बात समझने के लिये ज्ञान की एकाग्रता

कालेज के बड़े–बडे प्रोफेसरों के भाषण की अपेक्षा भी यह तो अलग प्रकार की बात है; वहाँ तो समझने के लिये ध्यान रखता है, तथापि जितना पूर्व का विकास हो तदनुसार ही समझ में आता है; और समझने पर भी उसमें आत्मा का कल्याण तो होता नही है। और यह तो लोकोत्तर दृष्टि की बात है, इसमे ध्यान रखकर समझने के लिये ज्ञान को एकाग्र करे तो वर्तमान में भी नया–नया विकास होता जाये और अंतर में एकाग्र होकर समझे उसका तो अपूर्व कल्याण हो जाये।

(८३)सम्यक्त्वी जीव निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप में ही उत्पन्न होता है

जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होने से, उसके अनत गुण एकसाथ परिणमित होते हैं; ज्ञायकस्वभाव की ओर झुकाव हुआ वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्रादि सर्व गुणों के परिणमन में निर्मलता के अंश का प्रारंभ हो जाता है, फिर भले ही उसमें अल्प-अधिक अंश व्यक्त हो। चौथे गुणस्थान में क्षायिक श्रद्धा हो जाये तथापि ज्ञान–चारित्र पूरे नहीं हो जाते, किन्तु उनका अंश तो प्रगट हो जाता है। इसप्रकार सम्यक्त्वी को निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न होने की ही मुख्यता है; अस्थिरता के जो रागादिभाव होते हैं वे उसकी

दृष्टि में गौण है, अभूतार्थ है। ज्ञायकभाव पर दृष्टि रखकर सम्यक्त्वी निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होता है—रागादिरूप से वह वास्तव में उत्पन्न ही नहीं होता।

(८४) क्रमबद्धपरिणाम में छह–छह कारक

आचार्यदेव कहते हैं कि "जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है;" उसमें छहों कारक लागू होते हैं वह इसप्रकार है:—

१ — जीव स्वयं अपनी पर्याय के कर्तारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्ता नही है।

२ — जीव स्वय अपने कर्मरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्म नही है।

३ — जीव स्वयं अपने करणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का करण नही है।

४ — जीव स्वयं अपने सम्प्रदानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का सम्प्रदान नहीं है।

५ — जीव स्वयं अपने अपादानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अपादान नहीं है।

६ — जीव स्वयं अपने अधिकरणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अधिकरण नहीं है।

और इसीप्रकार अन्य छह कारक भी निम्नानुसार समझना चाहिये :—

१ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्ता नहीं बनाता।

२ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्म नहीं बनाता।

३ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना करण नहीं बनाता।

४ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना सम्प्रदान नहीं बनाता।

५ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अपादान नहीं बनाता।

६ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अधिकरण नही बनाता।

उसी प्रकार, अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहो है।—उसमें भी उपरोक्तानुसार छह–छह कारक समझ लेना चाहिये।

—इसप्रकार, जीव–अजीव को परस्पर अकार्यकारणपना है।

(८५)—यह बात किसे जमती है ?

देखो यह भेदज्ञान! ऐसी स्पष्ट बात होने पर भी, इस बात को "छून की बीमारी, एकान्त" इत्यादि कहकर कितने ही विरोध करते हैं; क्योंकि अपनी मानी हुई विपरीत बात का आग्रह उनके नही छूटता। अरे! विपरीत मान्यता को सत्य मान बैठे हैं तो उसे कैसे छोड़ें? प. टोडरमलजी भी मोक्षमार्गप्रकाशक मे कहते हैं कि—अन्यथा श्रद्धा को सत्य श्रद्धा माननेवाला जीव उसके नाश का उपाय भी किसलिये करेगा? यह बात तो उसे जम सकती है जिसे मान और आग्रह छोड़कर आत्मा का हित करना हो।

(८६) "करे तथापि अकर्ता"—ऐसा नही है

यहाँ जो बात कही जा रही है उसपर से कुछ लोग समझे बिना ऐसा कहते हैं कि—"ज्ञानी पर के कार्य करता अवश्य है, किन्तु वह अकर्ता है।" किन्तु यह बात मिथ्या है। "अकर्ता" और फिर "करता है"—यह बात लाया कहाँ से? यहाँ तो ऐसा कहा जाता है कि—ज्ञानी या अज्ञानी कोई पर का कर्ता नहीं है, पर का कार्य कोई कर ही नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप

से उत्पन्न होता है; उसमें किसी अन्य का कर्तापना है ही नहीं। कर्तृत्व देखनेवाला अपने ज्ञानस्वभाव से भ्रष्ट होकर देखता है इसलिये उल्टा देखता है; यदि ज्ञायक रहकर देखे तो कर्तापना न माने। वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है, अज्ञानी विपरीत माने उससे कहीं वस्तुस्वरूप अन्यथा नहीं हो जाता।

(८७) यदि कुम्हार घड़ा बनाये तो...

जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते हैं। अजीव में से प्रत्येक परमाणु भी अपनी क्रमबद्ध अवस्थारूप से स्वयं उत्पन्न होता है, उसकी वर्ण-गन्धादिरूप अर्थ-पर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है, और घड़ा आदि के आकाररूपव्यंजन-पर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है। मिट्टी घड़ेरूप उत्पन्न हुई वहां उसकी व्यंजनपर्याय (आकृति) कुम्हार ने की—ऐसा नहीं है। घड़ेरूप से मिट्टी स्वयं उत्पन्न हुई है और मिट्टी ही उसमें व्याप्त है, कुम्हार व्याप्त नहीं है, इसलिये कुम्हार उसका कर्ता नहीं है। "निमित्त बिना नहीं होता"—इस बात का यहाँ काम नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामों के साथ तद्रूप—तन्मय है। जीव यदि अजीव की अवस्था को करे (जैसे कि—कुम्हार घड़ा बनाये) तो अजीव की अवस्था के साथ तद्रूपता होने से वह स्वयं भी अजीव हो जायेगा! यदि निमित्त के अनुसार कार्य होता हो तो अजीव के निमित्त से आत्मा भी अजीव हो जायेगा—इत्यादि अनेक दोष आ पड़ेंगे।

(८८) "योग्यता" कब मानी कहलाती है?

प्रश्नः—एक प्याले में पानी भरा है, पास में अनेक प्रकार के लाल, हरे आदि रंग रखे हैं; उनमें से जैसा रंग लेकर पानी में डालेंगे वैसा ही पानी का रंग हो जायेगा। उस पानी में योग्यता तो सर्वप्रकार की है, किन्तु जिस रंग का निमित्त देंगे उसी रंग का वह हो जायेगा। इसलिये निमित्तानुसार ही कार्य होता है! भले ही उसकी योग्यता से होता है किन्तु जैसा निमित्त आता है वैसा होता है।

उत्तर:—अरे भाई! तेरी सब बात उल्टी है। योग्यता कहना, और फिर निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा कहना, यह बात विरुद्ध है। निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा माननेवाले ने "योग्यता" को माना ही नहीं अर्थात् वस्तु के स्वभाव को ही नहीं माना। पानी के परमाणुओं में जिस समय जैसी हरे या लाल रंगरूप होने की योग्यता है, उसी रंगरूप वे परमाणु स्वयं उत्पन्न होते हैं, दूसरा कोई निमित्त उसमें रंग ला सके या फेरफार कर सके—ऐसा नहीं है। अहो....? रंग के परमाणु पृथक् और पानी के परमाणु भी पृथक्; इसलिये रंग का निमित्त आने से पानी के परमाणुओं का रंग बदला ऐसा भी नहीं है; परन्तु पानी के परमाणु ही स्वयं अपनी वैसी रंग–अवस्थारूप से परिणमित हुए हैं।

आटे के परमाणुओं में से रोटी की अवस्था होशियार स्त्री ने की है—ऐसा नहीं है, किन्तु स्वयं वे परमाणु ही उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुए हैं।—यह बात भी ऊपर के दृष्टांत अनुसार समझ लेना चाहिये।

स्कंध में रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से अपनी क्रमबद्ध योग्यता से परिणमित होता है; स्कंध के अन्य परमाणुओं के कारण वह स्थूलरूप परिणमित हुआ—ऐसा नहीं है, किन्तु उसीमें स्थूलरूप से परिणमित होने की स्वतंत्र योग्यता हुई है। देखो, एक परमाणु पृथक् हो तब उसमें स्थूल परिणमन नहीं होता, किन्तु उसके स्कंध में मिलता है तब उसमें स्थूल परिणमन होता है, तो उसके परिणमन में इतना फेरफार हुआ या नहीं?—हाँ, फेरफार तो हुआ है, किन्तु वह किसके कारण?— तो कहते हैं कि अपनी ही क्रमबद्ध-पर्याय के कारण, पर के कारण नहीं। एक पृथक् परमाणु स्थूल स्कंध में मिला, वहाँ वह जैसा पृथक् था वैसा ही स्कंध में नहीं रहा किन्तु सूक्ष्म में से स्थूलस्वभावरूप से उसका परिणमन हुआ है।

उसमें सर्वथा फेरफार नहीं हुआ—ऐसा भी नहीं है, और पर के कारण फेरफार हुआ—ऐसा भी नहीं है। उसकी अपनी योग्यता से ही उसमें फेरफार अर्थात् सूक्ष्मता में से स्थूलतारूप परिणमन हुआ है। जिस प्रकार एक पृथक् परमाणु में स्थूलतारूप परिणमन नहीं होता, उसी प्रकार स्थूल स्कंध में भी यदि उसका स्थूल परिणमन न होता हो तो यह शरीरादि नोकर्म इत्यादि कुछ सिद्ध ही नहीं होंगे। पृथक् परमाणु स्थूल स्कंध में मिलने से उसमें स्थूलतारूप परिणमन तो होता है, किन्तु वह पर के कारण नहीं होता, उसकी अपनी योग्यता से होता है।

(८९) क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले को "अभाग्य" होता ही नहीं

"अभाग्य से कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का निमित्त बन जाये तो उल्टा अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है"—ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है, किन्तु वहाँ भी वैसे निमित्तों के सेवन का विपरीत भाव कौन करता है? वास्तव में तो अपना जो विपरीत भाव है वही अभाग्य है। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की ओर झुककर जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया उसके ऐसा अभाग्य होता ही नहीं—अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन उसके होता ही नहीं।

आत्मा ज्ञायक है और वस्तु की पर्याय क्रमबद्धरूप से स्वयं होती है—ऐसे वस्तुस्वरूप को जो नहीं जानता उसका ज्ञान सच्चा नहीं होता, और सच्चे ज्ञान बिना निर्मलपर्याय अर्थात् शांति या धर्म नहीं होता।

(९०) स्वाधीनदृष्टि से देखनेवाला—ज्ञाता

आइस (बर्फ) डालने से पानी की ठण्डी अवस्था हुई—ऐसा नहीं है; पानी में शक्कर डाली इसलिये उस शक्कर के कारण पानी के परमाणुओं में मीठी अवस्था हुई—ऐसा नहीं है; वे परमाणु स्वाधीनरूप से वैसी अवस्थारूप परिणमित हुए हैं। अपने आत्मा को स्वाधीनदृष्टि से ज्ञायकभाव से परिणमित देखनेवाला जगत के समस्त पदार्थों

को भी स्वाधीन परिणमित देखता है; इसलिये वह ज्ञाता ही है, अकर्ता ही है। आत्मा तो अजीव के कार्य को नहीं करता, किन्तु एक स्कंध में रहनेवाले अनेक परमाणुओं में भी एक परमाणु दूसरे परमाणु का कार्य नहीं करता।—ऐसी स्वतंत्रता है।

(९१) संस्कार की सार्थकता, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता

प्रश्नः—प्रवचनसार के ४७ नयों में तो कहा है कि अस्वभावनय से आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है; जिसप्रकार लोहे के तीर में संस्कार डालकर लुहार नई नोक निकालता है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में नये संस्कार पड़ते हैं;—ऐसा है तो फिर पर्याय की क्रमबद्धता का नियम कहाँ रहा ?

उत्तरः—पर्याय निरंतर नई नई होती है, आत्मा अपनी पर्याय में जैसे संस्कार डालते हैं वैसी पर्याय होती है। अनादि से पर्याय में मिथ्याश्रद्धा–ज्ञान थे, उनके बदले अब ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से वे मिथ्याश्रद्धा—ज्ञान दूर होकर, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के अपूर्व संस्कार पड़े, इसलिये पर्याय में नये संस्कार कहे। तथापि वहाँ क्रमबद्धपर्याय का नियम नहीं टूटा है। क्या सर्वज्ञभगवान ने वैसा नहीं देखा था और हो गया ? अथवा क्या क्रमबद्धपर्याय में वैसा नहीं था और हो गया ?—ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा निर्मलपर्यायरूप उत्पन्न हुआ वहाँ, केवलीभगवान ने क्रमबद्धपर्याय में जो निर्मलपर्याय होना देखा था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को पर्याय में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन के अपूर्व नये संस्कार पड़े बिना नहीं रहते, और क्रमबद्धपर्याय का क्रम भी नहीं टूटता। —ऐसा मेल ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना समझ में नहीं आयेगा।

(९२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ?

जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और क्रमबद्धपर्याय में

आगा-पीछा करना मानता है उसे जीव-अजीव द्रव्यों की खबर नहीं है इसलिये मिथ्याज्ञान है। जो पर का कर्तृत्व मानता है उसे तो अभी पर से भिन्नत्व का भी भान नहीं है; पर से भिन्नत्व को जाने बिना अन्तर में ज्ञान और राग की भिन्नता उसके ख्याल में नहीं आ सकेगी। यहाँ तो ऐसी बात है कि जो अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढला वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, राग को भी वह ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप जानता है। ऐसा ज्ञाता रागादि का अकर्ता ही है।

* चौथा प्रवचन *

[आश्विन कृष्णा ३०, वीर सं. २४८०]

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अबद्ध स्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवीं गाथा में कहा है; और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है" -ऐसा कहा जाता है;—इन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तर्मुख करके जहाँ ज्ञा...य...क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्ध-परिणमन होने लगा, वही जैनशासन है।

(९३) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सात तत्त्वों की श्रद्धा

जीव और अजीव दोनों की अवस्था उस-उस काल क्रमबद्ध स्वतंत्र होती है, उन्हें एक-दूसरे के साथ कार्यकारणपना नहीं है। जीव का ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।—ऐसी प्रतीति में सातों तत्त्वों की श्रद्धा भी आ जाती है इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन इसमें आ जाता है। सातों तत्त्वों की श्रद्धा किस प्रकार आती है वह कहते हैं:—

(१–२) अपने ज्ञानादि अनंत गुणों को ज्ञेय बनाकर क्रमबद्ध ज्ञाता–दृष्टा परिणामरूप से मैं उत्पन्न होता हूँ और उसमें मै तन्मय हूँ ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में जीवतत्त्व की प्रतीति आ गई; ज्ञाता–दृष्टारूप से उत्पन्न होता हुआ मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ,—इस प्रकार अजीव से भिन्नत्व का–कर्म के अभाव आदि का—ज्ञान भी आ गया, इसलिये अजीवतत्त्व की प्रतीति हो गई।

(३–४–५–६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से श्रद्धा–ज्ञान निर्मल हुए हैं, चारित्र में भी अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अभी साधक-दशा होने से अमुक रागादि भी होते हैं। वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का जितना निर्मल परिणमन है उतने ही संवर–निर्जरा है, और जितने रागादि होते हैं उतने ही अंश में आस्रव–बंध है। साधक को उस शुद्धता और अशुद्धता दोनों का ज्ञान रहता है इसलिये उसे आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा तत्त्वों की प्रतीति भी आ गई।

(७) पर का अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभाव मे एकाग्र होने से क्रमबद्धपर्याय मे अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अब इसी क्रम से ज्ञायकस्वभाव म पूर्ण एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञाता–दृष्टापना (केवल-ज्ञान) प्रगट हो जायेगा और मोक्षदशा हो जायेगी;—ऐसी श्रद्धा होने से मोक्षतत्त्व की प्रतीति भी उसमें आ गई।

इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करने से उसमे "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" भी आ जाता है।

(९४) सदोष आहार छोड़ने का उपदेश और क्रमबद्धपर्याय—उसका मेल

प्रश्नः—यदि पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, आहार भी जो आना हो वही आता है, तो फिर—"मुनियों को सदोष आहार छोड़कर निर्दोष आहार लेना चाहिये"—ऐसा उपदेश किसलिये?

उत्तरः—वहाँ ऐसी पहचान कराई है कि जहाँ मुनिदशा हुई हो वहाँ इस प्रकार का सदोष आहार लेने का भाव होता ही नहीं;

उस भूमिका का क्रम ही ऐसा है कि वहाँ सदोष आहार लेने की वृत्ति ही नहीं होती। ऐसा आहार लेना चाहिए और ऐसा छोड़ना चाहिए—यह तो निमित्त का कथन है। किन्तु कोई ऐसा कहे कि—"भले ही सदोष आहार आना होगा तो सदोष आयेगा, किन्तु हमें उसके ग्रहण की वृत्ति नहीं है"—तो वह स्वच्छन्दी है, उसकी दृष्टि तो आहार पर है, ज्ञायक पर उसकी दृष्टि नहीं है। मुनियों के तो ज्ञान मे इतनी अधिक सरलता हो गई है कि—"यह आहार मेरे लिये बनाया होगा!" इतनी वृत्ति उठे तो भी (–फिर भले ही वह आहार उनके लिये किया हुआ न हो और निर्दोष हो तो भी–) वह आहार लेने की वृत्ति छोड़ देते है। और कदाचित् उद्देशिक (–मुनि के लिये बनाया हुआ) आहार हो, किन्तु यदि स्वयं को शंका की वृत्ति न उठे और वह आहार ले ले तो भी मुनि को वहाँ कुछ भी दोष नहीं लगता। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले का जोर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर जाता है, पुरुषार्थ का जोर ज्ञायकस्वभाव की ओर ढले बिना क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो ही नहीं सकता।

(९५) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में जैनशासन

देखो, अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक इस क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय किया वहाँ अपनी क्रमवद्धपर्याय में ज्ञातापने की ही अधिकता हुई, और राग का भी ज्ञाता ही रहा। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमे जैनशासन आ जाता है। जो अबद्ध स्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पंद्रहवीं गाथा मे कहा, और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है"—ऐसा कहा जाता है; उन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा....य....क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान के साथ

चारित्र, आनंद, वीर्यादि का भी शुद्ध परिणमन होने लगा, यही जैन-शासन है; फिर वहाँ साधकदशा में चारित्र की अस्थिरता का राग और कर्म का निमित्तादि कैसे होते हैं वह भी स्व–परप्रकाशक ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो जाता है।

जिस जीव में या अजीव में, जिस समय जिस पर्याय की योग्यता का काल है उस समय उस पर्यायरूप से वह स्वयं परिणमित होता है, किसी अन्य निमित्त के कारण वह पर्याय नहीं होती। ऐसे वस्तु-स्वभाव का निर्णय करनेवाला जीव अपने ज्ञायकभाव का आश्रय करके ज्ञाता–दृष्टाभावरूप से ही उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव के आश्रय से उत्पन्न नहीं होता। साधक होने से भले ही अधूरी दशा है, तथापि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय की मुख्यता से ज्ञायकरूप ही उत्पन्न होता है, रागादि की मुख्यतारूप उत्पन्न नही होता। जिसने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया वही वास्तव में सर्वज्ञ को जानता है, वही जैनशासन को जानता है, वही उपादान–निमित्त और निश्चय–व्यवहार को यथार्थरूप से पहिचानता है। जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है उसे वह कुछ भी यथार्थ —सच्चा नहीं होता।

(९६) आचार्यदेव के अलौकिक मंत्र

अहो! यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के और अमृतचन्द्राचार्यदेव के अलौकिक मन्त्र हैं। जिसे आत्मा की परिपूर्ण ज्ञानशक्ति का विश्वास आ जाये उसीको यह क्रमबद्धपर्याय समझ में आ सकती है। समयसार में आचार्यदेव ने जगह–जगह यह बात रखी है—

मंगलाचरण में ही सबसे पहले कलश में शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए कहा था कि—"सर्वभावांतरच्छिदे" अर्थात् शुद्धात्मा अपने से अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्रकाल सम्बन्धी सर्व विशेषणों सहित, एक ही समय में जाननेवाला है। यहाँ सर्व क्षेत्र-

काल संबन्धी जानना कहा उसमें क्रमबद्धपर्याय होना आ ही गया। ("स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपनी अनुभवनक्रिया से प्रकाशित होता है—ऐसा कहकर उसमें स्व-परप्रकाशकपना भी बतलाया है।)

फिर दूसरी गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि—"क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायें अंगीकार की है।"—उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात आगई।

तत्पश्चात् "अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करती हुई वे-वे व्यक्तियाँ......" इसप्रकार ६२वी गाथा में कहा, उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात समा गई।

तत्पश्चात् कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा ७६-७७-७८ में "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य" ऐसे कर्म की बात की, वहाँ कर्ता, जो नवीन उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके अर्थात् फेरफार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ता का प्राप्य कर्म है,—ऐसा कहा उसमें भी पर्याय का क्रमबद्धपना आ गया। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय को प्रतिसमय प्राप्त करता है—पहुँच जाता है।

तपश्चात् पुण्य-पाप अधिकार की गाथा १६० "सो सव्वणाण-दरिसी..." में कहा है कि आत्मद्रव्य स्वयं ही "ज्ञान" होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है...किन्तु अपने पुरुषार्थ के अपराध से सर्व प्रकार से सम्पूर्ण ऐसे अपने को (अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को) जाननेवाले ऐसे अपने को नही जानता इसलिये अज्ञानभाव से वर्तता है। यहाँ "विश्व को सामान्य-विशेषरूप से जानने का स्वभाव" कहने से उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात भी समा गई। जीव अपने सर्वज्ञस्वभाव को नहीं जानता इसीलिये अज्ञानी है। यदि अपने सर्वज्ञस्वभाव को जाने तो उसमें क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाये और अज्ञान न रहे।

आस्रव अधिकार में गाथा १६६ में "स्वयं ज्ञानस्वभाववाला होकर, केवल जानता ही है"—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञेयों का क्रमबद्धपना आ गया।

तत्पश्चात् संवर अधिकार में "उपयोग उपयोग में ही है, क्रोध में या कर्म-नोकर्म में उपयोग नहीं है"—ऐसा कहा, वहाँ उपयोग के स्व-परप्रकाशकस्वभाव में क्रमबद्धपर्याय की बात भी सिद्ध हो जाती है।

फिर निर्जरा अधिकार गाथा २१६ में वेद्य और वेदक दोनों भावों की क्षणिकता बतलाई है; वे दोनों भाव कभी इकट्ठे नहीं होते—ऐसा होकर उनकी क्रमबद्धता बतलाई है। समय-समय की उत्पन्न-ध्वंसीपर्याय पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है किन्तु ध्रुव ज्ञायक-स्वभाव पर उसकी दृष्टि है, ध्रुव ज्ञायक पर दृष्टि रखकर वह क्रम-बद्धपर्याय का ज्ञाता है।

पश्चात् बंध अधिकार में १६८वें कलश (सर्व सदैव नियत....) में कहा है कि—इस जगत में जीवों को मरण, जीवित, दुःख, सुख—सब सदैव नियम से अपने कर्म के उदय से होता है; "दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख करता है,—ऐसा जो मानना है वह तो अज्ञान है।" इसलिये आत्मा उस क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, किन्तु उसका बदलनेवाला नहीं है—यह बात उसमें आ गई।

मोक्ष अधिकार मे भी गाथा २९७-९८-९९ में छह कारकों का वर्णन करके, आत्मा को "सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव" कहा। 'सर्वविशुद्ध-चिन्मात्र' कहने से सामनेवाले ज्ञेय पदार्थों के परिणाम भी क्रमबद्ध हैं—ऐसा उसमें आ गया।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की चलती हुई (३०८से३११वीं) गाथाओं में भी क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट बात की है।

दूसरे शास्त्रों मे भी अनेक स्थानों पर यह बात की है। पं. बनारसीदासजी ने श्री जिनेन्द्रभगवान के १००८ नामों में "क्रमवर्ती"—ऐसा भी एक नाम दिया है।

(९७) स्पष्ट और मूलभूत बात—"ज्ञानशक्ति का विश्वास"

यह तो सीधी और स्पष्ट बात है कि आत्मा ज्ञान है, सर्वज्ञता का उसमें सामर्थ्य है; सर्वज्ञता में क्या जानना शेष रह गया? सर्वज्ञता के सामर्थ्य पर जोर न आये तो क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आ सकती। इधर सर्वज्ञता के सामर्थ्य को प्रतीति में लिया वहाँ ज्ञेयों में क्रमबद्धपर्यायें हैं उसका निर्णय भी हो गया। इस प्रकार यह आत्मा के मूलभूत ज्ञायकस्वभाव की बात है। इसका निर्णय न करे तो सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जिसे आत्मा की ज्ञानशक्ति का ही विश्वास न आये उसे जैनशासन की एक भी बात समझ में नहीं आ सकती।

सम्यक्त्वी अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके ज्ञातापने के क्रमबद्धपरिणामरूप उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु कर्म का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होता इसलिये अजीव नहीं है।

तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष एकाग्रता द्वारा छट्ठे-सातवें गुणस्थान-रूप मुनिदशा प्रगट हुई, उस मुनिदशारूप भी जीव स्वयं ही अपने क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु निर्दोष आहारादि के आश्रय से उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता इसलिये अजीव नहीं है।

फिर केवलज्ञानदशा हुई, उसमें भी जीव स्वयं ही क्रमबद्धपरि-णमित होकर उस अवस्थारूप में उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह जीव ही है, किन्तु चौथा काल या शरीर का संहनन आदि अजीव के कारण वह अवस्था उत्पन्न नहीं हुई, तथा जीव ने उस अजीव की अवस्था नहीं की, इसलिये वह अजीव नहीं है।

(९८) अहो! ज्ञाता की क्रमबद्धधारा!

देखो, यह ज्ञाता की क्रमबद्धपर्याय! इसमें तो केवलज्ञान का समावेश होता है, मोक्षमार्ग आ जाता है, सम्यग्दर्शन आ जाता है।

और इससे विरुद्ध माननेवाला अज्ञानी कैसा होता है उसका ज्ञान भी आ जाता है। जीव और अजीव सभी तत्त्वों का निर्णय इसमें आ जाता है।

देखो, यह सत्य की धारा!—ज्ञायकभाव का क्रमबद्धप्रवाह!! ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव में एकता द्वारा सम्यग्दर्शन से प्रारंभ करके ठेठ केवलज्ञान तक अकेले ज्ञायकभाव की क्रमबद्धधारा चली जाती है।

शास्त्र में उपदेशकथन अनेक प्रकार के आते हैं। उस-उस काल सन्तों को वैसे विकल्प उठने से उस प्रकार की उपदेशवाणी निकली; वहाँ ज्ञाता तो अपने ज्ञायकभाव की धारारूप से उत्पन्न होता हुआ उस वाणी और विकल्प का ज्ञाता ही है, किन्तु उसमें तन्मय होकर उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

जगत का कोई पदार्थ बीच में आकर जीव की क्रमबद्धपर्याय को बदल दे—ऐसा तीनकाल में नहीं होता; जीव अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है; इसी प्रकार अजीव भी उसकी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जो जीव ऐसा निर्णय और भेदज्ञान नहीं करता वह अज्ञानरूप से भ्रांति मे भ्रमण कर रहा है।

(९९) ज्ञान के निर्णय में क्रमबद्ध का निर्णय

प्रश्न:—तीनकाल की पर्याय क्रमबद्ध है, तथापि कल की बात भी ज्ञात क्यों नहीं होती?

उत्तर:—उसका जाननेवाला ज्ञायक कौन है उसका तो पहले निर्णय करो। ज्ञाता का निर्णय करने से तीनकाल की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जायेगा। और देखो, गई कल को शनिवार था और कल सोमवार ही आयेगा, उसके बाद मंगलवार ही आयेगा,—इस प्रकार सातों वारों की क्रमबद्धता जानी जा सकती है या नहीं?

'बहुत समय बाद कभी सोमवार के पश्चात् शनिवार आ जायेगा तो ? अथवा रविवार के बाद बुधवार आ जायेगा तो ?...ऐसी शका कभी नहीं होती क्योंकि उस प्रकार का क्रमबद्धता का निर्णय हुआ है। उसी प्रकार आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने से समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। यहाँ तो "क्रमबद्ध-पर्याय" कहने से ज्ञायक का निर्णय करने का प्रयोजन है। ज्ञाता अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमित हुआ वहाँ स्वयं स्वकाल में क्रमबद्धपरिणमित होता है, और उसका स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ वह पर को भी क्रमबद्धपरिणमित जानता है, इसलिये उनका वह कर्ता नहीं होता।

(१००) "निमित्त न आये तो ?"—ऐसा कहनेवाला निमित्त को नही जानता

प्रश्न:—यदि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय अपने आप निमित्त के बिना हो जाती हो तो, यह पीछी यहां पड़ी है उसे हाथ के निमित्त बिना ऊपर उठा दीजिये !

उत्तर:—अरे भाई ! पीछी की अवस्था पीछी में और हाथ की अवस्था हाथ में,—उसमें तू क्या कर सकता है ? पीछी उसके क्षेत्रा-न्तर की क्रमबद्धपर्याय से ही ऊपर उठती है, और उस समय हाथ आदि निमित्त भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से होते ही हैं, न हों ऐसा नही होता। इस प्रकार निमित्त का अस्तित्व होने पर भी उसे जो नहीं मानता, और "निमित्त न आये तो......" ऐसा तर्क करता है वह क्रमबद्धपर्याय को या उपादान-निमित्त को समझा ही नहीं है। "है" फिर न हो तो.." यह प्रश्न ही कहाँ से आया ?

(१०१) "निमित्त बिना कार्य नहीं होता"—इसका आशय क्या ?

उपादान-निमित्त की स्पष्टता का प्रचार होने से अब कुछ लोग

ऐसी भाषा का उपयोग करते हैं कि—"निमित्त भले ही कुछ नहीं करता, किन्तु उसके बिना तो कार्य नहीं होता न !" किन्तु गहराई से तो उनके भी निमित्ताधीन दृष्टि ही पड़ी है। निमित्त होता है उसे प्रसिद्ध करने के लिये शास्त्र में भी ऐसा कहा जाता है कि "निमित्त के बिना नहीं होता;" किन्तु "कार्य होना हो, और निमित्त न आये तो नहीं हो सकता"—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। देवसेनाचार्य नयचक्र पृष्ठ ५२—५३ में कहते हैं कि— "यद्यपि मोक्षरूपी कार्य में भूतार्थ से जाना हुआ आत्मा आदि उपादान कारण हैं, तथापि वह सहकारीकारण बिना सिद्ध नहीं होता; इसलिये सहकारीकारण की प्रसिद्धि के लिये निश्चय और व्यहार का अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते हैं।" इसमें तो, क्रमबद्धपर्याय में उपादान की योग्यता के समय उसप्रकार का निमित्त होता ही है—ऐसा ज्ञान कराया है; कोई अज्ञानी, निमित्त को सर्वथा न मानता हो तो, "निमित्त बिना नहीं होता"—ऐसा कहकर निमित्त की प्रसिद्धि कराई है अर्थात् उसका ज्ञान कराया है। किन्तु उससे निमित्त आया इसलिये कार्य हुआ और निमित्त न होता तो वह पर्याय नहीं होती"—ऐसा उसका सिद्धान्त नहीं है। "निमित्त बिना नहीं होता"—इसका आशय इतना ही है कि जहाँ–जहाँ कार्य होता है वहाँ वह होता है, न हो ऐसा नहीं हो सकता। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है परन्तु निमित्त की मुख्यता से कहीं पर कार्य नहीं होता, शास्त्रों में तो निमित्त के और व्यवहार के अनेक लेख भरे हैं; किन्तु स्व-पर-प्रकाशक जागृत हुए बिना उनका आशय स्पष्ट कौन करेगा ?

(१०२) शास्त्रों के उपदेश के साथ क्रमबद्धपर्याय की सन्धि

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आज्ञा से वसुबिन्दु अर्थात् जयसेनाचार्य देव ने दो दिन में ही एक प्रतिष्ठापाठ की रचना की है, उसमें जिनेन्द्र प्रतिष्ठा सम्बंधी क्रियाओं का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का

वर्णन किया है। प्रतिमाजी के लिये ऐसा पाषाण लाना चाहिये, ऐसी विधि से लाना चाहिये; ऐसे कारीगरों के पास ऐसी प्रतिमा बनवाना चाहिये तथा अमुक विधि के लिये मिट्टी लेने जाये वहाँ जमीन खोदकर मिट्टी ले ले और फिर बढ़ी हुई मिट्टी से वह गड्ढा पूरने पर यदि मिट्टी बढ़े तो उसे शुभ शकुन समझना चाहिये।—इत्यादि अनेक विधियों का वर्णन आता है, किन्तु आत्मा का ज्ञायकपना रखकर वह सब बात है। ज्ञायकपने से च्युत होकर या क्रमबद्धपने को तोड़कर वह बात नहीं है। प्रतिष्ठा करानेवाले को उस प्रकार का विकल्प होता है और मिट्टी आदि की वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—उसकी वहाँ पहिचान कराई है, किन्तु ऐसा नहीं बतलाया है कि अजीव की पर्याय जीव कर देता है। प्रतिष्ठा में "सिद्धचक्रमण्डलविधान" और "यागमण्डलविधान" आदि के बड़े बड़े रंगबिरंगे मण्डल रचे जाते है, और शास्त्र में भी उनका उपदेश आता है, तथापि वह सब क्रमबद्ध ही है; शास्त्र में उसका उपदेश दिया इसलिये उसकी क्रमबद्धता मिट गई या जीव उसका कर्ता हो गया—ऐसा नहीं है। ज्ञाता तो अपने को जानता हुआ उसे भी जानता है, और क्रमबद्धपर्याय से स्वयं अपने ज्ञायकभावरूप उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार मुनि को समिति के उपदेश में भी "देखकर चलना, विचारकर बोलना, वस्तु को यत्नपूर्वक उठाना-रखना"—इत्यादि कथन आता है, किन्तु उसका आशय यह बतलाने का नहीं है कि शरीर की क्रिया को जीव कर सकता है। मुनिदशा में उस–उस प्रकार का प्रमादभाव होता ही नहीं, हिंसादि का अशुभभाव होता ही नहीं—ऐसा ही मुनिदशा की क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप है—यह बतलाया है। निमित्त से कथन करके समझायें, तो उससे कहीं क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत नहीं टूट जाता।

(१०३) स्वयंप्रकाशीज्ञायक

शरीरादि का प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा अन्यथा बदल दे—ऐसा तीनकाल में नहीं हो सकता। अहो! भगवान आत्मा तो स्वयं प्रकाशी है, अपने क्षायिकभाव द्वारा वह स्व-पर का प्रकाशक ही है; किन्तु अज्ञानी को उस ज्ञायकस्वभाव की बात नहीं जमती। मैं ज्ञायक, क्रमबद्धपर्यायों को यथावत् जाननेवाला हूँ;—सदा जाननेवाला ही हूँ किन्तु किसीको बदलनेवाला नहीं हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति न करके अज्ञानीजीव कर्ता होकर पर को बदलना मानता है, वह मिथ्या–मान्यता ही संसार परिभ्रमण का मूल है।

सर्व जीव स्वयंप्रकाशीज्ञायक हैं; उसमें—

(१) केवली भगवान "पूर्ण ज्ञायक" हैं; (उनके ज्ञायकपना पूर्ण-व्यक्त हो गया है।)

(२) सम्यक्त्वी—साधक "अपूर्ण ज्ञायक" हैं; (उनके पूर्ण ज्ञायकपना प्रतीति में आ गया है, किन्तु अभी पूर्ण व्यक्त नहीं हुआ।)

(३) अज्ञानी "विपरीत ज्ञायक" हैं; (उन्हें अपने ज्ञायकपने की खबर नहीं है।)

ज्ञायकस्वभाव की अप्रतीति वह संसार,

ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा साधक दशा वह मोक्षमार्ग, और—

ज्ञायकस्वभाव पूर्ण विकसित हो जाये वह केवलज्ञान और मोक्ष।

(१०४) प्रत्येक द्रव्य "निजभवन" में ही विराजमान है

जगत में प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नहीं है। अपने–अपने भाव का जो "भवन" है, उसीमें प्रत्येक द्रव्य विराजमान है। जीव के गुण–पर्यायें वह

जीव का भाव है और जीव भाववान है; अजीव के गुण-पर्यायें वह उसका भाव है और अजीव भाववान है। अपने-अपने भाव का जो भवन अर्थात् परिणमन—उसीमें सब द्रव्य विराजमान हैं। जीव के भवन में अजीव नहीं जाता—प्रवेश नही करता, और अजीव के भवन में जीव प्रविष्ट नहीं होता। इसी प्रकार एक जीव के भवन में दूसरा जीव प्रवेश नहीं करता और एक अजीव के भवन मे दूसरा अजीव नहीं जाता। जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य तीनोंकाल अपने-अपने निज भवन में (निज परिणमन में) विराजमान है; अपने निज भवन में से बाहर निकलकर दूसरे के भवन में कोई द्रव्य नही जाता।

सुदृष्टतरंगिणी में छह मुनियों का उदाहरण देकर कहा है कि:— जिस प्रकार एक गुफा में बहुत समय से छह मुनिराज रहते हैं; किन्तु कोई किसी से मोहित नहीं है, उदासीनता सहित एक गुफा में रहते है; छहों मुनिवर अपनी-अपनी स्वरूपसाधना में ऐसे लीन हैं कि दूसरे मुनि कब क्या करते है उसपर लक्ष ही नहीं जाता; एक दूसरे से निरपेक्ष रहकर सब अपने-अपने में एकाग्र होकर विराजमान हैं,। उसी प्रकार इस चौदह ब्रह्माण्डरूपी गुफामें जीवादि छहों द्रव्य एक-दूसरे से निरपेक्ष रूप से अपने-अपने स्वरूप में विराजमान हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता; सर्व द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में ही विद्यमान हैं; जगत की गुफा में छहों द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपने-अपने स्वरूप में परिणमित हो रहे हैं। उसमें भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाववाला है, आत्मा के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों में ज्ञायकपना नहीं है।

(१०५) यह बात न समझनेवालों की कुछ भ्रमणायें

आत्मा ज्ञायक है, और ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित होता हुआ वह क्रमबद्धपर्यायों का ज्ञाता ही है। इसमें ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का अनंतबल आता है;—उसे न समझनेवाले अज्ञानी मूढ़

जीवों को इसमें एकान्त नियतपना ही भासित होता है, किन्तु उसके साथ स्वभाव और पुरुषार्थ, श्रद्धा और ज्ञानादि आ जाते हैं वे उसे भासित नहीं होते।

कुछ लोग यह बात सुनने के बाद क्रमबद्धपर्याय की बातें करना सीखे है, किन्तु उसका ध्येय कहाँ जाता है और उसे समझनेवाले की दशा कैसी होती है वह नहीं जानते, इसलिये वे भी भ्रमणा में ही रहते हैं।

"हम निमित्त बनकर पर की व्यवस्था में फेरफार कर दें"—ऐसा कुछ अज्ञानी मानते हैं, वे भी मूढ़ हैं।

प्रश्नः—अगर ऐसा है, तो पच्चीस आदमियों को भोजन का निमन्त्रण देकर फिर चुपचाप बैठे रहें, तो क्या अपने आप रसोई बन जायेगी!!

उत्तरः—भाई, यह तो अन्तर्दृष्टि की गहरी बात है, इस प्रकार ऊपर से यह नही जम सकती। जिसे निमंत्रण देने का विकल्प आया, वह कहीं वीतराग नहीं है, इसलिये उसे विकल्प आये बिना नहीं रहेगा; किन्तु जीव को विकल्प आये, तो भी वहाँ वस्तु में क्रमबद्धरूप से जो अवस्था होना है वही होती है। यह जीव विकल्प करे, तथापि सामनेवाली वस्तु में वैसी अवस्था नहीं भी होती, इसलिये विकल्प के कारण बाह्यकार्य होते हैं—ऐसा नहीं है। और विकल्प होता है उसपर भी ज्ञानी की दृष्टि का बल नहीं है।

(१०६) "ज्ञानी क्या करते हैं"—वह अंतर्दृष्टि के बिना नहीं जाना जा सकता

प्रश्नः— शरीर में रोग का होना या मिटना वह सब अजीव की क्रमबद्धपर्याय है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं, तो भी वे दवा तो करते हैं, खाने–पीने में भी परहेज रखते हैं—सब करते हैं!

उत्तरः— तुझे ज्ञायकभाव की खबर नहीं है, इसलिये अपनी बाह्यदृष्टि से तुझे ज्ञानी सब करते दिखाई देते हैं, किन्तु ज्ञानी तो

अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञायकभाव में ही तन्मयरूप से परिणमित हो रहे हैं, राग में तन्मय होकर भी वे परिणमित नहीं होते, और पर की कर्ताबुद्धि तो उनके स्वप्न में भी नहीं रही है। अन्तर्दृष्टि के बिना तुझे ज्ञानी के परिणमन की खबर नहीं पड़ सकती। ज्ञानी को अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है इसलिये अस्थिरता में अमुक रागादि होते हैं, उन्हें वे जानते है, किन्तु अकेले राग को जानने की भी प्रधानता नहीं है। ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक राग को भी जानते हैं; और अनंतानुबंधी रागादि उनके होते ही नहीं, तथा ज्ञायकदृष्टि में स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी चालू ही है। जो स्वच्छन्द का पोषण करें—ऐसे जीवों के लिये यह बात नहीं है।

(१०७) दो पंक्तियों में अद्भुत रचना !

अहो ! दो पंक्तियों की टीका में तो आचार्यदेव ने जगत के जीव और अजीव समस्त द्रव्यों की स्वतंत्रता का नियम रखकर अद्भुत रचना की है। जीव अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसी प्रकार अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता अजीव ही है, जीव नहीं है। जीव अजीव की पर्याय को करता है या अजीव जीव की पर्याय को करता है;—ऐसा जो माने उसे जीव अजीव के भिन्नत्व की प्रतीति नहीं रहती अर्थात् मिथ्याश्रद्धा हो जाती है।

(१०८) 'अभाव' है वहाँ 'प्रभाव' कैसे पाड़े ?

प्रश्न:—एक-दूसरे का कुछ कर नहीं सकते, किन्तु परस्पर निमित्त होकर प्रभाव तो पाड़ते हैं न ?

उत्तर:—किस प्रकार प्रभाव पाड़ते हैं ? क्या प्रभाव पाड़कर पर की अवस्था को कोई बदल सकता है ? कार्य हुआ उसमें निमित्त का तो अभाव है, तब फिर उसने प्रभाव कैसे पाड़ा ? जीव अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् है, किन्तु परवस्तु के

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से वह असत् है, इसलिये परद्रव्य की अपेक्षा से वह अद्रव्य है, परक्षेत्र की अपेक्षा से वह अक्षेत्र है, परकाल की अपेक्षा से वह अकाल है, और परवस्तु के भाव की अपेक्षा से वह अभावरूप है; तथा इस जीव के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से अन्य सर्व वस्तुयें अद्रव्य–अक्षेत्र–अकाल और अभावरूप हैं। तब फिर कोई किसी में प्रभाव पाड़े यह बात नहीं रहती। द्रव्य, क्षेत्र और भाव को तो स्वतंत्र कहे, किन्तु काल अर्थात् स्वपर्याय पर के कारण (निमित्त के कारण) होती है—ऐसा माने वह भी स्वतंत्र वस्तुरूप को नहीं समझा है। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है अर्थात् उसका स्वकाल भी अपने से—स्वतंत्र है।

एक पंडितजी ऐसा कहते हैं कि—"अमुक–अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में ऐसी शक्ति है कि निमित्त होकर दूसरे पर प्रभाव डालते हैं"—किन्तु यदि निमित्त प्रभाव डालकर पर की पर्याय को बदल देता हो तो दो वस्तुओं की भिन्नता ही कहाँ रही? प्रभाव डालना कहना तो मात्र उपचार है। यदि पर के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से अपनी पर्याय होना माने तो, अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से स्वयं नहीं है—ऐसा हो जाता है इसलिये अपनी नास्ति हो जाती है। इसी प्रकार स्वयं निमित्त होकर पर की अवस्था को करे तो सामनेवाली वस्तु की नास्ति हो जाती है। और, कोई द्रव्य पर का कार्य करे तो वह द्रव्य पररूप है—ऐसा हो गया, इसलिये अपने रूप नहीं रहा। जीव के स्वकाल में जीव है और अजीव के स्वकाल में अजीव है; कोई किसी का कर्ता नहीं है।

पुनश्च, निमित्त की बलवानता बतलाने के लिये सूकरी के दूध का दृष्टान्त देते हैं कि—सूकरी के पेट में दूध तो बहुत भरा है, किन्तु दूसरा कोई उसे नहीं निकाल सकता; उसके छोटे-छोटे बच्चों

के आकर्षक मुँह का निमित्त पाकर वह दूध झट उनके गले में उतर जाता है।—इसलिये देखो, निमित्त का कितना सामर्थ्य है! —ऐसा कहते हैं किन्तु भाई! दूध का प्रत्येक रजकण अपने स्वतंत्र क्रमबद्धभाव से ही परिणमित हो रहा है। इसी प्रकार "हल्दी और चूने के मिलने से लाल रंग हुआ तो वहाँ एक–दूसरे पर प्रभाव डालकर नई अवस्था हुई या नहीं?"—ऐसा भी कोई कहते हैं, किन्तु वह बात सच्ची नहीं है। हल्दी और चूने के रजकण एकमेक हुए ही नहीं हैं, उन दोनों का प्रत्येक रजकण स्वतंत्ररूप से अपने–अपने क्रमबद्धपरिणाम से ही उस अवस्थारूप उत्पन्न हुआ है, किसी दूसरे के कारण वह अवस्था नहीं हुई। जिस प्रकार हार में अनेक मोती गुँथे हैं, उसी प्रकार द्रव्य में अनादि–अनंत पर्यायों की माला है, उसमें प्रत्येक पर्यायरूपी मोती क्रमानुसार लगा है।

(१०६) प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है

पहले तो आचार्यदेव ने मूल नियम बतलाया कि जीव और अजीव दोनों द्रव्य अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; अब दृष्टान्त और उसका हेतु देते हैं। यहाँ दृष्टान्त भी "सुवर्ण" का दिया है;—जिस प्रकार सुवर्ण को कभी जंग नहीं लगती, उसी प्रकार यह मूलभूत नियम कभी नहीं फिरता। जिस प्रकार कंकनादि पर्यायोंरूप से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण का अपने कंकनादिपरिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। सुवर्ण में चूड़ी आदि जो अवस्था हुई, उस अवस्थारूप से वह स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, स्वर्णकार नहीं, यदि स्वर्णकार वह अवस्था करता हो तो उसमें वह तद्रूप होना चाहिये; किन्तु स्वर्णकार और हथौड़ी तो एक ओर पृथक् रहने पर भी वह कंकनपर्याय तो रहती है, इसलिये स्वर्णकार या हथौड़ी उसमें तद्रूप नहीं हैं—सुवर्ण ही अपनी कंकनादिपर्याय में तद्रूप है। इस

प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने–अपने परिणामों के साथ ही तादात्म्य है—पर के साथ नहीं।

देखो, यह मेज़ पर्याय है, इसमें उस लकड़ी के परमाणु ही तद्रूप होकर उत्पन्न हुए हैं; बढ़ई या आरी के कारण यह अवस्था हुई है—ऐसा नहीं है। यदि बढ़ई के द्वारा यह मेज़रूप अवस्था हुई हो तो बढ़ई इसमें तन्मय होना चाहिये; किन्तु इस समय बढ़ई या आरी निमित्तरूप से न होने पर भी उन परमाणुओं मे मेजपर्याय वर्त रही है; इसलिये निश्चित होता है कि यह बढ़ई का या आरी का काम नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का—उत्पन्न होती हुई अपनी क्रमबद्धपर्यायों के साथ ही तादात्म्यपना है, किन्तु साथ में संयोगरूप से रहनेवाली अन्य वस्तुओं के साथ उसका तादात्म्यपना नहीं है।—ऐसा होने से जीव को अजीव के साथ कार्य–कारणपना नहीं है, इसलिये जीव अकर्ता है—यह बात आचार्यदेव युक्तिपूर्वक सिद्ध करेंगे।

❋ पाँचवाँ प्रवचन ❋

[आश्विन शुक्ला १, वीर सं. २४८०]

> **देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन? ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ।**

(११०) क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक पर का अकर्ता है

यह सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार है; सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् शुद्धज्ञायकभाव, वह पर का अकर्ता है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है।

अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव पर का कर्ता नहीं है और पर उसका कार्य नहीं है। पर्याय नई होती है उस अपेक्षा से वह "उत्पन्न होता है"—ऐसा कहा है। पहले वह पर्याय नहीं थी और नई प्रगट हुई—इसप्रकार पहले की अपेक्षा से वह नई उत्पन्न हुई कहलाती है; किन्तु उस पर्याय को निरपेक्ष-रूप से देखें तो प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस समय का सत् है, उसकी उत्पत्ति और विनाश—वह तो पहले के और बाद के समय की अपेक्षा से है।

"द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, अर्थात् द्रव्य और पर्याय—इन दो वस्तुओं के बिना कर्ताकर्मपना सिद्ध नहीं होता"—यह दलील तो तब आती है जब कर्ताकर्मपना सिद्ध करना हो; किन्तु "पर्याय भी निरपेक्ष सत् है"—ऐसा सिद्ध करना हो वहाँ यह बात नहीं आती। प्रत्येक समय की पर्याय भी स्वयं अपने से सत् होने से "द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है," पर्याय द्रव्य से आलिंगित नहीं है अर्थात् निरपेक्ष है। (देखो, प्रवचनसार गाथा १७२, टीका) यहाँ यह बात सिद्ध करना है कि अपनी निरपेक्ष क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव उसमें तद्रूप है। द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप—एकमेक है, किन्तु पर की पर्याय के साथ तद्रूप नहीं है, इसलिये उसका पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है;—इसप्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। यह कर्ताकर्म–अधिकार नहीं है किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान–अधि-कार है, इसलिये यहाँ ज्ञायकभाव पर का अकर्ता है—ऐसा अकर्तापना सिद्ध करना है।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है —अजीव नहीं है। "उत्पन्न होता है"—कौन उत्पन्न होता है? जीव स्वयं। जीव स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है उसके साथ उसे अनन्यपना—एकपना है; अजीव के साथ उसे अनन्यपना नहीं है इसलिये उसे अजीव के साथ कार्यकारकपना नहीं है। प्रत्येक द्रव्य

को—स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है—उसीके साथ अनन्यपना है, दूसरे के परिणामों के साथ उसे अनन्यपना नहीं है। इसलिये वह अकर्ता है। आत्मा भी अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ उसके साथ तन्मय है, वह अपने ज्ञानपरिणाम के साथ एकमेक है, किन्तु पर के साथ एकमेक नहीं है, इसलिये वह पर का अकर्ता है। ज्ञायकरूप उत्पन्न होते हुए जीव को कर्म के साथ एकपना नही है, इसलिये वह कर्म का कर्ता नहीं है; ज्ञायकदृष्टि में वह नये कर्मबंधन को निमित्त भी नही होता इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१११) कर्म के कर्तापने का व्यवहार किसे लागू होता है ?

प्रश्नः—यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न ?

उत्तरः—ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर जिसकी दृष्टि नही है और कर्म पर दृष्टि है, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म का व्यवहार से कर्ता है—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओं में कहेंगे। इसलिये जिसे अभी कर्म के साथ का संबंध तोडकर ज्ञायकभावरूप परिणमित नही होना है किन्तु कर्म के साथ कर्ताकर्मपने का व्यवहार रखना है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। मिथ्यात्वादि जड़कर्म के कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है।

प्रश्नः—तो फिर ज्ञानी को कौन–सा व्यवहार ?

उत्तरः—ज्ञानी के ज्ञान में तो अपने ज्ञायकस्वभाव को जानने की मुख्यता है, और मुख्य वह निश्चय है; इसलिये अपने ज्ञायकस्वभाव को जानना वह निश्चय है, और साधकदशा में बीच में जो राग रहा है उसे जानना वह व्यवहार है। ज्ञानी को ऐसे निश्चय-व्यवहार एकसाथ वर्तते हैं। किन्तु, मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृति के बंधन में निमित्त हो या व्यवहार से कर्ता हो—ऐसा व्यवहार ज्ञानी के होता ही नहीं।

उसे ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में कर्म के साथ का निमित्त–नैमित्तिक-सम्बंध टूट गया है। अगली गाथाओं में आचार्यदेव यह बात विस्तार-पूर्वक समझायेंगे।

(११२) वस्तु का कार्यकाल

कार्यकाल कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो; जीव का जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ जीव उससे अनन्य है, और अजीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। जीव की जो पर्याय हो उसमें अनन्यरूप से जीवद्रव्य उत्पन्न होता है। उस समय जगत के अन्य जीव-अजीव द्रव्य भी सब अपने–अपने कार्यकाल में—क्रमबद्धपर्याय से—उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन किसी के साथ इस जीव की एकता नहीं है।

उसी प्रकार, अजीव का जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ अजीव उससे अनन्य है, और जीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। अजीव के एक–एक परमाणु की जो पर्याय होती है उसमें अन-न्यरूप से वह परमाणु उत्पन्न होता है, उसे दूसरे के साथ एकता नहीं है। शरीर का हलन–चलन हो, भाषा बोली जाये,—इत्यादि पर्यायोंरूप से अजीव उत्पन्न होता है, वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है, जीव के कारण वह पर्याय नहीं होती।

(११३) निषेध किसका? निमित्त का, या निमित्ताधीनदृष्टि का?

प्रश्न:—आप क्रमबद्धपर्याय होना कहते हैं, उसमें निमित्त का तो निषेध हो जाता है।

उत्तर:—क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त का सर्वथा निषेध नहीं हो जाता, किन्तु निमित्ताधीनदृष्टि का निषेध हो जाता है। पर्याय में अमुक निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध भले हो, किन्तु यहाँ ज्ञायकदृष्टि में उसकी बात नहीं है। क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त होने का सर्वथा निषेध भी नहीं होता, तथा निमित्त के कारण कुछ होता है—यह बात भी नहीं रहती। निमित्त पदार्थ उसके क्रमबद्ध स्वकाल से अपने

में उत्पन्न होता है और नैमित्तिक पदार्थ भी उसके स्वकाल से अपने में उत्पन्न होता है; इस प्रकार दोनों का भिन्न–भिन्न अपने में परिणमन हो ही रहा है। "उपादान में पर्याय होने की योग्यता तो है, किन्तु यदि निमित्त आये तो होती है, और न आये तो नहीं होती"—यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। पर्याय होने की योग्यता हो और पर्याय न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। उसी प्रकार, यहाँ क्रमबद्धपर्याय होने का काल हो और उस समय उसके योग्य निमित्त न हो—ऐसा भी हो ही नहीं सकता। यद्यपि निमित्त तो परद्रव्य है, वह कहीं उपादान के आधीन नहीं है; किन्तु वह परद्रव्य उसके अपने लिये तो उपादान है, और उसका भी क्रमबद्धपरिणमन हो ही रहा है। यहाँ, आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख के क्रमबद्धपरिणमन से छट्ठे—सातवें गुणस्थान की भावलिंगी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ निमित्त में द्रव्यलिंगरूप से शरीर की दिगम्बर दशा ही होती है—ऐसा उसका क्रम है। कोई मुनिराज ध्यान में बैठे हों और कोई अज्ञानी आकर उनके शरीर पर वस्त्र डाल जाये तो वह कहीं परिग्रह नहीं है, वह तो उपसर्ग है। सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ कुदेवादि को माने ऐसा क्रमबद्धपर्याय में नहीं होता, और मुनिदशा हो वहाँ वस्त्र-पात्र रखे ऐसा क्रमबद्धपर्याय में नहीं होता,—इस प्रकार सर्व भूमिकाओं को समझ लेना चाहिये।

(११४) योग्यता और निमित्त (सर्व निमित्त धर्मास्तिकायवत् है)

'इष्टोपदेश' में (३५वीं गाथा में) कहा है कि कोई भी कार्य होने में वास्तविक रूप से उसको अपनी योग्यता ही साक्षात् साधक है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, वहाँ दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। जिस प्रकार अपनी योग्यता से स्वयं गति करनेवाले पदार्थों को धर्मास्तिकाय तो सर्वत्र बिछा हुआ निमित्त है, वह कहीं किसीको गति नहीं कराता; उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यता से ही कार्य

होता है, उसमें जगत की दूसरी वस्तुयें तो मात्र धर्मास्तिकायवत् हैं। देखो, यह इष्ट-उपदेश। ऐसी स्वाधीनता का उपदेश ही इष्ट है, हितकारी है, यथार्थ है। इससे विपरीत मान्यता का उपदेश हो तो वह इष्ट-उपदेश नहीं है किन्तु अनिष्ट है। जैनदर्शन का उपदेश कहो ....आत्मा के हित का उपदेश कहो....इष्ट उपदेश कहो....यथार्थ उपदेश कहो...सत्य का उपदेश कहो....अनेकान्त का उपदेश कहो या सर्वज्ञभगवान का उपदेश कहो....वह यह है कि—जीव और अजीव प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी क्रमबद्धयोग्यता से ही कार्य होता है, पर से उसमें कुछ भी नहीं होता। वस्तु अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप अपनी योग्यता से ही स्वयं परिणमित हो जाता है, दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। यहाँ धर्मास्तिकाय का उदाहरण देकर पूज्यपादस्वामी ने निमित्त का स्वरूप बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

धर्मास्तिकाय तो समस्त लोक में सदैव ज्यों का त्यों स्थित है; जो जीव या पुद्गल स्वयं अपनी योग्यता से ही गति करते हैं, उन्हें वह निमित्तमात्र है। गतिरूप से 'स्वयं परिणमित को' ही निमित्त है; स्वयं परिणमित न होनेवाले को वह परिणमित नहीं, कराता; और न निमित्त भी होता है।

"योग्यता के समय निमित्त न हो तो?" ऐसी शंका करनेवाला वास्तव में योग्यता को या निमित्त के स्वरूप को नहीं जानता। जिस-प्रकार कोई पूछता है कि—"जीव-पुद्गल में गति करने की योग्यता तो है, किन्तु धर्मास्तिकाय न हो तो?"—तो ऐसा पूछनेवाला वास्तव में जीव-पुद्गल की योग्यता को या धर्मास्तिकाय को भी नहीं जानता है; क्योंकि गति के समय सदैव धर्मास्तिकाय निमित्तरूप से होता ही है, जगत में धर्मास्तिकाय न हो ऐसा कभी होता ही नहीं।

"योग्यता के समय निमित्त न हो तो?"

"गति की योग्यता के समय धर्मास्तिकाय न हो तो ?"

"पानी गर्म होने की योग्यता के समय अग्नि न हो तो ?"

"मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता के समय कुम्हार न हो तो ?"

"जीव में मोक्ष होने की योग्यता हो, किन्तु वज्रर्षभनाराचसंह-नन न हो तो ?"

—यह सब प्रश्न एक ही प्रकार के—निमित्ताधीन दृष्टिवाले के—हैं। इसी प्रकार गुरु–शिष्य, क्षायकसम्यक्त्व और केवली–श्रुत-केवली—आदि सभी में समझ लेना चाहिये। जगत में जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य अपने–अपने नियमित स्वकाल की योग्यता से ही परिणमित होता है, उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप हो वह "गतेः धर्मास्तिकायवत्" है। कोई भी कार्य होने में वस्तु की "योग्यता ही" निश्चयकारण है, दूसरा कारण कहना वह "गति में धर्मास्तिकायवत्" उपचारमात्र है, अर्थात् वास्तव में वह कारण नहीं है। अपनी क्रम-बद्धपर्यायरूप से वस्तु स्वयं ही उत्पन्न होती है—यह नियम समझे तो निमित्ताधीनदृष्टि की सब गुत्थियाँ सुलझ जायें। वस्तु एक समय में उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वरूप है। एक समय में अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व पर्याय से व्यय को प्राप्त होती है, और उसी समय अखण्डतारूप से ध्रुव स्थिर रहती है—इस प्रकार उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप वस्तु स्वयं वर्तती है; एक वस्तु के उत्पाद–व्यय–ध्रुव में बीच में कोई दूसरा द्रव्य घुस जाये—ऐसा नहीं होता।

जिस प्रकार वास्तव में मोक्षमार्ग तो एक ही है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से है; निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना वह तो वास्तव में मोक्षमार्ग है, और शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्ष-मार्ग कहना वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु उपचारमात्र है।

उसी प्रकार कार्य का कारण वास्तव में एक ही है। वस्तु की

योग्यता ही सच्चा कारण है, और निमित्त को दूसरा कारण कहना वह सच्चा कारण नहीं है किन्तु उपचारमात्र है।

इसी प्रकार कार्य का कर्ता भी एक ही है, दो कर्ता नहीं है। दूसरे को कर्ता कहना वह उपचारमात्र है।

(११५) प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र परिणमन जाने बिना भेदज्ञान नहीं होता

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य उत्पन्न होता हुआ अपने परिणाम से अनन्य है; इसलिये उस परिणाम के कर्ता दो नहीं होते। एक द्रव्य के परिणाम में दूसरा द्रव्य तन्मय नहीं होता, इसलिये दो कर्ता नहीं होते; उसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणाम में (अपने और पर के—दोनों के परिणाम में) तन्मय नहीं होता, इसलिये एक द्रव्य दो परिणाम नहीं करता। नाटक-समयसार में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि—

करता परिनामी दरव,
करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनी
वस्तु एक त्रय नाम ॥ ७ ॥

अर्थात्—अवस्थारूप से जो द्रव्य परिणमित होता है वह कर्ता है; जो परिणाम होते हैं वह उसका कर्म है; और अवस्था से अवस्थान्तर होना वह क्रिया है। यह कर्ता, कर्म और क्रिया वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं रहते। पुनश्च—

एक परिनाम के न करता दरब दोइ,
दोई परिनाम एक दर्ब न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्ब कबहूँ न करैं,
दोइ करतूति एक दर्ब न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।

अब परनामनिकौ करता है पुद्गल,
चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है ॥ १० ॥

अर्थात्—एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नहीं होते; एक द्रव्य दो परिणामों को नहीं करता। एक क्रिया को दो द्रव्य कभी नही करते, तथा एक द्रव्य दो क्रियायें नहीं करता।

जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्र में रहते हैं, तथापि अपने–अपने स्वभाव को कोई नही छोड़ते। पुद्गल तो उसके जड़-परिणाम का कर्ता है, और चिदानन्दआत्मा अपने चेतनस्वभाव का आचरण करता है।

—इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के भिन्न-भिन्न स्वतंत्र परिणमन को जबतक जीव न जाने तबतक पर से भेदज्ञान नही होता और स्वभाव में एकता प्रगट नहीं होती, इसलिये सम्यग्दर्शनादि कुछ नहीं होते।

(११६) जो पर्याय में तन्मय हो वही उसका कर्ता

क्रमबद्धपरिणाम से परिणमित द्रव्य अपनी पर्याय के साथ एकमेक है,—यह सिद्धांत समझाने के लिये आचार्यदेव यहाँ सुवर्ण का दृष्टांत देते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण में कुण्डलादि जो अवस्था हुई उसके साथ वह सुवर्ण एकमेक है, पृथक् नही है; सुवर्ण की अवस्था से स्वर्णकार पृथक् है किन्तु सुवर्ण पृथक् नही है। उसी प्रकार जगत के जीव या अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी जो अवस्था होती है उसके साथ एकमेक हैं, दूसरे के साथ एकमेक नहीं हैं; इसलिये वे दूसरे के अकर्ता है। जो पर्याय हुई, उस पर्याय में जो तन्मय हो वही उसका कर्ता होता है, किन्तु उससे जो पृथक् हो वह उसका कर्ता नहीं होता—यह नियम है। जैसे कि—

घड़ा हुआ, वहाँ उस घड़ारूप अवस्था के साथ मिट्टी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु कुम्हार उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये कुम्हार उसका अकर्ता है।

वस्त्र हुआ, वहाँ उस वस्त्ररूप पर्याय के साथ ताने-बाने के परमाणु एकमेक है, किन्तु बुनकर उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

अलमारी हुई, वहाँ उस आलमारी की अवस्था के साथ लकड़ी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बढ़ई उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

रोटी हुई, वहाँ रोटी के साथ आटे के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु स्त्री (रसोई बनानेवाली) उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये स्त्री रोटी की अकर्ता है।

सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उस पर्याय के साथ आत्मा स्वयं एकमेक है, इसलिये आत्मा उसका कर्ता है, किन्तु अजीव उसमें एकमेक नहीं है इसलिये वह अकर्ता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सुख, आनन्द सिद्धदशा आदि सर्व अवस्थाओं में समझ लेना चाहिए। उस-उस अवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही उसमें तद्रूप होकर उसका कर्ता है; वह अजीव नहीं है इसलिये अजीव के साथ उसे कार्य-कारणपना नहीं है।

(११७) ज्ञाता राग का अकर्ता

यहाँ तो आचार्यदेव यह सिद्धांत समझाते हैं कि—ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो जीव ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव राग का भी अकर्ता है; अपने ज्ञातापरिणाम में तन्मय होने से उसका कर्ता है और राग का अकर्ता है, क्योंकि राग में वह तन्मय नहीं है। ज्ञायकभाव में जो तन्मय हुआ वह राग में तन्मय नहीं होता, इसलिये वह राग का अकर्ता ही है।

—ऐसे ज्ञातास्वभाव को जानना वह निश्चय है। स्वसन्मुख होकर ऐसा निश्चय का ज्ञान करे तो, किस पर्याय में कैसा राग होता है और वहाँ निमित्त-नैमित्तिकसंबंध किस प्रकार का होता है,—

उस सब व्यवहार का भी यथार्थ विवेक हो जाता है।

(११८) निश्चय–व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

कई लोग कहते हैं कि यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो जीव जड़कर्म का कर्ता है! तो आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर नहीं है और कर्म पर है ऐसे अज्ञानी को ही कर्म के कर्तापने का व्यवहार लागू होता है; ज्ञायकदृष्टिवाले ज्ञानी को वैसा व्यवहार लागू नहीं होता। ज्ञायक-स्वभावी जीव मिथ्यात्वादि कर्म का अकर्ता होने पर भी उसे कर्म का कर्ता कहना वह व्यवहार है; और वह व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाला ज्ञानी तो अकर्ता ही है।

सुवर्ण की जो अवस्था हुई उसका स्वर्णकार अकर्ता है, तथापि उसे निमित्तकर्ता कहना वह व्यवहार है। जो कर्ता है उसे कर्ता जानना वह निश्चय, और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार है। जीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, और अजीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जीव अजीव की अवस्था का अकर्ता है और अजीव जीव की अवस्था का।—इस प्रकार जैसे जीव–अजीव को परस्पर कर्तापना नहीं है उसी प्रकार उनको परस्पर कर्मपना, करणपना, संप्रदानपना, अपादानपना या अधिकरणपना भी नहीं है। मात्र निमित्तपने से उन्हें एक–दूसरे का कर्ता, कर्म, करण आदि कहना वह व्यवहार है। निमित्त से कर्ता यानी वास्तव में अकर्ता; और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार। निश्चय से अकर्ता हुआ तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञाता हुआ वह राग को रागरूप से जानता है किन्तु वह राग में ज्ञान की एकता नहीं करता, इसलिये वह ज्ञाता तो राग का भी अकर्ता है।

(११६) क्रमबद्धपर्याय का मूल

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन ? ज्ञायकस्वभाव की ओर ढ़लकर जो ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ। "ज्ञायक" कहो या "अकर्ता" कहो; ज्ञायक पर का अकर्ता है। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढ़लकर ऐसा भेदज्ञान करे, फिर साधकदशा में भूमिकानुसार जो व्यवहार रहा उसे ज्ञानी जानता है, इसलिये "व्यवहारनय उस काल जाना हुआ प्रयोजनवान है"—यह बात उसे लागू होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। मिथ्यादृष्टि तो ज्ञायक को भी नहीं जानता, और व्यवहार का भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं होता।

द्रव्य अपनी जिस क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है वह पर्याय ही उसका कार्य है, दूसरा उसका कार्य नहीं है। इसप्रकार एक कर्ता के दो कार्य नहीं होते, इसलिये जीव अजीव को परस्पर कार्य-कारणपना नही है। निगोद से लेकर सिद्ध तक के समस्त जीव और एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध, तथा दूसरे चार अजीव द्रव्य;—उन सबको अपने-अपने उसकाल के क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले परिणामों के साथ तद्रूपपना है। पर्यायें अनादि अनन्त क्रमबद्ध होने पर भी उनमें वर्तमान रूप से तो एक ही पर्याय वर्तती है, और उस-उस समय वर्तती हुई पर्याय में द्रव्य तद्रूपता से वर्त रहा है। वस्तु को तो जब देखो तब वर्तमान है, जब देखो तब वर्तमान उस समय की पर्याय सत् है, उस वर्तमान के पहले हो जानेवाली पर्यायें भूतकाल में हैं और बाद में होनेवाली पर्यायें भविष्य में हैं; वर्तमान पर्याय एक समय भी आगे-पीछे होकर भूत या भविष्य की पर्याय-रूप नहीं हो जाती; उसी प्रकार भविष्य की पर्याय भूतकाल की

पर्यायरूप नहीं होती या भूतकाल की पर्याय भविष्य की पर्यायरूप नहीं हो जाती। अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्थान पर ही प्रकाशित रहती है; इस प्रकार पर्यायों की क्रम-बद्धता है।—यह बात प्रवचनसार की ६६वीं गाथा में प्रदेशों के विस्तारक्रम का दृष्टान्त देकर अलौकिक रीति से समझाई है।

(१२०) क्रमबद्धपर्याय में क्या-क्या आया ?

प्रश्नः— "क्रमबद्ध" कहने से भूतकाल की पर्याय भविष्यरूप, या भविष्य की पर्याय भूतकालरूप नहीं होती—यह बात तो ठीक है; किन्तु इस समय यह पर्याय ऐसी ही होगी—यह बात इस क्रमबद्ध-पर्याय में कहाँ आई ?

उत्तरः—क्रमबद्धपर्याय में जिस समय के जो परिणाम हैं वे सत् हैं, और उस परिणाम का स्वरूप कैसा होता है वह भी उस में साथ ही आ जाता है। "मैं ज्ञायक हूँ" तो मेरे ज्ञेयरूप से समस्त पदार्थों के तीनोंकाल के परिणाम क्रमबद्ध सत् हैं—ऐसा निर्णय उसमें हो जाता है। यदि ऐसा न माने तो उसने अपने ज्ञायकस्वभाव के पूर्ण सामर्थ्य को ही नहीं माना है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों में क्रमबद्धपर्याय होती है—यह बात जिसे नहीं जमती उसे निश्चय-व्यवहार के या निमित्त-उपादान आदि के झगड़े खड़े होते हैं; किन्तु यह निर्णय करे तो सब झगड़े शांत हो जायें और भूल दूर होकर मुक्ति हुए बिना न रहे।

(१२१) जहाँ रुचि वहाँ जोर

"निमित्त से और व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न !—ऐसा अज्ञानी जोर देता है; किन्तु भाई ! तेरा जोर उल्टा है; तू कर्म की ओर जोर देता है किन्तु "आत्मा अकर्ता है—ज्ञान ही है"—इस-प्रकार ज्ञायक पर जोर क्यों नहीं देता ? जिसे ज्ञायक की रुचि नहीं है और राग की रुचि है वही कर्म के कर्तापने पर जोर देता है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाला काल के प्रवाह की ओर नहीं देखता, किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर देखता है; क्योंकि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय कहीं काल के कारण नहीं होती। कालद्रव्य तो परिणमन में सर्व द्रव्यों को एकसाथ निमित्त है, तथापि कोई परमाणु स्कंध में जुड़े, तो उसी समय दूसरा परमाणु उसमें से पृथक् होता है, एक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और दूसरा जीव उसी समय केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है,—इस प्रकार जीव-अजीव द्रव्यों में अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से क्रमबद्ध परिणाम होते हैं। इसलिये, अपने ज्ञानपरिणाम का प्रवाह जहाँ से बहता है—ऐसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

(१२२) तद्रूप और कद्रूप; (ज्ञानी को दिवाली, अज्ञानी को होली)

क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होनेवाला द्रव्य अपने परिणाम के साथ "तद्रूप" है;—ऐसा न मानकर दूसरा कर्ता माने तो उसने द्रव्य के साथ पर्याय को तद्रूप नहीं माना किन्तु पर के साथ तद्रूप माना, इसलिये उसकी मान्यता कद्रूप हुई—मिथ्या हुई। पर्याय को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप करना चाहिये, उसके बदले पर के साथ तद्रूप मानकर कद्रूप की, उसने दिवाली के बदले होली की है। जिस प्रकार होली के बदले दिवाली के त्योहार में मुँह पर कालिख पोतकर मुँह काला कर ले तो उसे मूर्ख कहा जायेगा, उसी प्रकार "दि . वाली" यानी अपनी निर्मल स्वपर्याय; उसमें स्वयं तद्रूप होना चाहिये उसके बदले अज्ञानी पर के साथ अपनी तद्रूपता मानकर अपनी पर्याय को मलिन करता है, इसलिये वह दिवाली के बदले अपने गुणों की होली जलाता है। भाई, "दि" अर्थात् स्वकाल की पर्याय, उसे "वाल" (झुका) अपने आत्मा में,—तो तेरे घर पर दिवाली के दीपक जगमगा उठें अर्थात् सम्यग्ज्ञान के दीप जल उठें और

मिथ्यात्व की होली दूर हो जाये। स्वकाल की पर्याय को अन्तरोन्मुख न करके पर के साथ एकत्व मानकर, उस विपरीत मान्यता में अज्ञानी अपने गुणों को होम (जला) देता है इसलिये उसके गुणों की होली जलती है—गुणों की निर्मलदशा प्रगट होने के बदले मलिनदशा प्रगट होती है; उसमें आत्मा की शोभा नहीं है।

स्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्ध आये हुए निर्मल स्वकाल के साथ तद्रूपता धारण करे उसमें आत्मा की शोभा और प्रभुता है। अपनी-अपनी पर्याय के साथ तद्रूपता धारण करे उसीमें प्रत्येक द्रव्य की प्रभुता है; यदि उसकी पर्याय में दूसरा कोई तद्रूप होकर उसे करे तो उसमें द्रव्य की प्रभुता नहीं रहती; अथवा आत्मा स्वयं पर के साथ तद्रूपता मानकर उसका कर्ता होने जाये तो उसमें भी अपनी या पर की प्रभुता नहीं रहती। जो पर का कर्ता होने जाये वह अपनी प्रभुता को भूलता है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातापना न मानकर उसमें उल्टा-सीधा करना माने तो वह जीव अपने ज्ञाताभाव के साथ तद्रूप न रहकर मिथ्यादृष्टि—कद्रूप हो जाता है।

(१२३)—यह है जैनशासन का सार!

अहो, प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ उस-उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे करता है, किन्तु दूसरे परिणाम को नहीं करता;—इस एक सिद्धान्त में छहों द्रव्यों के तीनोंकाल के परिणमनके हल की चाबी आ जाती है, सब समाधान हो जाते हैं। मैं ज्ञायक, और पदार्थों में स्वतंत्र क्रमबद्धपरिणमन—बस! इसमें सब सार आ गया। अपने ज्ञायक स्वभाव का और पदार्थों के क्रमबद्धपरिणाम की स्वतंत्रता का निर्णय करके, स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं ज्ञायक ही रहा और पर का अकर्ता हुआ, उसका ज्ञान रागादि से पृथक् होकर "सर्वविशुद्ध" हुआ।—इसका नाम जैनशासन और इसका नाम धर्म।

"योग्यता को ही" कार्य की साक्षात् साधक कहकर इष्टोपदेश में स्वतंत्रता का अलौकिक उपदेश किया है। "इष्टोपदेश" को "जैन

का उपनिषद्" भी कहते हैं। वास्तव में, वस्तु की स्वतंत्रता बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वही इष्ट-उपदेश है; और वही जैनधर्म का मर्म है, इसलिये जैन का उपनिषद् है।

(१२४) "—विरला बूझे कोई !"

यह बात समझे बिना उपादान-निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उपादान और निमित्त दोनों वस्तुयें हैं अवश्य, उनका ज्ञान कराने के लिये शास्त्रों में उनका वर्णन किया है; वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि से उपादान-निमित्त के नाम से ऊल्टा स्व-पर की एकत्वबुद्धि का पोषण करता है; "देखो शास्त्र में निमित्त तो कहा है न? दो कारण तो कहे हैं न?"—ऐसा कहकर उल्टा स्व-पर की एकत्वबुद्धि को घोंटता है। पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि:—

उपादान निजगुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाण विधि विरला बूझे कोय ॥ ४ ॥

अर्थात्—जहाँ उपादान की अपनी निजशक्ति से कार्य होता है वहाँ दूसरी वस्तु निमित्त होती है; इस प्रकार उपादान और निमित्त दोनों वस्तुयें तो हैं, किन्तु वहाँ उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, और निमित्त तो उसमें अभावरूप—अकिंचित्कर है; —ऐसी भेदज्ञान की यथार्थ विधि कोई विरले ही जानते हैं, अर्थात् सम्यक्त्वी जानते हैं।

(१२५) यहाँ सिद्ध करना है—आत्मा का अकर्तृत्व

अभी तक आचार्यदेव ने यह बात सिद्ध की है कि—"प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण का कंकनादि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसी प्रकार सर्व द्रव्यों को अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।"

अब इस सिद्धान्त पर से जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि—"इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता× × ×"कर्ता होकर अपने ज्ञायकपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव, कर्म के बन्धन का भी कारण हो—ऐसा नहीं होता। इस प्रकार उसका अकर्तृत्व है।

(१२६) "एक" का कर्ता "दो" का कर्ता नहीं है (ज्ञायक के अकर्तृत्व की सिद्धि)

प्रश्न:—यदि जीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता है और उसमें तद्रूप होकर उसे करता है, तो एक के साथ दूसरे का भी करे उसमें क्या हर्ज ? "एक का ग्वाला वह दो का ग्वाला"—यानी जो ग्वाल एक गाय चराने ले जाता है वह साथ में दो ले जाये तो उसमें उसे क्या परिश्रम ? अथवा "एक की रसोई बनाना, वहाँ साथ में दो की बना लेना।" उसी प्रकार कर्ता होकर एक अपना करे वह साथ मे दूसरे का भी कर दे तो क्या हर्ज ? जीव स्वयं ज्ञायकरूप से उत्पन्न भी हो और कर्म को भी बाँध ले—इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर:—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप है, इसलिये उसे तो करता है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नहीं है इसलिये उसका वह कर्ता नहीं है। पर के साथ तद्रूप हो तभी पर को करे, किन्तु ऐसा तो कभी हो नहीं सकता। इसलिये "गाय के ग्वाले" जैसी लौकिक कहावत यहाँ लागू नहीं होती। स्वभाव-सन्मुख होकर जो जीव अपने ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ, वह अपने ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप है, इसलिये उसका तो वह कर्ता है, किन्तु रागादि-भावों के साथ वह तद्रूप नहीं है इसलिये वास्तव में राग का कर्ता नहीं है, इसलिये कर्म के कर्तृत्व का व्यवहार भी उसे लागू नहीं होता। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि—"जीव अपने परिणामों से

उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहो होता।"

कौन–सा जीव ?....कहते है कि ज्ञानी;

कैसे परिणाम ?...कहते है कि ज्ञाता–दृष्टा के निर्मल परिणाम—ज्ञानी अपने ज्ञाता–दृष्टा को निर्मल परिणामरूप से उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव कर्मों के बंध का, कारण नहीं होता; क्योंकि उसे अपने ज्ञायकभाव के साथ ही एकता है, रागादि की कर्म के साथ एकता नहीं है. इसलियें वह रागादि का और कर्म का अकर्ता ही है। जीव अपने ज्ञायकपरिणाम का कर्ता हो और साथ ही साथ अजीव मे नये कर्म बाँधने में भी निमित्त हो—ऐसा नही होता। नये कर्मो मं यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियों की बात लेना है,—उनका बधन ज्ञानो को हाता हो नहीं। ज्ञानी को अपने निर्मल ज्ञान परिणाम के साथ कार्यकारणपना है, किन्तु अजीव के साथ या रागादि के साथ उसे कार्यकारणपना नही है, इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१२७) व्यवहार–कौनसा ? और किसको ?

प्रश्न.—यह तो निश्चय की बात हुई, अब व्यवहार समझाइये ?

उत्तरः—जो यह निश्चयस्वरूप समझ ले उसे व्यवहार की खबर पड़ती है। ज्ञाता जागृत हुआ और स्व–परप्रकाशक शक्ति विकसित हुई तब निमित्त और व्यवहार कैसे होते हैं उन्हें वह जानता है। स्वयं राग से अधिक होकर ज्ञायकरूप से परिणमित होता हुआ चारित्र में अस्थिरता का जो राग है उसे भी जानता है—वह ज्ञानी का व्यवहार है। किन्तु जहाँ निश्चय का भान नहीं है, ज्ञाता जागृत नहीं हुआ है, वहाँ व्यवहार को जानेगा कौन ? वह अज्ञानी तो राग को भला जानते हुए उसीमें एकता मान लेता है; इसलिये उसे तो राग ही निश्चय हो गया, राग से पृथक् कोई राग का ज्ञाता नहीं

रहा। यहाँ तो जागृत होकर ज्ञान की अधिकतारूप से परिणमित होता हुआ, शेष अल्प राग को भी जाने वह व्यवहार है। परमार्थज्ञेय तो अपना ज्ञायक आत्मा ही है, और राग वह ज्ञानी का व्यवहार ज्ञेय है। किन्तु जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है, और "कर्म का व्यवहार-कर्ता तो हूँ न!"—ऐसी दृष्टि है, उसके लिये आचार्यदेव अगली गाथा में कहेंगे कि कर्म के साथ कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है।

❋ छठवाँ प्रवचन ❋

[आश्विन शुक्ला २, वीर सं. २४८०]

भाई, पंचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पंच" हैं। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादि से पंचपरमेष्ठी भगवन्त कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमंधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत माने, तो भले माने किन्तु यहाँ तो पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को पंचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है।

(१२८) ज्ञायक वस्तुस्वरूप, और अकर्तृत्व

इस "सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार" को "शुद्धात्मद्रव्य अधिकार" भी कहा जाता है। ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वरूप क्या है वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञाता है; वह ज्ञायकस्वभाव न तो पर का कर्ता है, और न राग का। कर्ता होकर पर की अवस्था उत्पन्न करे ऐसा तो ज्ञायक का स्वरूप नहीं है, और न राग में कर्ताबुद्धि भी उसका स्वभाव है; राग भी उसके ज्ञेयरूप ही है। राग में तन्मय होकर नहीं, किन्तु राग से अधिक रहकर—भिन्न रहकर ज्ञायक उसे जानता है। ऐसा ज्ञायक–वस्तुस्वरूप समझे तो ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के सारे गर्व दूर हो जायें।

यहाँ जीव को समझाना है कि तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है। "ज्ञायक" ज्ञाता–दृष्टा परिणाम के अतिरिक्त दूसरा क्या करे? ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर जो स्वसन्मुख निर्मल परिणामरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञानी ऐसा जानता है कि प्रतिसमय मेरे ज्ञान के जो निर्मल क्रमबद्धपरिणाम होते हैं उन्हींमें मैं तन्मय हूँ, राग में या पर में मैं तन्मय नहीं हूँ, इसलिये उनका मैं अकर्ता हूँ।

अजीव भी अपने क्रमबद्ध होनेवाले जड़ परिणामों के साथ तन्मय है और दूसरों के साथ तन्मय नही है; इसलिये वह अजीव भी पर का अकर्ता है; किन्तु यहाँ उसकी मुख्यता नहीं है, यहाँ तो जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करना है; जीव को यह बात समझाना है।

(१२९) दृष्टि बदलकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे, वही इस उपदेश का रहस्य समझा है

यह आत्मा के ज्ञायकभाव की बात है; इसे समझ ले तो अपूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो, और उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन हो। दृष्टि को बदले तो यह बात जीव की समझ में आ सकती है। यह वस्तु मात्र करने के लिये नहीं है, किन्तु समझकर दृष्टि को अन्तरोन्मुख करने के लिये यह उपदेश है। क्रमबद्धपर्याय तो अजीव में भी होती है, किन्तु उसे कहीं ऐसा नहीं समझाना है कि तू अकर्ता है इसलिये दृष्टि को बदल! यहाँ तो जीव को समझाना है। अज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर "मैं पर का कर्ता"—ऐसा मान रहा है; उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! तू तो ज्ञायक है; जीव और अजीव सर्व द्रव्य अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्याय में परिणमित हो रहे हैं, तू उनका ज्ञायक है, किन्तु किसी पर का कर्ता नहीं है। "मैं ज्ञायक स्वभाव, पर का अकर्ता, अपनी ज्ञानपर्याय में क्रमबद्ध परिणमित होता हूँ"—ऐसा समझकर स्वद्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। दृष्टि की दिशा

स्वोन्मुख करे तभी क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है, और उसके अपने मे निर्मल पर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। "मेरी सब पर्यायें क्रमबद्ध–क्रमशः होती हैं"—ऐसा निर्णय करते हुए, उन पर्यायोंरूप से परिणमित होनेवाले ऐसे ज्ञायकद्रव्य की ओर दृष्टि जाती है। मेरा क्रमबद्धपरिणमन मुझमे और पर का क्रमबद्धपरिणमन पर में; पर के क्रम में मैं नहीं हूँ और मेरे क्रम में पर नहीं है;—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान करने से "मै पर का कुछ करूँ"—ऐसी दृष्टि छूट जाती है, और ज्ञायकस्वभावोन्मुखदृष्टि होती है। उस स्वसन्मुख दृष्टि का परिणमन होने से ज्ञान, आनन्द, वीर्यादि समस्त गुणों में भी स्वाश्रय से अंशतः निर्मल परिणमन हुआ।

(१३०) जैनधर्म की मूल बात

पंडित या त्यागी नाम धारण करनेवाले कितनों को तो अभी "सर्वज्ञ" की तथा क्रमबद्धपर्याय की भी श्रद्धा नहीं है। किन्तु यह तो जैनधर्म का मूलबात है, इसका निर्णय किये बिना सच्चा जैनत्व होता ही नही। यदि केवलज्ञान तीनकाल की समस्त पर्यायों को न जाने तो वह केवलज्ञान काहे का? और यदि पदार्थों की तीनोंकाल की समस्त पर्यायें व्यवस्थित—क्रमबद्ध ही न हों तो केवलीभगवान ने देखा क्या?

(१३१) "सर्वभावांतरच्छिदे"

समयसार का मांगलिक करते हुए पहले ही कलश में आचार्यदेव ने कहा है कि—

नमः समयसाराय
स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय
सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

"समयसार" अर्थात् शुद्ध आत्मा को नमस्कार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि मै साधक हूँ, इसलिये मेरा परिणमन अंतर में

नमता है, मैं शुद्धात्मा में परिणमित होता हूँ।—कैसा है शुद्धात्मा ? प्रथम तो स्वानुभूति से प्रकाशमान है यानी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया द्वारा ही वह प्रकाशमान है; राग द्वारा या व्यवहार के अवलम्बन द्वारा वह प्रकाशित नहीं होता। और कहा है कि वह ज्ञानस्वभावरूप वस्तु है, तथा स्वयं से अन्य समस्त भावों का भी ज्ञाता है। इस प्रकार जीव का ज्ञान स्वभाव है और वह तीनोंकाल की क्रमबद्धपर्यायों को जानता है—यह बात भी उसमें आ गई।

(१३२) ज्ञान में जो पर को जानने की शक्ति है वह अभूतार्थ नही है

प्रश्न:—जीव का ज्ञान स्वभाव है, और केवलज्ञान होने पर वह सर्व पदार्थों की तीनोंकाल की क्रमबद्धपर्यायों को जानता है—ऐसा आप कहते हैं, किन्तु नियमसार की १५९वी तथा १६६वीं गाथा में कहा है कि केवलीभगवान निश्चय से स्व को जानते–देखते हैं और लोकालोक को तो व्यवहार से जानते–देखते हैं; तथा समयसार की ११वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा है; इसलिए "सर्वज्ञभगवान ने तीनकाल की समस्त पर्यायों को जाना है और तदनुसार ही पदार्थों में क्रमबद्धपरिणमन होता है"—यह बात ठीक नहीं है!! (—ऐसा प्रश्न है।)

उत्तर:—भाई, तुझे सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं रही ? शास्त्रों की ओट में तू अपनी विपरीत दृष्टि का पोषण करना चाहता है; किन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना तुझे शास्त्रों का एक अक्षर भी यथार्थरूप से समझ में नहीं आ सकता। ज्ञान पर को व्यवहार से जानता है—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञान में जानने की शक्ति कहीं व्यवहार से नहीं है; जानने की शक्ति तो निश्चय से है, किन्तु पर के साथ एकमेक होकर अथवा तो पर सन्मुख होकर केवलज्ञान उसे नहीं जानता इसलिये व्यवहार कहा है। स्व को जानते हुए अपने में एकमेक होकर जानता है इसलिये स्व–परप्रकाशपने को निश्चय

कहा, और पर में एकमेक नहीं होता इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। किन्तु ज्ञान में स्व–परप्रकाशक शक्ति है वह तो निश्चय से ही है, वह कहीं व्यवहार नहीं है। "सर्वभावांतरच्छिदे"—ऐसा कहा उसमें क्या शेष रह गया?—वह कहीं व्यवहार–से नहीं कहा है। और १६०वीं गाथा में "सो सव्वणाणदरिसी............... अर्थात् आत्मा स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य–विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है"—ऐसा कहा, वह कहीं व्यवहार से नहीं कहा है किन्तु निश्चय से ऐसा ही है। ज्ञान में स्व–पर को जानने की शक्ति है वह कही व्यवहार या अभूतार्थ नहीं है। अरे! स्वच्छन्द से कही हुई अपनी बात को सिद्ध करने के लिये, ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य को भी अभूतार्थ कहकर उड़ाये, और उसी पर कुन्दकुन्द भगवान जैसे आचार्यों के नाम से बात करे—यह तो मूढ़ जीवों का महान गजब है! और जो उनकी ऐसी बात को स्वीकार करते हैं उन्हें भी वास्तव में सर्वज्ञदेव की श्रद्धा नहीं है।

(१३३) सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करे उसे पुरुषार्थ की शंका नही रहती

अब, अनेक जीव यों ही (निर्णय बिना) सर्वज्ञ को मानते हैं; उन्हें ऐसा प्रश्न उठता है कि—यदि सर्वज्ञभगवान के देखे अनुसार ही क्रमबद्ध होता है और उस क्रम में फेरफार नहीं हो सकता,—तो फिर जीव को पुरुषार्थ करना कहाँ रहा? तो उससे कहते हैं कि हे भाई! तूने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है?—सर्वज्ञ का निर्णय किया है? तू अपने ज्ञानस्वभाव का और सर्वज्ञ का निर्णय कर तो तुझे खबर पड़ेगी कि क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ किस प्रकार आता है? पुरुषार्थ का यथार्थ स्वरूप ही अभी लोगों की समझ में नहीं आया है। अनादिकाल से पर में और राग में ही स्वत्व मानकर मिथ्यात्व के अनन्त दुःख का अनुभव कर रहा है, उसके बदले ज्ञायक-स्वभाव का निर्णय होने से वह विपरीत मान्यता छूट गई और

ज्ञायकभाव की ओर दृष्टि ढली, वहाँ अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव होता है.—इसीमें अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करने से पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धा, आनंद, चारित्र—इन समस्त गुणों का परिणमन स्वोन्मुख हुआ है। स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया उसमें केवलज्ञान का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, पुरुषार्थ, मोक्षमार्ग—यह सब एकसाथ आ गया है।

(१३४) निर्मल क्रमबद्धपर्याय कब प्रारम्भ होती है ?

सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; और उसमें वे तद्रूप हैं;—जीव अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है तथापि वह अजीव को उत्पन्न नही करता, इसलिये अजीव के साथ उसे कार्य-कारणपना नहीं है। ऐसा होने पर भी, अज्ञानी अपनी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर न घुमाकर, "मैं पर का करूँ"—ऐसी दृष्टि से अज्ञानरूप परिणमित होता है, और इसलिये वह मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्त होता है। क्रमबद्ध तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नही करता, इसलिये उसकी क्रमबद्ध पर्याय शुद्ध न होकर विकारी होती है। यदि ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो दृष्टि बदल जाये और मोक्षमार्ग की निर्मल क्रमबद्धपर्याय प्रारम्भ हो जाये।

(१३५) "मात्र दृष्टि की भूल है"

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानस्वभाव है, वह स्व-पर का प्रकाशक है, इसलिये पदार्थ जैसे हैं वैसा ही उनको जाननेवाला है, किन्तु किसी को आगे-पीछे करनेवाला नहीं है। भाई! जगत के समस्त पदार्थों में जिस पदार्थ की जिस समय जो अवस्था होना है वह होना ही है, तू किसी परद्रव्य की अवस्था में फेरफार करने की सामर्थ्य नहीं रखता;—तो अब तुझे क्या करना रहा ? अपने ज्ञायकस्वभाव को

चूककर, "मैं पर का कर्ता"—ऐसी दृष्टि में अटका है उसकी कुलांट मारकर ज्ञानस्वभाव की ओर अपनी दृष्टि घुमा! ज्ञायक की ओर दृष्टि करने से क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता रह जाता है; वह ज्ञाता अपने निर्मल ज्ञानादि-परिणामों का तो कर्ता है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता वह नहीं है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो न माने और पर का कर्ता होकर उसकी क्रमबद्धपर्याय को बदलने जाये, तो उस जीव को सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है। जिस प्रकार सर्वज्ञ-भगवान ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करते हैं, किसी के परिणमन को नहीं बदलते, उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता-दृष्टापने का कार्य करना ही है।

पुण्य-पाप अधिकार की १६०वी गाथामें आचार्यदेव कहते हैं कि:—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणावच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥

—यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से ।
संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से ॥ १६० ॥

ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो सर्व का ज्ञायक तथा दर्शक है; किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता, इसीलिये वह अज्ञानरूप से वर्तता है। सर्व को जाननेवाला जो अपना सर्वज्ञस्वभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव, अपने अपराध के कारण उसे स्वयं नहीं जानता, इसलिये ज्ञाता-दृष्टापने का परिणमन न होकर अज्ञान के कारण विकार का परिणमन होता है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता के कारण अमुक रागादि होते हैं और ज्ञान का परिणमन अल्प होता है—उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी को ज्ञाता-दृष्टापने की ही मुख्यता है, ज्ञायक-दृष्टि के परिणमन में राग का कर्तापना नहीं है।

(१३६) "पुरुषार्थ" भी न उड़े...और..."क्रम" भी न टूटे !

अपनी क्रमबद्धपर्याय में ज्ञातापने का कार्य करता हुआ जीव दूसरे का भी कार्य करे—ऐसा नहीं होता, इस प्रकार ज्ञायकजीव अकर्ता है। जड़ या चेतन, ज्ञानी या अज्ञानी,—सब अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप हीं उत्पन्न होते हैं।

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से चारित्रदशा होती है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से आनंद प्रगट होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

देखो, यह वस्तुस्थिति ! पुरुषार्थ भी नहीं उड़ता और क्रम भी नहीं टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है, और वैसी निर्मलदशायें होती जाती हैं, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता नहीं टूटती।

(१३७) अज्ञानी को क्या करना चाहिये ?

प्रश्नः—हम तो अज्ञानी हैं, हमें क्या करना चाहिये ? क्या क्रमबद्ध मानकर बैठे रहें ?

उत्तरः—भाई ! अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वहाँ क्रमबद्ध का भी निर्णय हुआ और अपनी क्रमबद्धपर्याय में जो

निर्मल पर्याय का क्रम था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। स्वसन्मुख पुरुषार्थ से रहित तो क्रमबद्ध की मान्यता भी सच्ची नहीं है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके परिणमित होने से, यद्यपि पर्याय का क्रम आगे–पीछे नहीं होता, तथापि सम्यग्दर्शनादि का परिणमन हो जाता है और अज्ञानदशा छूट जाती है। इसलिये, "अज्ञानी को क्या करना चाहिये"—इसका उत्तर यह है कि अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके अज्ञान दूर करना चाहिये। प्रश्न ऐसा था कि—"क्या हम बैठे रहें ?"—किन्तु भाई ! बैठ रहने की व्याख्या क्या ? यह जड़ शरीर बैठा रहे तो इसके साथ कहीं धर्म का सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी अनादिकाल से राग के साथ एकत्वबुद्धि करके उस राग में ही बैठा है—राग मे ही स्थित है; उसके बदले ज्ञायकस्वभाव में एकता करके उसमें बैठे—अर्थात् एकाग्र हो तो अज्ञान दूर हो और सम्यग्दर्शनादि शुद्धता का अपूर्व क्रम प्रारम्भ हो।—इसका नाम धर्म है।

(१३७) एक बिना सब व्यर्थ !

मैं ज्ञाता ही हूँ और पदार्थ क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले हैं—ऐसा जो नहीं मानता वह केवलीभगवान को, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को, पंचपरमेष्ठी भगवंतों को या शास्त्र को नहीं मानता; जीव–अजीव की स्वतंत्रता या सात तत्त्वों की उसे श्रद्धा नहीं है, मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ की तथा द्रव्य–गुण–पर्याय की, उपादान–निमित्त की या निश्चय-व्यवहार की भी उसे खबर नहीं है। जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं किया उसका कुछ भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो उसमें सभी पक्षों का निर्णय आ जाता है।

(१३८) पंचरूप से परमेष्ठी और उनका फैसला

प्रश्नः—इस सम्बन्ध में आजकल बहुत झगड़े (मतभेद) चल रहे हैं, इसलिये "पंचों" को बीच में रखकर इसका कुछ निपटारा करो न ?

उत्तरः—भाई, पंचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पंच" हैं। ज्ञायक-स्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा

है उसी प्रकार अनादि से पंचपरमेष्ठी भगवान कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमंधरादि भगवंत इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत मानते हों तो भले मानें, किन्तु यहाँ तो पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को पंचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है। पंचपरमेष्ठी भगवन्त इसी प्रकार मानते आये है और इसी प्रकार कहते आये हैं। जिसे पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित होना हो उसे इसी अनुसार मानना पडेगा।

देखो, यह पंचायत का फैसला!

हे भाई! पंचपरमेष्ठीभगवन्तों मे अरिहंत और सिद्ध भगवन्त सर्वज्ञ है, तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले है,—उस सर्वज्ञता को तू मानता है या नही मानता?

—यदि तू वास्तव मे सर्वज्ञता को मानता हो तो उसमे क्रमबद्ध-पर्याय की स्वीकृति भी आ ही गई।

—और यदि तू सर्वज्ञता को न मानता हो, तो तूने पंचों को (-पंचपरमेष्ठीभगवन्तों को) ही वास्तव में नहीं माना है।

"णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणं"—ऐसा प्रतिदिन बोलते हैं, किन्तु अरिहंत और सिद्धभगवान केवलज्ञान सहित हैं, वे तीनकाल तीनलोक को जानते हैं और उसी प्रकार होता है—ऐसा माने तो उस में क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति को और क्रमबद्धपर्याय को जो नहीं मानता वह पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को भी यथार्थस्वरूप से नही मानता। इसलिये जिसे वास्तव मे पचपरमेष्ठी भगवन्तों को पहिचानना हो उसे बराबर निर्णय करके यह बात मानना चाहिये।

—ऐसा पंचों का फैसला है।

(१४०) जीव के अकर्तृत्व की न्याय से सिद्धि

ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव न्याय से सिद्ध करते हैं:—

(१) प्रथम तो जीव और अजीव सभी द्रव्य अपनी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) जो पर्याय होती है उसमें वे तद्रूप हैं;

(३) जीव अपने परिणामरूप से उत्पन्न होता है, तथापि वह पर को (–कर्म को) उत्पन्न नहीं करता, इसलिये उसे पर के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य–उत्पादकभाव के बिना कार्यकारणपना नहीं होता इसलिये जीव कारण होकर कर्म को उत्पन्न करे ऐसा नहीं होता, और—

(५) कारण–कार्यभाव के बिना जीव का अजीव के साथ कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव कर्ता होकर, मिथ्यात्वादि अजीव कर्म को उत्पन्न करे—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

—इसलिये ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता

हुआ ज्ञानी कर्म का अकर्ता ही है। भाई! तू तो ज्ञानस्वभाव! तू अपने ज्ञाता-दृष्टाभावरूप से परिणमित होकर, उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे कर सकता है, किन्तु तू जड़कर्म का कर्ता हो—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। अहो! मैं....ज्ञा...य....क...हूँ....ऐसा अं...त....र् मु.. ख... हो....कर....स....म....झे....तो....जी...व....को...कि....त.... नी...शां....ति....हो....जा....ये....!

(१४१) अजीव में भी अकर्तापना

यहाँ जीव का अकर्तापना समझाने के लिये आचार्यदेव ने जो न्याय दिया है वह सर्व द्रव्यों में लागू होता है। अजीव में भी एक अजीव दूसरे अजीव का अकर्ता है। जैसे कि—पानी उष्ण हुआ वहाँ अग्नि उसका अकर्ता है, वह निम्नानुसार:—

(१) अग्नि और पानी दोनों पदार्थ अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) अपनी-अपनी जो पर्याय होती है उसमें वे तद्रूप हैं;

(३) अग्नि अपने परिणामरूप से उत्पन्न होता है, तथापि वह पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न नहीं करता; इसलिये उसे पानी के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य-उत्पादकभाव के बिना कार्य-कारणपना नहीं होता, इसलिये अग्नि कारण होकर पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न करे—ऐसा नहीं होता; और—

(५) कारण-कार्यभाव के बिना अग्नि का पानी के साथ कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता।

—इसलिये अग्नि पानी की अकर्ता ही है। अग्नि अग्नि की पर्याय में तद्रूप है और उष्ण पानी की अवस्था में वह पानी ही तद्रूप है। इसी प्रकार कुम्हार और घड़ा आदि जगत के समस्त पदार्थों

मे भी उपरोक्तानुसार पाँच बोल लागू करके एक–दूसरे का अकर्ता-पना समझ लेना चाहिये ।

[नोटः—यहाँ जो अग्नि और पानी का दृष्टान्त दिया है, वह जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये नहीं दिया है, किन्तु अजीव का परस्पर अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये दिया है—यह बात लक्ष में रखना चाहिये ।]

(१४२) "....निमित्त कर्ता तो है न ?"

प्रश्नः— जीव कर्ता है या नहीं ?

उत्तरः— हाँ, जीव कर्ता अवश्य है, लेकिन किसका ? कि—अपने ज्ञायकपरिणाम का;—पुद्गलकर्म का नही ।

प्रश्नः— पुद्गल कर्म का निमित्तकर्ता है या नही ?

उत्तरः— नही; ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला जीव मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है। कर्म के निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है उस जीव को ज्ञायकभाव का परिणमन नही है किन्तु अज्ञानभाव का परिणमन है। अज्ञानभाव के कारण ही वह पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता होता है, और वह संसार का ही कारण है।—यह बात आचार्यदेव ने आगे आनेवाली गाथाओं में भलीभाँति समझाई है ।

(१४३) ज्ञाता का कार्य

ज्ञानस्वभावी जीव कर्ता होकर किसी की पर्याय को आगे-पीछे बदल दे ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है; ज्ञातापरिणाम ही ज्ञानी का कार्य है। जिस प्रकार "ईश्वर जगत का कर्ता"—यह बात मिथ्या है, उसी प्रकार जीव पर का कर्ता—यह बात भी मिथ्या है। ज्ञायक-मूर्ति आत्मा स्व-परप्रकाशक है, वास्तव में ज्ञायक तो शुभ–अशुभ-

भावों का भी ज्ञाता ही है; उसमें एकतारूप परिणमित न होने से, किन्तु भिन्न ज्ञानभावरूप परिणमित होने से, वह राग का कर्ता नही है। राग को ज्ञान के साथ एकमेक करके जो उसका कर्ता होता है, उसकी दृष्टि "ज्ञायक" पर नहीं है किन्तु विकार पर है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव हो, वहाँ "अशुभभाव होना थे, किन्तु ज्ञान ने उन्हें बदलकर शुभ कर दिया"—ऐसा जो मानता है उसकी उन्मुखता भी विकार की ओर ही है; ज्ञायक की ओर उसकी उन्मुखता नही है। ज्ञाता तो ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर, अपने अपने ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता हुआ, उस-उस समय के राग को भी ज्ञान का व्यवहारज्ञेय बनाता है, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नही मानता। उस समय जो ज्ञानपरिणमन हुआ (—उस ज्ञान-परिणमन के साथ सम्यक्‌श्रद्धा, आनंद, पुरुषार्थ आदि का परिणमन भी साथ ही है) वही ज्ञाता का कार्य है। इस प्रकार ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञान—आनन्दादि परिणामों का कर्ता है, किन्तु राग का या पर का कर्ता नही है।

(१४४) "अकार्यकारणशक्ति" और पर्याय मे उसका परिणमन

ज्ञानी जानता है कि मुझमे अकार्यकारणशक्ति है; मैं कारण होकर पर का कार्य करूँ और पर वस्तु कारण होकर मेरा कार्य करे—ऐसा पर के साथ कार्यकारणपना मुझे नही है। अरे! अंतर् में ज्ञान कारण होकर राग को कार्यरूप से उत्पन्न करे, अथवा तो राग को कारण बनाकर ज्ञान उसके कार्यरूप से उत्पन्न हो—ऐसा ज्ञान और राग को भी कार्यकारणपना नहीं है।—ऐसी अकार्यकारण-शक्ति आत्मा में है।

प्रश्न:—अकार्यकारणपना तो द्रव्य में ही है न?

उत्तर:—द्रव्य में अकार्यकारणशक्ति है—ऐसा माना किसने?—पर्याय ने। जिस पर्याय ने द्रव्योन्मुख होकर अकार्यकारणशक्ति को

माना, वह पर्याय द्रव्य के साथ अभेद होकर स्वयं भी अकार्यकारण-रूप हो गई है; इस प्रकार पर्याय में भी अकार्यकारणपना है। दूसरे प्रकार से कहा जाये तो—ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर जो पर्याय अभेद हुई उस पर्याय में राग का या पर का कर्तृत्व नहीं है, वह तो ज्ञायकभावरूप ही है।

(१४५) आत्मा पर का उत्पादक नहीं है

देखो, भाई! जिसे अपने आत्मा का हित करने की गरज हुई हो—ऐसे जीव के लिये यह बात है। अन्तर की लोकोत्तरदृष्टि की यह बात है; लौकिक बात के साथ इस बात का मेल नहीं जम सकता। लोकव्यवहार में तो आजकल ऐसी योजनायें चल रही हैं कि—"अनाज का उत्पादन बढ़ाओ और वस्ती का उत्पादन कम करो।" किन्तु यहाँ तो लोकोत्तरदृष्टि की बात है कि भाई! तू पर का उत्पादक नहीं है, तू तो ज्ञान है। "अरे! अभक्ष्य वस्तु खाकर भी अनाज बचाओ"—ऐसा कहनेवाले तो अनार्यदृष्टिवाले हैं;—ऐसों की बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर का उत्पन्न होना रोके— ऐसा माननेवाले भी मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी को तो अन्तर में राग का भी अकर्तृत्व है—यह बात तो अभी इससे भी सूक्ष्म है।

(१४६) "सब मानें तो सच्चा"—यह बात झूठ है। (सच्चे साक्षी कौन ?)

प्रश्न—सब लोग हाँ कहें तो आपकी बात सच्ची है!

उत्तर—अरे भाई! हमारे तो पंचपरमेष्ठी ही पंच हैं, इसलिये जो पंचपरमेष्ठी मानें वह सच है। दुनिया के अज्ञानी लोग भले ही कुछ और मानें।

जैसा प्रश्न यहाँ किया वैसा ही प्रश्न भैया भगवतीदासजी के उपादान-निमित्त के दोहे में किया है; वहाँ निमित्त कहता है कि—

निमित्त कहै मोकों सबै जानते हैं जगलोय;
तेरो नाँव न जानहि उपादान को होय ? ॥ ४ ॥

—हे उपादान ! जगत मे घर-घर जाकर लोगों से पूछें तो सब मेरा ही नाम जानते है—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा सब मानते हैं, किन्तु उपादान क्या है उसका तो नाम भी नहीं जानते।

तब उसके उत्तर मे उपादान कहता है कि—

उपादान कहे रे निमित्त ! तू कहा करै गुमान ?
मोकों जानें जीव वे जो हैं सम्यक्वान ॥ ५ ॥

—अरे निमित्त! तू गुमान किसलिये करता है ? जगत के अज्ञानी लोग मुझे भले ही न जानें, किन्तु जो सम्यक्वंत ज्ञानी जीव है वे मुझे जानते हैं।

निमित्त कहता है कि जगत से पूछें; उपादान कहता है कि ज्ञानी से पूछे।

उसी प्रकार निमित्त फिर से कहता है कि—

कहैं जीव सब जगत के जो निमित्त सोइ होय ।
उपादान की बात को पूछे नाहीं कोय ॥ ६ ॥

—जैसा निमित्त हो वैसा कार्य होता है—ऐसा तो जगत के सभी जीव कहते है, किन्तु उपादान की बात को तो कोई पूछता भी नहीं है ।

तब उसे उत्तर देते हुए उपादान कहता है कि—

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज ।
कहा भयौ जग ना लखे जानत है जिनराज ॥ ८ ॥

—अरे निमित्त ! उपादान के बिना एक भी कार्य नहीं हो सकता, अर्थात् उपादान से ही कार्य होता है।—जगत के अज्ञानी-जीव इसे न जाने उससे क्या हुआ ?—जिनराज तो ऐसा जानते हैं।

उसी प्रकार यहाँ, "आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और उसके ज्ञेयरूप से वस्तु की क्रमबद्धपर्यायें"—यह बात दुनिया के अज्ञानी जीव न

समझे और उसका स्वीकार न करें तो उसमें क्या ? किन्तु पंच-परमेष्ठीभगवन्त उसके साक्षी है; उन्होंने इसी प्रकार जाना है और इसी प्रकार कहा है; और जिस जीव को अपना हित करना हो—पंच-परमेष्ठी की श्रेणी में बैठना हो, उसे यह बात समझकर स्वीकार करना ही पड़ेगी ।

(१४७) "गोशाला का मत ?"—या जैनशासन का मर्म ?

यह तो जैनशासन की मूल बात है। इस बात को "गोशाला का मत" कहनेवाला जैनशासन को नहीं जानता । प्रथम तो "गोशाला" था ही कब ? ओर यह बात तो अनेकों बार स्पष्ट कही जा चुकी है कि ज्ञायकस्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ बिना एकान्त नियत माननेवाला इस क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है । सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की और ज्ञाता हुआ, उसीको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय है, और उसीने जैनशासन को जाना है।

(१४८) कर्ता—कर्म का अन्य से निरपेक्षपना

उत्पाद्यवस्तु स्वयं ही अपनी योग्यता से उत्पन्न होती है, अन्य कोई उत्पादक नही है; वस्तु मे ही वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं परिणमित होने की शक्ति है—वैसी अवस्था की योग्यता है—वैसा ही स्वकाल है; तो उसमें दूसरा क्या करे ? और यदि वस्तु में स्वयं में वैसी शक्ति न हो—योग्यता न हो—स्वकाल न हो तो भी दूसरा उसमें क्या करे ? इसलिये अन्य से निरपेक्षपने से ही कर्ता—कर्मपना है । पहले कर्ता—कर्म अधिकार में आचार्यदेव यह बात कह गये हैं कि "स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नही किया जा सकता; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वय न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता । और स्वयं परिणमित को तो पर परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती ।" (देखो, गाथा ११६ से १२५)

(१४९) सर्वत्र उपादान का ही बल

पुनश्च, पं. बनारसीदासजी भी कहते है कि :—

उपादान बल जहाँ—तहाँ, नहि निमित्त को दाव ।
एक चक्रसों रथ चले, रविको यहै स्वभाव ॥ ४ ॥

—जहाँ देखो वहाँ उपादान, का ही बल है, अर्थात् योग्यता से ही कार्य होता है, उसमें निमित्त का कोई दाव-पेच नहीं है; "निमित्त के कारण कार्य हुआ"—ऐसा निमित्त का दाव या बारी कभी आती ही नहीं, जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही दाव है। "ऐसा क्यों?" कहते है—उपादान की वैसी ही योग्यता। "निमित्त के कारण हुआ?" —कहते है नहीं।

(१५०) "–निमित्त बिना........??"

प्रश्न :—निमित्त कुछ नही करता यह मत्र, किन्तु क्या निमित्त के बिना होता है?

उत्तर :— हाँ, भाई! उपादान के कार्य में तो निमित्त का अभाव है, इसलिये वास्तव में निमित्त के बिना ही कार्य होता है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह निमित्त मे है, उपादान में तो उसका अभाव ही है, उस अपेक्षा से निमित्त बिना ही होता है।

—ऐसी बात आये वहाँ उपादान-निमित्त का भेदज्ञान समझने के बदले कुछ विपरीत दृष्टिवाले जीव कहते हैं कि—"अरे! निमित्त का निषेध हो जाता है!" भाई रे! इसमें निमित्त के अस्तित्व का निषेध नहीं होता, निमित्त तो निमित्तरूप से ज्यों का त्यों रहता है। तू निमित्त को निमित्त रूप से रख, उसे उपादान में मत मिला। अज्ञानी निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध को कर्ताकर्मरूप से मानकर, उपादान-निमित्त की एकता कर डालते हैं।

"—कार्य होता तो है उपादान से, किन्तु कहीं निमित्त के बिना होता है?

—शरीर की क्रिया होती शरीर से है, किन्तु कहीं जीव के बिना होती है ?

—विकार करता है जीव स्वयं, किन्तु कही कर्म के बिना होता है?

—ज्ञान होता है स्वयं से, किन्तु कहीं गुरु के बिना होता है ?

—मोक्ष होता है जीव के उपादान से, किन्तु कहीं मनुष्यदेह के बिना होता है ?"

—इस प्रकार कितने ही दलील करते है; किन्तु भाई ! उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होना है—ऐसा जो वास्तव में जानता है उसे इसका भी ज्ञान होता है कि परनिमित्त कैसा होता है; इसलिये "निमित्त के बिना.." का प्रश्न उसे नही रहता । वह तो जानता है कि उपादान मे कार्य होता है, और वहाँ योग्य निमित्त होता ही है,—"गतेः धर्मास्तिकायवत् ।" (देखो श्री. पूज्यपादाचार्यदेवकृत इष्टोपदेश गाथा–३५)

जो जीव स्व-पर दो वस्तुओं को मानता ही नही, निमित्त को जानता ही नहीं, ऐसे अन्यमतों को निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये "निमित्त के बिना नही होता"—ऐसी दलील से समझाया जाता है; किन्तु जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान की बात चलती हो, उपादान–निमित्त की स्वतन्त्रता का वर्णन चलता हो, वहाँ बीच मे "निमित्त के बिना नही होता"—यह दलील रखना तो निमित्ताधीनदृष्टि ही सूचित करता है । "निमित्त होता ही है" फिर "निमित्त के बिना नहीं होता"—इस दलील का क्या काम है ?

प्रवचनसार गाथा १६० मे आचार्यदेव कहते है कि वास्तव में मै शरीर, वाणी और मन को आधारभूत नहीं हूँ, उनका कारण मैं नहीं हूँ, उनका कर्ता, प्रयोजक या अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ; मेरे बिना ही, अर्थात् मै उन शरीरादि का आधार हुए बिना, कारण हुए बिना, कर्ता हुए बिना, प्रयोजक या अनुमोदक हुए बिना, वे स्वयं

अपने-अपने से ही होते है, इसलिये मैं उन शरीरादि का पक्षपात छोड़कर (अर्थात् मेरे निमित्त बिना वे नहीं हो सकते—ऐसा पक्षपात छोड़कर) अत्यंत मध्यस्थ-साक्षीस्वरूप—ज्ञायक हूँ।

(देखो, प्रवचनसार गाथा १६०)

(१५१) इस उपदेश का तात्पर्य और उसका फल

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! सर्व द्रव्यों को दूसरे के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है इसलिये तू ज्ञाता ही रह। "मै ज्ञान हूँ"—ऐसा निर्णय करके जो स्वसन्मुख ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव अपने सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि कार्यरूप से उत्पन्न होता है इसलिये उसका उत्पादक है, किन्तु कर्मादि पर का उत्पादक नही है।—इसप्रकार जीव को स्वभावसन्मुख दृष्टि करके निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने के लिये यह उपदेश है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख दृष्टि करके परिणमित हुआ वहाँ—

ज्ञानगुण अपने निर्मल परिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ,

श्रद्धागुण अपने सम्यग्दर्शनपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

आनन्दगुण अपने आनंदपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

—इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर परिणमित होने से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादि समस्त गुणों की निर्मल परिणमनधारा बढ़ने लगी।—यह है ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का फल!

❀ सातवाँ प्रवचन ❀

[आश्विन शुक्ला १, वीर सं. २४८०]

> एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय—इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवली-भगवान का उदर है, सन्तों का हार्द है, शास्त्रों का मर्म है, विश्व का दर्शन है और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।
>
> अज्ञानी कहते हैं कि यह "छूत की बीमारी" है तब यहाँ कहते हैं कि यह तो सर्वज्ञ का हार्द है; जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता ही हूँ"—ऐसा उसे निर्णय हो गया।

(१५२) अधिकार का नाम

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पहली चार गाथाओं की वचनिका हो रही है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार कहो, ज्ञायकद्रव्य का अधिकार कहो, या क्रमबद्धपर्याय का अधिकार कहो; जहाँ ज्ञायकद्रव्य को पकड़कर ज्ञान एकाग्र हुआ वहाँ वह ज्ञान सर्वविशुद्ध हो गया, और उस ज्ञान के विषयरूप से सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय है उसका भी उसे निर्णय हो गया।

(१५३) "क्रमबद्ध" और "कर्मबन्ध"!

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय की बात छह दिन से चल रही है, और आज सातवाँ दिन है; बहुत–बहुत पक्षों से स्पष्टीकरण हो गया है; तथापि कुछ लोगों को यह बात समझना कठिन मालूम होता है। कोई तो कहते हैं कि—"महाराज! आप क्या कहते हो, "कर्मबंध" मानना यह सम्यग्दर्शन है—ऐसा आप कहते हो?"– अरे भाई! यह "क्रमबद्ध" अलग और "कर्मबंध" अलग! दोनों के बीच विशाल

अन्तर है। कर्मबंधरहित ज्ञायकस्वभाव कैसा है और वस्तु की पर्याय में क्रमबद्धता किस प्रकार है उसे पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हो। इस "क्रमबद्ध" को समझ ले तो "कर्मबंध" का नाश हो, और जो "क्रमबद्ध" को न समझे उसे "कर्मबंध" होता है।

(१५४) "ज्ञायक" और "क्रमबद्ध" दोनों का निर्णय एकसाथ

जीव में या अजीव में प्रतिसमय जो क्रमबद्धपर्याय होना है वही होती है; पहले होनेवाली पर्याय बाद में नही होती, और बाद में होनेवाली पर्याय पहले नहीं होती। अनादि-अनंत कालप्रवाह के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं; उनमें जिस समय जिस पर्याय का नम्बर (क्रम) है उस समय वही पर्याय होती है। जिस प्रकार सात वारों में रविवार के बाद सोमवार और फिर मंगलवार–इस प्रकार ठीक क्रमबद्ध हो आते हैं उल्टे सीधे नही आते; उसी प्रकार एक से सौ तक के नबरों में १ के बाद २, ५० के बाद ५१, ९९ के बाद १००,—इस प्रकार सब क्रमबद्ध ही आते हैं; उसी प्रकार द्रव्य की क्रमबद्धपर्यायों में जो ५१वी पर्याय होगी वह ५०वीं या ५२वी नहीं होगी, और जो '५२'वी हो वह ५१वी नही होती। अर्थात् पर्याय के क्रमबद्धपने में कोई भी पर्याय बीच मे हटकर आगे-पीछे नहीं होती। जिस प्रकार पदार्थ की पर्याय का ऐसा क्रमबद्धस्वरूप है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वरूप है। मैं सर्वविशुद्धज्ञानमात्र ज्ञायक हूँ—ऐसे ज्ञायकस्वरूप के निर्णय के साथ क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाता है। आत्मा का ज्ञायकस्वरूप और पर्यायों का क्रमबद्धस्वरूप—इन दो में से एक को भी न माने तो ज्ञान और ज्ञेय का मेल नही रहता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय—इन दोनों का निर्णय एकसाथ ही होता है।—कब होता है?—जब ज्ञानस्वभाव की ओर ढले तब।

(१५५) यह बात किसे परिणमित होती है?

अभी तो जिसने यथार्थ गुरुगम से ऐसी बात का श्रवण भी

नहीं किया है, वह उसका ग्रहण और धारण तो कहाँ से करेगा ? और सत्य का ग्रहण तथा धारण किये बिना ज्ञानस्वभावसन्मुख होकर उसकी रुचि का परिणमन कहाँ से होगा ? यहाँ ऐसा कहना है कि अभी जो विपरीत बात का श्रवण और पोषण कर रहे हैं, उनके सत्यरुचि के परिणमन की योग्यता नहीं है। जिसके अंतर की महान पात्रता और पुरुषार्थ हो उसीको यह बात परिणमित होती है।

(१५६) धर्म का पुरुषार्थ

उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत्, और सत् वह द्रव्य का लक्षण है; उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात का समावेश हो जाता है; क्रमबद्धपर्याय के बिना उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते। प्रत्येक पर्याय का उत्पाद अपने-अपने काल में एक समय पर्यन्त सत् है। अकेली पर्याय पर या राग पर दृष्टि रखकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता, किन्तु ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। अनेक लोगों को ऐसा प्रश्न उठता है कि—क्रमबद्ध-पर्याय में धर्म का पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ? उनसे कहते हैं कि भाई ! सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के अंतरपुरुषार्थ बिना यह बात निश्चित ही नहीं होती। "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी दृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान करेगा कौन ? ज्ञान के निर्णय बिना ज्ञेय का निर्णय होता ही नहीं। ज्ञान के निर्णय सहित क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो अनन्त पदार्थों में कहीं भी फेरफार करने का अनन्त अहंकार दूर हो जाये और ज्ञातारूप ही रहे।—इसीमें मिथ्यात्व के और अनन्तानुबन्धी-कषाय के नाश का पुरुषार्थ आ गया। यही धर्म के पुरुषार्थ का स्वरूप है, अन्य कोई बाहर का पुरुषार्थ नहीं है।

(१५७) "क्रमबद्ध" का निर्णय और उसका फल

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किसे होता है ? और उसका फल क्या ?

—जिसकी बुद्धि ज्ञायकभाव में एकाग्र हुई है, और राग में या पर का फेरफार करने की मान्यता में रुक गई नहीं है, उसीको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ है, और उस निर्णय के साथ उसे पुरुषार्थादि पाँचों समवाय (पूर्वोक्त प्रकार से) आ जाते हैं। और, स्वसन्मुख होकर वह निर्णय करते ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का क्रमबद्धप्रवाह प्रारम्भ हो जाता है—यही उसका फल है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, या मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो,—तीनों एकसाथ ही हैं; उनमें से एक हो और दूसरे दो न हों—ऐसा नहीं हो सकता।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, उसका जो अनादि अनन्त जीवन है उसमें तीनोकाल की पर्यायें एकसाथ प्रगट नहीं हो जातीं, किन्तु एक के बाद एक प्रगट होती है, और प्रत्येक समय की पर्याय व्यवस्थित क्रमबद्ध है। ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय हुआ और अपने ज्ञानमें वैसा सर्वज्ञता का सामर्थ्य है—उसका भी निर्णय हो गया। ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता में इन सबका निर्णय एकसाथ हो जाता है। अक्रम ऐसे ज्ञायकस्वभावी द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उसका निर्णय करने से पर्याय की क्रमबद्धता का निर्णय भी हो जाता है; अक्रमरूप अखण्ड द्रव्य की दृष्टि बिना पर्याय की क्रमबद्धता का यथार्थज्ञान नहीं होता।

भगवान ! द्रव्य त्रिकाली सत् है, और पर्याय एक-एक समय का सत् है; वह सत् जैसा है उसे वैसा ही जानने का तेरा स्वभाव है; किन्तु उसमें कहीं उलटा-सीधा करने का तेरा स्वभाव नहीं है। अरे, सत् में "ऐसा क्यों ?"—इस प्रकार विकल्प करने का भी तेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है और उसमें मोक्षमार्ग के पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(१५८) यह है संतों का हार्द

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव, और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय, —इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है, वह मूल वस्तु-धर्म है, वह केवलीभगवान का उदर है, संतों का हार्द है, शास्त्रों का मर्म है, विश्व का दर्शन है, और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह "छूत की बीमारी है, तब यहाँ कहते हे कि यह सर्वज्ञ का हार्द है; जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता हूँ" —ऐसा उसे निर्णय हो गया।

अभी जिन्होंने ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं किया, अरे! यह बात सुनी भी नहीं, और यों ही त्यागी या व्रतपना लेकर धर्म मान लिया है, उन्हें धर्म तो नहीं है, किन्तु धर्म की रीति क्या है—इसकी भी उन्हें खबर नहीं है।

(१५९) जो यह बात समझ ले उसकी दृष्टि बदल जाती है

यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की बात है, इसलिये ज्ञानस्वभाव का निर्णय क्या, पुरुषार्थ क्या, सम्यग्दर्शन क्या,—यह सब साथ ही आ जाता है, और इस दृष्टि में तो गृहीत या अगृहीत दोनों मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं करता, पुरुषार्थ को नहीं मानता, सम्यग्दर्शन नहीं करता और "जो होना होगा वह होगा"—इस प्रकार एकान्त नियत को पकड़कर स्वच्छन्दी होता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है, ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है। यह बात समझे उसे ऐसा स्वच्छन्द रहता ही नहीं, उसकी तो दृष्टि का सारा परिणमन ही बदल जाता है।

(१६०) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की ही मुख्यता

द्रव्यदृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता; क्योंकि

क्रमबद्धपना समय-समय की पर्याय में है, और छद्मस्थ का उपयोग असंख्य समय का है, उस असंख्य समय के उपयोग में एक-एक समय की पर्याय पृथक् करके नही पकड़ी जा सकती, किन्तु ध्रुव-ज्ञायकस्वभाव में उपयोग एकाग्र हो सकता है। इसलिये समय-समय की पर्याय का क्रमबद्धपना पकड़ते हुए उपयोग अन्तरोन्मुख होकर ध्रुवज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञायक की प्रतीति में क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी हो जाती है।—इस प्रकार इसमें ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मुख्य है।

(१६१) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान और वैसी ही वाणी

देखो, यह वस्तुस्वरूप! पदार्थ का जैसा स्वरूप हो वैसा ही ज्ञान जाने, तो वह ज्ञान सच्चा हो। समस्त पदार्थों की तीनोंकाल की पर्यायें क्रमबद्ध है,—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है; सर्वज्ञभगवान ने केवलज्ञान में प्रत्यक्ष इस प्रकार जाना है और वाणी मे भी वैसा ही कहा है: इस प्रकार पदार्थ, ज्ञान और वाणी तीनो समान हैं। पदार्थों का जैसा स्वभाव है वैसा ही ज्ञान में देखा, और जैसा ज्ञान में देखा वैसा ही वाणी में आया;—ऐसे वस्तुस्वरूप से जो विपरीत मानता है—आत्मा कर्ता होकर पर की पर्याय बदल सकता है—ऐसा मानता है वह पदार्थ के स्वभाव को नही जानता; सर्वज्ञ के केवलज्ञान को नहीं जानता और सर्वज्ञ के कहे हुए आगम को भी वह नहीं जानता; इसलिये देव-गुरु-शास्त्र को उसने वास्तव में नहीं माना है।

इस "क्रमबद्धपर्याय" के सम्बन्ध मे आजकल अनेक जीवों का कुछ निर्णय नहीं है, और बड़ी गड़बड़ी चल रही है, इसलिये यहाँ अनेकानेक प्रकारों से उसकी स्पष्टता की गई है।

(१६२) स्वच्छन्दी के मत का मेल (१)

प्रश्न:—आप कहते है कि जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा होगा वैसा क्रमबद्ध होगा; तो फिर हमारी पर्याय में मिथ्यात्व भी जैसा क्रमबद्ध होना होगा वैसा होगा!

उत्तर :—अरे मूढ ! तुझे सर्वज्ञ को मानना नहीं है और स्वच्छंद का पोषण करना है !—निकाल दे अपने मन का मैल !! सर्वज्ञ का निर्णय करे और मिथ्यात्व भी रहे—यह कहाँ से लाया ? तूने सर्वज्ञ का निर्णय ही नही किया है। इसलिये अंतर का मैल निकाल दे... गोटे निकाल दे और ज्ञानस्वभाव के निर्णय का उद्यम कर। ज्ञान-स्वभाव के निर्णय बिना "क्रमबद्ध" की बात तू कहाँ से लाया ? मात्र "क्रमबद्ध" शब्द को पकड़ रखने से नही चलेगा। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्ध को माने तो अपनी पर्याय मे मिथ्यात्व रहने का प्रश्न ही न उठे, क्योंकि उसकी पर्याय तो अतर्स्वभावोन्मुख हो गई है, उसे अब मिथ्यात्व का क्रम हो ही नही सकता, और सर्वज्ञभगवान भी ऐसा देख ही नही सकते।

जिसे ज्ञानस्वभाव का भान नही है, सर्वज्ञदेव का निर्णय नही है और उस प्रकार का उद्यम भी नहीं करता, विकार की रुचि नही छोड़ता और मात्र भाषा में "क्रमबद्धपर्याय" का नाम लेकर स्वच्छन्दी होना है, वैसा जीव तो अपने आत्मा को ही ठगता है। अरे ! जो परमवीतरागता का कारण है उसकी ओट लेकर स्वच्छन्द का पोषण करता है यह तो महान विपरीतता है।

(१६३) स्वच्छन्दी के मन का मैल (२)

एक त्यागी—पंडितजी ने विद्यार्थी पर खूब क्रोध किया; जब किसीने उनसे कहा तो वे बोले कि—"अरे भैया ! तुमने गोम्मटसार नही पढ़ा, गोम्मटसार में ऐसा लिखा है कि जब क्रोध का उदय आता है तब क्रोध हो ही जाता है।" देखो, यह गोम्मटसार पढ़कर सार निकाला ! अरे भाई ! तू गोम्मटसार की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्द की पुष्टि करनेवाले के लिये वह कथन नही है। पहले तो क्रोधादिकषाय होने का भय रहता था और अपने दोषों की निंदा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नही रहा ! भाई !

शास्त्र का उपदेश तो वीतरागता के लिये होना है या कषाय बढ़ाने के लिये ? अज्ञानदशा में जैसा कषाय था वैसे ही कषाय में खड़ा हो तो उसने शास्त्र पढ़े ही नहीं; भले हो वह गोम्मटसार का नाम ले, किन्तु वास्तव में वह गोम्मटसार को नहीं मानता।

(१६४) स्वच्छन्दी के मन का मैल'(३)

—इसी प्रकार अब इस क्रमबद्धपर्याय की बात में लो। कोई जीव रुचिपूर्वक तीव्र क्रोधादिभाव करे और फिर कहे कि—"क्या किया जाये भाई ? हमारी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही होना थी!" क्रमबद्धपर्याय सुनकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने के बदले, यदि ऐसा सार निकाले तो वह स्वच्छंदी है, वह क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नही है। अरे भाई ! तू क्रमबद्धपर्याय की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छद का पोषण करनेवाले के लिये यह बात नहीं है। पहले तो क्रोधादि कषाय का भय रहता था और अपने दोषों की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नहीं रहा ? भाई रे ! यह क्रमबद्धपर्याय का उपदेश तो अपने ज्ञायकभाव की दृष्टि करने के लिये है या विकार की रुचि का पोषण करने के लिये ? जो विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की दृष्टि नहीं करता वह जीव क्रमबद्धपर्याय की बात समझा ही नही है; भले ही क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, किन्तु वास्तव में वह क्रमबद्धपर्याय को मानता ही नहीं है।

इसलिये हे भाई ! अपने मन का मैल निकाल दे, स्वच्छन्द का बचाव छोड़ दे और विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का उद्यम कर।

(१६५) सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा !

प्रश्न:—क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ कैसे होती है ?

उत्तर:—"मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञाता की ओर ढलकर, अपनी दृष्टि को ज्ञायकस्वभाव की ओर मोड़ दे उसीको क्रमबद्धपर्याय की

सच्ची समझ होती है, इसके सिवा नहीं होती। इस प्रकार क्रमबद्ध-पर्याय माननेवाले की दृष्टि क्रोधादि पर नही होती, किन्तु ज्ञायक पर ही होती है; और ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में क्रोधादि नहीं रहते। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का ऐसा परिणमन हुए बिना जीव को सच्चा सन्तोष और समाधान नहीं होता; और सम्यक्त्वी को ऐसी दृष्टि का परिणमन होने से उनके सब समाधान हो गये हैं; ज्ञायकपने के परिणमन में उन्हें किसीका अभिमान भी नहीं रहा, और अपने में प्रमाद भी नही रहा तथा उतावल भी न रही। ज्ञातापने के परिणमन की ही धारा चल रही है उसमे व्याकुलता भी कैसी ? और प्रमाद भी कैसा ?—ऐसी सम्यक्त्वी की अद्‌भुत दशा है।

(१६६) ज्ञातापने से च्युत होकर अज्ञानी कर्ता होता है

एक ओर ज्ञाता–भगवान, और सामने पदार्थों का क्रमबद्धपरि-मन—उनका आत्मा ज्ञाता ही है, ऐसा मेल है; उसके बदले वह मेल तोड़कर (अर्थात् स्वयं अपने ज्ञातास्वभाव से च्युत होकर) जो जीव कर्ता होकर पर के क्रम को बदलना चाहता है, वह जीव पर के क्रम को तो नही बदल सकता किन्तु उसकी दृष्टि में विषमता (मिथ्यात्व) होती है। ज्ञायकपने का निर्मल प्रवाह चलना चाहिये उसके बदले विपरीतदृष्टि के कारण वह विकार के कर्तृत्वरूप से परिणमित होता है।

(१६७) सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान कब होते हैं ?

जिसे अपना हित करना हो,—ऐसे जीव के लिये यह बात है। हित सत्य से होता है किन्तु असत्य से नहीं होता। सत्य के स्वीकार बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता, और सम्यक्ज्ञान के बिना धर्म या हित नहीं होता। जिसे अपने ज्ञान में से असत्यपना टालकर सत्यपना करना हो उसे क्या करना चाहिये ?—उसकी यह बात है।

जैसा पदार्थ है वैसी ही उसकी श्रद्धा करे, और जैसी श्रद्धा है वैसा ही पदार्थ हो, तो वह श्रद्धा सच्ची है; इसी प्रकार जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका ज्ञान करे, और जैसा ज्ञान करे, वैसा ही पदार्थ हो—तो वह ज्ञान सच्चा है ।

"आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायकपना ही जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप है, और पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं परिणमित होनेवाले हैं; यह "ज्ञायक" अपने ज्ञानसहित उनका ज्ञाता है, किन्तु वह किसी के क्रम को बदलकर आगे-पीछे करनेवाला नहीं है"—ऐसे वस्तुस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करे तो वे श्रद्धा-ज्ञान सच्चे हों, इसलिये हित और धर्म हो ।

(१६८) मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान का विषय जगत में नहीं है

—किन्तु कोई ऐसा माने कि "मैं कर्ता होकर पर की अवस्था को बदल दूँ, अर्थात् मेरा पर के साथ कार्यकारणपना है"—तो उसकी मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसकी मान्यतानुसार वस्तुस्वरूप जगत में नहीं है । मिथ्याश्रद्धा का (और मिथ्याज्ञान का) विषय जगत में नहीं है । जिस प्रकार जगत में "गधे का सींग" कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिये "गधे का सींग" ऐसी श्रद्धा या ज्ञान वह मिथ्या ही है । उसी प्रकार "पर के साथ कार्यकारणपना हो"—ऐसी कोई वस्तु ही जगत में नहीं है, तथापि "मैं पर का करूँ"—इस प्रकार जो पर के साथ कार्यकारणपना मानता है उसकी श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या ही है; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार कोई विषय जगत में नहीं है । यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि—जिस प्रकार "गधे का सींग" और पर के साथ कार्यकारणपना जगत में नहीं है उसी प्रकार मिथ्या श्रद्धा भी नहीं है । मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान तो अज्ञानी की पर्याय में हैं, किन्तु उसकी श्रद्धानुसार वस्तुस्वरूप जगत में नहीं है । अज्ञानी की पर्याय में मिथ्या श्रद्धा तो "सत्" है, किन्तु उसका विषय "असत्" है अर्थात् उसका कोई विषय जगत में नहीं है ।

देखो, यहाँ कहा है कि–"मिथ्याश्रद्धा सत् है" इसका क्या मतलब?—कि जगत में मिथ्याश्रद्धा का अस्तित्व (सत्पना) है, मिथ्याश्रद्धा है ही नहीं—ऐसा नहीं है; किन्तु उस मिथ्याश्रद्धा के अभिप्रायानुसार कोई वस्तु जगत में नहीं है। यदि उस श्रद्धानुसार वस्तु का स्वरूप हो तो उसे मिथ्याश्रद्धा न कहा जाये।

(१६९) इसमें क्या करना आया?

यहाँ एक बात चल रही है कि आत्मा का ज्ञायकपना और सर्व वस्तुओं की पर्यायों का क्रमबद्धपना माने बिना श्रद्धा–ज्ञान सच्चे नहीं होते, और सच्चे श्रद्धा–ज्ञान बिना हित या धर्म नहीं होता।

कोई पूछे कि इसमें क्या करना आया?–तो उसका उत्तर यह है कि–पहले पर का कर्तृत्व मानकर विकार में एकाग्र होता था, उसके बदले अब ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करके ज्ञाता–दृष्टा रहा। उस ज्ञाता-दृष्टापने में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी साथ ही है।

(१७०) ज्ञायकसन्मुख दृष्टि का परिणमन ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ

ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके जिसने क्रमबद्धपर्याय मानी उसके स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी साथ ही आ गया है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख जो परिणमन हुआ उसमें पुरुषार्थ कहीं अलग नहीं रह जाता; पुरुषार्थ भी साथ ही परिणमित होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वसन्मुख पुरुषार्थ, या सम्यग्दर्शन–यह सब कहीं पृथक्–पृथक् नहीं हैं किन्तु एक ही हैं। इसलिये कोई ऐसा कहे कि "हमने ज्ञायक का और क्रमबद्ध का निर्णय तो कर लिया, किन्तु अभी सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना बाकी है," तो उसका निर्णय सच्चा नहीं है; क्योंकि यदि ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो तो सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ उसमें आ ही जाता है।

(१७१) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह

स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वमाव का आश्रय करने से मुनिदशा होती है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से शुक्लध्यान होता है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से केवलज्ञान और मोक्षदशा होती है, तथापि वह भी क्रमबद्ध है।

इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह चलता है। जो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नहीं करता उसे क्रमबद्ध-पर्याय में निर्मल प्रवाह प्रारंभ नहीं होता, किन्तु मिथ्यात्व चालू ही रहता है। स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय किये बिना किसीको भी निर्मलपर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाये—ऐसा नहीं होता।

(१७२) अकेले ज्ञायक पर ही जोर

देखो, इसमें जोर कहाँ आया? अकेले ज्ञायकस्वभाव के अवलंबन पर ही सारा जोर आया। कालप्रवाह की ओर देखकर बैठा रहना नहीं आया किन्तु ज्ञायक की ओर देखकर उसमें एकाग्र होना आया। ज्ञानी की दृष्टि का जोर निमित्त पर, राग पर या भेद पर नहीं है, किन्तु अक्रम ऐसे चैतन्यभाव पर ही उसकी दृष्टि का जोर है; और वही सच्चा पुरुषार्थ है। अंतर में अपने ज्ञायकस्वभाव को ही स्वज्ञेय बनाकर ज्ञान एकाग्र हुआ, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष का कारण है।

(१७३) तुझे ज्ञायक रहना है या पर को बदलना है?

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ उसका

फल वीतरागता है, और वहीं जैनशासन का सार है। जिन्हें ज्ञान-स्वभाव की खबर नहीं है, सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है;—ऐसे लोग इस "क्रमबद्धपर्याय" के सम्बंध में ऐसी दलील करते हैं कि—"ईश्वर का कर्तृत्व माने वहाँ तो भक्ति आदि से ईश्वर को संतुष्ट करके उसमें फेरफार भी कराया जा सकता है, किन्तु यह क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत तो इतना कठिन है कि ईश्वर भी इसमें फेरफार नहीं कर सकता!"—अरे भाई! तुझे अपने में ज्ञायकरूप से रहना है या किसी में फेरफार करने जाना है? क्या पर में कहीं फेर-फार करके तुझे सर्वज्ञ का ज्ञान मिथ्या सिद्ध करना है। तुझे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को मानना है या नहीं? ज्ञानस्वभावी आत्मा के पास से ज्ञाता–दृष्टापने के अतिरिक्त दूसरा कौनसा काम तुझे लेना है? ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभावरूप से परि-णमित होने में संपूर्ण मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है।

(१७४) ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं, और उसमें पाँचों समवाय आजाते हैं

एक बार ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो ज्ञातापना होजाये और पर के कर्तृत्व का अभिमान उड़ जाये; इसलिये पर के प्रति एकत्वबुद्धि के अनन्तानुबंधी राग–द्वेष, हर्ष–शोक का तो भुक्का हो गया। राग का और पर का संग छोड़कर, अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का सग करे उसे ज्ञेयों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है इसलिये वह ज्ञाता ही रहता है; एकत्वबुद्धिपूर्वक के राग–द्वेष उसे कहीं होते ही नहीं। शिष्य की ज्ञानादि पर्याय उसके अपने से क्रम-बद्ध होती है, मैं उसका क्या करूँ?—मै तो ज्ञाता ही हूँ;—ऐसा जाना वहाँ ज्ञानी को उसके प्रति एकत्वबुद्धि से राग या द्वेष (–शिष्य होशियार हो तो राग, और उसे न आये तो द्वेष) होता ही नहीं; और इस प्रकार ज्ञानी को कहीं भी एकत्वबुद्धि से रागादि नहीं होते; उसके तो अपने ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि से निर्मल ज्ञानादिपरिणाम ही होते हैं।

ज्ञायकभाव का जो परिणमन हुआ वही उसका स्वकाल है, वही उसका नियत है, वही उसका स्वभाव है, वही उसका पुरुषार्थ है, और उसमें कर्म का अभाव है। इस प्रकार ज्ञायकभाव के परिणमन में ज्ञानी के एक साथ पाँचों समवाय आ जाते हैं।

(१७५) यहाँ जीव को उसका ज्ञायकपना समझाते हैं

जीव क्रमबद्ध अपनी ज्ञानादि पर्यायरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसे अपनी पर्याय के साथ कार्य—कारणपना है, किन्तु पर के साथ कारण–कार्यपना नहीं है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के कारण–कार्य का अभाव है। इस द्रव्य में अपनी क्रमबद्धपर्याय का कार्य-कारणपना प्रतिसमय हो रहा है, और उसी समय सामने जगत के अन्य द्रव्यों में भी अपनी–अपनी पर्याय का कारण–कार्यपना बन ही रहा है; किन्तु सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ कारण–कार्यपने का अभाव है। ऐसी वस्तुस्थिति समझे तो, मैं कारण होकर पर का कुछ भी कर दूँ—ऐसा गर्व कहाँ रहता है? यह समझे तो भेदज्ञान होकर ज्ञायकस्वभावोन्मुखता हो जाये। जीव को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख करने के लिये यह बात समझाते हैं। जिसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर नहीं है, प्रत्येक वस्तु क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं ही उत्पन्न होती है—उसकी जिसे खबर नहीं है, और रागादि द्वारा पर की अवस्था में फेरफार करना मानता है ऐसे जीव को समझाते हैं कि अरे जीव! तेरा स्वरूप तो ज्ञान है; जगत के पदार्थों की जो क्रमबद्धअवस्था होती है उसका तू बदलनेवाला या करनेवाला नहीं है किन्तु जाननेवाला है; इसलिये अपने ज्ञातास्वभाव की प्रतीति कर और ज्ञातारूप से ही रह;—अर्थात् ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र हो; यही तेरा सच्चा कार्य है।

(१७६) जीव को अजीव के साथ कारण–कार्यपना नहीं है।

जगत के पदार्थों में स्वाधीनरूप से जो क्रमबद्धअवस्था होती

है वही उनकी व्यवस्था है, उस व्यवस्था को आत्मा नहीं बदल सकता। जीव अपने ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ, साथ में अजीव की अवस्था को भी कर दे ऐसा नहीं होता। आत्मा और जड़ दोनों में प्रतिसमय अपना-अपना नया-नया कार्य उत्पन्न होता है, और वे स्वयं उसमें तद्रूप होने से उसका कारण हैं; इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को अपने में समय-समय नया-नया कार्य-कारणपना बन ही रहा है; तथापि उन्हें एक–दूसरे के साथ कार्य–कारणपना नहीं है। जैसा ज्ञान हो वैसी भाषा निकलती हो अथवा जैसे शब्द हों वैसा ही यहाँ ज्ञान होता हो तथापि ज्ञान को और शब्द को कारण–कार्य-पना नही है। इच्छानुसार भाषा निकाले वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे कारण भाषा बोली गई; अथवा शब्दों के कारण मुझे वैसा ज्ञान हुआ—ऐसा वह मानता है; किन्तु दोनों के स्वाधीन परि-णमन को वह नही जानता। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय नये–नये कारण-कार्यरूप से परिणमित होती है और निमित्त भी नये-नये होते हैं, तथापि उनको परस्पर कार्य–कारणपना नही है; अपने कार्य–कारण अपने मे और निमित्त के कारण–कार्य निमित्त में। भेदज्ञान से ऐसा वस्तुस्वरूप जाने तो ज्ञान का विषय सच्चा हो, इसलिये सम्यग्ज्ञान हो जाये।

(१७७) भूले हुओं को मार्ग बतलाते हे, रोगी का रोगहे मिटाते

ज्ञायकस्वभाव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, उसके बदले क्रमबद्ध को एकान्त–नियत कहकर जो उसका निषेध करता है वह अपने ज्ञायकत्व का ही इन्कार करता है और केवलज्ञान को उड़ाता है। भाई! तू एकबार अपने ज्ञायकत्व का तो निर्णय कर... ज्ञायक का निर्णय करने से तुझे क्रमबद्ध की प्रतीति भी हो जायेगी, इसलिये अनादि-कालीन विपरीत परिणमन छूटकर सीधा सम्यक् परिणमन प्रारंभ हो जायेगा। इस प्रकार विपरीतमार्ग से छुड़ाकर स्वभाव के सीधे मार्ग

पर चढ़ाने की यह बात है। जिस प्रकार कोई लग्नमंडप में जाने के बदले स्मशान में जा पहुँचे, उसी प्रकार अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव की लगन लगाकर उसमें एकाग्र होने के बदले, मार्ग भूलकर "मैं पर का करूँ"—ऐसी विपरीतदृष्टि से भवभ्रमण के मार्ग पर चढ़ गया है। यहाँ आचार्यदेव उसे ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व बतलाकर सीधे मार्ग (मोक्षमार्ग) पर चढ़ाते हैं। "मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ"—ऐसी ज्ञायक की लगन छोड़कर मूढ़ अज्ञानी जीव पर की कर्ताबुद्धि से, आत्मा की श्रद्धा जहाँ भस्म हो जाती है ऐसे मिथ्यात्वरूपी स्मशान में जा पहुँचा है। आचार्यदेव उसे कहते हैं कि भाई ! तेरा ज्ञायकजीवन है, उसका विरोध करके बाह्यविषयों में एकत्वबुद्धि के कारण तुझे आत्मा की श्रद्धा में क्षयरोग लग गया है, यह तेरा क्षयरोग दूर करने की औषधि है; ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर, तो तेरी कर्ताबुद्धि दूर हो जाये और क्षयरोग मिटे, अर्थात् मिथ्याश्रद्धा दूर होकर सम्यक्श्रद्धा हो। आज-कल अनेक जीवों को यह निर्णय करना कठिन होता है, किन्तु यह तो खास आवश्यक है; यह निर्णय किये बिना भवभ्रमण का अनादि-कालीन रोग दूर नहीं हो सकता। मेरा ज्ञायकस्वभाव पर का अकर्ता है, मैं अपने ज्ञायकपने के क्रम में रहकर, क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय न करे उसे अनन्त संसारभ्रमण के कारणरूप मिथ्याश्रद्धा दूर नहीं होती।

(१७८) वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

भाई ! तू विचार तो कर कि वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

यदि अव्यवस्थित कहें तो ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकता; अव्य-वस्थित परिणमन हो तो केवलज्ञान तीनकाल का ज्ञान कैसे करेगा ? मनःपर्यय, अवधिज्ञान भी अपने भूत–भविष्य के विषयों को कैसे

जानेंगे ? ज्योतिषी ज्योतिष काहे की देखेगा ? श्रुतज्ञान क्या निर्णय करेगा ? हजारों लाखों या असंख्य वर्षों के बाद भविष्य की चौवीसी में यही चौवीस जीव तीर्थंकर होंगे—यह सब किस प्रकार निश्चित होगा ? सात वारों में किस वार के बाद कौन-सा वार आयेगा, और अट्ठाईस नक्षत्रों में किस नक्षत्र के बाद कौन-सा नक्षत्र आयेगा—यह भी कैसे निश्चित् हो सकता है ? यदि अव्यवस्थित परिणमन हो तो यह कुछ भी पहले से निश्चित् नहीं हो सकता, इसलिये उसका ज्ञान ही किसीको नहीं होगा। किन्तु ऐसा ज्ञान तो होता है, इसलिये वस्तु का परिणमन व्यवस्थित—क्रमबद्ध—नियमबद्ध ही है।

—और व्यवस्थितपरिणमन हो प्रत्येक वस्तु में है, तो फिर -आत्मा उसमें फेरफार कर दे—यह बात भी नहीं रहती, मात्र ज्ञायकत्व ही रहता है। इसलिये तू अपने ज्ञायकपने का निर्णय कर और पर को बदलने की बुद्धि छोड़—ऐसा उपदेश है। पर को अव्यवस्थित मानने से तेरा ज्ञान ही अव्यवस्थित हो जाता है, अर्थात् तुझे अपने ज्ञान की ही प्रतीति नहीं रहती। और जो ज्ञान की प्रतीति करे उसे पर को बदलने की बुद्धि नहीं रहती।

(१७९) ज्ञाता के परिणमन में मुक्ति का मार्ग

ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके, स्वसन्मुख ज्ञाताभाव-रूप से क्रमबद्धपरिणमित होनेवाले जीव को पर के साथ (कर्म के साथ) कार्यकारणपना सिद्ध नहीं होता; वह कर्ता होकर अजीव का कार्य भी करे—ऐसा नहीं होता। इस प्रकार जीव अकर्ता है—ज्ञायक है—साक्षी है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ऐसा ज्ञायकपने का जो परिणमन हुआ उसमें सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र आ जाते हैं, और वही मोक्ष का कारण है।

❀ आठवाँ प्रवचन ❀

[आश्विन शुक्ला ४, वीर सं. २४८०]

भाई ! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो...अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख हो।–इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझमें ही विद्यमान है, अंतर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता करेगा तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है; इसके सिवा बाह्य में लाखों उपाय करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१८०) हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह !

आत्मा ज्ञायक है; जड़–चेतन के क्रमबद्धपरिणाम होते रहते हैं, वहाँ उनका ज्ञायक न रहकर पर में कर्तृत्व मानता है वह जीव अज्ञानी है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि-तुझे पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है; तू अजीव का कर्ता और अजीव तेरा कार्य—ऐसा नही है। जीव और अजीव क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, जिस समय जो पर्याय होना है उस समय वही होगी, वह आगे–पीछे या कम–अधिक नहीं हो सकती; द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे? उसमें दूसरे की अपेक्षा क्या हो? इसलिये हे जीव! तू ज्ञायकरूप ही रह। तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है, तू अपने ज्ञातास्वभाव में अभेद होकर निर्विकल्प प्रतीति कर। स्वसन्मुख होकर ज्ञाताभावरूप ही परिणमन कर; किन्तु मैं निमित्त होकर पर का काम कर दूँ—ऐसी दृष्टि छोड़ दे।

(१८१) भाई, तू ज्ञायक पर दृष्टि कर, निमित्त की दृष्टि छोड़ !

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि "निमित्त होकर हम दूसरे का कार्य कर दें"—यह भी विपरीतदृष्टि है। भाई, वस्तु की क्रमबद्धपर्याय जब स्वयं उससे होती है तब सामने दूसरी वस्तु निमित्तरूप से होती

है—इसका नाम निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है; किन्तु अवस्था न होना हो और निमित्त आकर कर दे—ऐसा कोई निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्य स्वय ही अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये निमित्त से कुछ होता है—यह बात ही उड़ जाती है। आत्मा अजीव का कर्ता नहीं है;—इसे समझने का फल तो यह है कि तू पर के ऊपर से दृष्टि उठाकर, अपने अभेद ज्ञायकआत्मा पर दृष्टि रख; स्वसन्मुख होकर आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति कर। "मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु निमित्त बनकर पर का कार्य करूँ'-यह बात भी इसमें नहीं रहती, क्योंकि ज्ञायकोन्मुख जीव पर की ओर नहीं देखता,—ज्ञायक की दृष्टि में पर के साथ के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का भी लक्ष छूट गया है; उसमें तो अकेले ज्ञायकभाव का ही परिणमन है। अज्ञानी तो निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के बहाने कर्ता–कर्मपना मान लेते हैं, उसकी बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि एकबार पर के साथ के निमित्त-नैमित्तिकसम्बध को भी दृष्टि में से छोड़कर अकेले ज्ञायकस्वभाव को ही दृष्टि में ले, दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक में एकाग्र कर तो सम्यग्दर्शन हो। ऐसी अन्तर की सूक्ष्म बात है, उसमें "निमित्त आये तो होता है और निमित्त न आये तो नहीं होता"—ऐसी स्थूल बात तो कहीं दूर रह गई!—उसे अभी निमित्त को ढूँढ़ना है, किन्तु ज्ञायक को नहीं ढूँढ़ना है, अंतर में ज्ञायकोन्मुख नहीं होना है। जिसे अपने ज्ञायकपने की प्रतीति नहीं है वह जीव निमित्त बनकर पर को बदलना चाहता है। भाई! परद्रव्य उनकी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और तू अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है;—फिर उसमें कोई किसी का निमित्त होकर उसके क्रम में कुछ फेरफार कर दे—यह बात कहाँ रही! क्रमबद्धपर्याय से रहित ऐसा कौन-सा समय है कि दूसरा कोई आकर कुछ फेरफार करे? द्रव्य में अपनी क्रमबद्धपर्याय से रहित कोई समय नहीं है। इसलिये ज्ञायकोन्मुख होकर तू ज्ञाता रह

जा। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो सर्व विपरीत मान्यताओं का नाश हो जाये।

(१८२) क्रमबद्धपरिणमित होनेवाले द्रव्यों का अकार्य-कारणपना

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़ अपने-अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होते हैं; इस प्रकार उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य अपने परिणाम के साथ तद्रूप है, किन्तु अन्य के साथ उन्हें कारणकार्यपना नहीं है। इसलिये जीव कर्ता होकर अजीव का कार्य करे—ऐसा नहीं होता, इसलिये जीव अकर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी उस-उस समय की क्रमबद्धपर्याय के साथ अनन्य है; यदि दूसरा कोई आकर उसकी पर्याय में हाथ डाले तो उसे पर के साथ अनन्यपना हो जाये, इसलिये भेदज्ञान न रह कर दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि हो जाये। भाई! क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करेगा? —ऐसी समझ वह भेदज्ञान का कारण है। वस्तु-स्वभाव ही ऐसा है, उसमें दूसरा कुछ हो सके ऐसा नहीं है; दूसरे प्रकार से माने तो मिथ्याज्ञान होता है।

(१८३) भेदज्ञान के बिना निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध का ज्ञान नहीं होता।

देखो, यह इस शरीर की उँगली ऊँची-नीची होती है वह अजीव-परमाणुओं की क्रमबद्धपर्याय है, और उस पर्याय में तन्मयरूप से अजीव उत्पन्न हुआ है, जीव उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये आत्मा ने उँगली की पर्याय में कुछ किया—यह बात झूठ है। और इस प्रकार छहों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से परिणमित होते हैं,—ऐसी स्वतंत्रता जानकर भेदज्ञान करे तभी, निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध का यथार्थ ज्ञान होता है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है और न आये तो नहीं होता— ऐसा माने तो वहाँ निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध सिद्ध नहीं होता, किन्तु कर्ताकर्मपने की मिथ्यामान्यता हो जाती है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है

—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा माननेवाले हैं वह जीव द्रव्य के क्रमबद्धस्वतंत्रपरिणमन को न जाननेवाले, ज्ञानस्वभाव को न माननेवाले, और पर में कर्तृत्व माननेवाले मूढ हैं।

(१८४)—"किन्तु व्यवहार से तो कर्ता है न....!"

"व्यवहार से तो निमित्त कर्ता है न?" ऐसा अज्ञानी कहते हैं; किन्तु भाई! "व्यवहार से तो कर्तापना है"—ऐसा जोर देकर तू क्या सिद्ध करना चाहता है? व्यवहार के नाम से तुझे अपनी एकत्वबुद्धि ही दृढ़ करना है? "किन्तु व्यवहार से कर्ता" यानी वास्तव में अकर्ता—ऐसा तू समझ। एक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय के समय दूसरी वस्तु भी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती हुई निमित्तरूप से भले हो, यहाँ जो पर्याय है, और उसी समय सामने जो निमित्त है, वे दोनों सुनिश्चित् ही हैं।—ऐसा व्यवस्थितपना जो जानता है उसे "निमित्त आये तो होता है, और न आये तो नहीं होता"—यह प्रश्न ही नहीं उठता।

(१८५) सम्यग्दर्शन की सूक्ष्म बात

दूसरे—यहाँ तो इससे भी सूक्ष्म बात यह है कि, ज्ञायक पर दृष्टि करने से निमित्त–नैमित्तिकसंबन्ध की दृष्टि भी छूट जाती है। निमित्त–नैमित्तिकसम्बंध पर ही जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि पर के ऊपर है; और जबतक पर के ऊपर दृष्टि है तबतक निर्विकल्पप्रतीतिरूप सम्यक्त्व नहीं होता। अकेले ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर एकाग्र हो तभी सम्यग्दर्शन होता है और निर्विकल्प आनंद का वेदन होता है।—ऐसी दशा बिना धर्म का प्रारंभ नहीं होता।

(१८६) जिसे आत्महित करना है उसे बदलना ही पड़ेगा!

अहो, आत्मा के हित की ऐसी श्रेष्ठ बात!! ऐसी बात को एकान्तवाद कहना या गृहीतमिथ्यादृष्टि के नियतवाद के साथ इसकी

तुलना करना वह तो जैनशासन का ही विरोध करने जैसा महान गजब है! "स्याद्‌वाद नहीं है, एकान्त है, नियत है, छूत की बीमारी है"—इत्यादि कहकर विरोध करनेवाले सभीको बदलना पड़ेगा, यह बात तीनकाल में नहीं बदल सकती। इससे विरुद्ध कहनेवाले भले ही चाहे जैसे महान त्यागी या विद्वान माने जाते हों तथापि उन सबको बदलना पड़ेगा—अगर उन्हें आत्मा का हित करना है तो।

(१८७) गम्भीर रहस्य का दोहन

आचार्यभगवान ने इन चार गाथाओं में (३०८ से ३११ में) पदार्थस्वभाव का अलौकिक नियम रख दिया है, और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अद्‌भुत की है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने संक्षेप में द्रव्यानुयोग को गंभीरतापूर्वक समा दिया है, और अमृतचंद्राचार्यदेव ने टीका में उसका रहस्य खोल दिया है। जिस प्रकार भैंस के पेट में जो दूध भरा हो वही दुहने से बाहर आता है, उसी प्रकार सूत्र में और टीका में जो रहस्य भरा है उसीका यह दोहन हो रहा है, जो मूल में है उसीका यह विस्तार है।

(१८८) संपूर्ण द्रव्य को साथ ही साथ रखकर अपूर्व बात!

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि अजीव के साथ उसे कारण–कार्यपना नहीं है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि "दवियं जं उप्पज्जइ"....अर्थात् प्रतिसमय अपने नये–नये परिणामरूप से द्रव्य ही स्वयं उत्पन्न होता है। पहले समय में कारण–कार्यरूप से जो द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव हैं, वे चारों दूसरे समय में कुलाँट मारकर दूसरे समय के कारण–कार्यरूप से परिणमित हो जाते हैं; अकेले परिणाम ही पलटते हैं और द्रव्य नहीं पलटता—ऐसा नहीं है; क्योंकि परिणामरूप से द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है। चक्की के दो पाटों की भाँति द्रव्य और पर्याय में भिन्नत्व नहीं है; इसलिये जिस प्रकार चक्की में ऊपर का पाट घूमता है और

नीचे का बिलकुल स्थिर रहता है—ऐसा नहीं है। पर्यायरूप से कौन परिणमित हुआ? तो कहते हैं वस्तु स्वयं। आत्मा और उसके अनन्तगुण, प्रतिसमय नई–नई पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, उस पर्याय में वे तद्रूप हैं। इसलिये पर्याय अपेक्षा से देखने पर द्रव्य–क्षेत्र-काल और भाव—चारों दूसरे समय पलट गये हैं। द्रव्य और गुणों की अपेक्षा से सदृशता ही है, तथापि पहले समय के जो द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव हैं वे पहले समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न (परिणमित) हुए हैं, और दूसरे समय में वे द्रव्य–क्षेत्र–भाव तीनों पलटकर दूसरे समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं ही परिणमित होता है। दूसरे समय की पर्याय "ज्यों की त्यों" भले हो, किन्तु द्रव्य की पहले समय जो तद्रूपता थी वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है। अहो, पर्याय–पर्याय में सारे द्रव्य को साथ ही साथ लक्ष में रखा है। द्रव्य का यह स्वरूप समझे तो पर्याय-पर्याय में द्रव्य का अवलंबन वर्तता ही रहे इसलिये द्रव्य की दृष्टि में निर्मल-निर्मल पर्यायों की धारा बहती रहे....ऐसी अपूर्व यह बात है।

(१८६) मुक्ति का मार्ग

पर्यायरूप से उत्पन्न कौन हुआ? कहते हैं द्रव्य! इसलिये अपने को अपने ज्ञायकद्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है; दूसरा आकर इसका कुछ कर दे, अथवा यह किसी दूसरे का कुछ करने जाये यह बात कहाँ रहती है? भाई! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो.. अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर देख।—इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझी में विद्यमान है; अंतर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता कर तो छूटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है; इसके सिवा बाह्य में लाखों प्रयत्न करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१६०) "ज्ञायक" ही ज्ञेयों का ज्ञाता है

अपने क्रमबद्धपरिणामों में तद्रूप वर्तता हुआ द्रव्य प्रवाहक्रम में दौड़ता ही जाता है; आयतसामान्य अर्थात् दौड़ता-प्रवाह-उसमें तद्रूपता से द्रव्य उत्पन्न होता है। द्रव्य के प्रदेश सब एकसाथ (विस्तार सामान्यसमुदायरूप से) विद्यमान है, और पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्धप्रवाहरूप से वर्तती है। द्रव्य के क्रमबद्धपरिणमन की धारा को रोकने, तोड़ने या बदलने में कोई समर्थ नहीं है। मैं ज्ञायक, जगत के द्रव्य-गुण-पर्यायों को—जिस प्रकार वे सत् है उसी प्रकार-जाननेवाला हूँ;—इस प्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करने की यह बात है। जो ज्ञायक का निर्णय करे वही ज्ञेयों को यथार्थरूप से जानता है।

(१६१) यह है, ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व

द्रव्य-क्षेत्र और भाव, पहले समय की उस पर्याय में तद्रूप है; वह पर्याय बदलकर दूसरी हुई, तब दूसरे समय की उस पर्याय में तद्रूप हैं।—इस प्रकार वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चारों प्रतिसमय पलटकर नई-नई अवस्थारूप से उत्पन्न होते है, इसलिये उसी पर्याय के साथ उन्हे कारण-कार्यपना है, किन्तु दूसरी के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। देखो, यह ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व !

(१) ज्ञायकभाव पर से तो भिन्न,

(२) रागादि के भावों से भी भिन्न,

(३) एक पर्याय, आगे-पीछे की दूसरी अनंत पर्यायों से भिन्न,

(४) एक गुण दूसरे अनन्त गुणों से भिन्न, और

(५) द्रव्य-गुण की पहले समय में जिस पर्याय के साथ तद्रूपता थी वह तद्रूपता दूसरे समय नहीं रही, किन्तु दूसरे समय दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है।

—देखो यह सत्य के श्रद्धान होने की रीति! यह बात लक्ष में लेने से सम्पूर्ण ज्ञायक द्रव्य–दृष्टि के समक्ष आ जाता है।

(१६२) "जीवंत वस्तुव्यवस्था और ज्ञायक का जीवन"—उसे जो नहीं जानता वह मूढ़ "मरे हुए को जीवित, और जीवित को मरा हुआ मानता है।"

जिस प्रकार कोई अज्ञानी प्राणी मुर्दे को जीवित मानकर उसे जिलाना चाहे—खिलाना–पिलाना चाहे, तो कहीं मुर्दा जीवित नहीं हो सकता और उसका दुःख दूर नहीं हो सकता; (यहाँ रामचन्द्रजी का उदाहरण नहीं देते, क्योंकि रामचन्द्रजी तो ज्ञानी सम्यक्त्वी थे) किन्तु मुर्दे को मुर्दारूप से जाने तो उसकी भ्रमणा का दुःख दूर हो। उसी प्रकार परवस्तु के साथ कर्ता–कर्मपने का अत्यन्त अभाव ही है, (मुर्दे की भाँति), तथापि जो वैसा मानता है कि—पर का भी करता हूँ, वह अभाव को अभावरूप न मानकर, पर का अपने में सद्भाव मानता है; उस विपरीत मान्यता से वह दुःखी ही है।

अथवा, जिस प्रकार कोई जीवित को मरा हुआ माने तो वह मूढ़ है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वभाव से जीवित है, ज्ञायकपना ही उसका जीवन है; उसके बदले जो उसे पर का कर्ता मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात करता है, इसलिये वह महान हिंसक है। और, परवस्तु भी जीवित (स्वयं परिणमित) है; उसके बदले में उसे परिणमित करता हूँ—ऐसा जिसने माना उसने परवस्तु को जीवित नहीं माना, किन्तु मरा हुआ अर्थात् परिणमनरहित माना है। स्वतंत्र परिणमित वस्तु का जो पर के साथ कर्ता–कर्मपना मानता है वह जीवंत वस्तुव्यवस्था को नहीं जानता। समयसार गा. ३५६ से ३६५ की टीका में भी कहा है कि—"जिसका जो हो वह वही होता है; जैसेकि—ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा

ही है"-ऐसा तात्त्विकसम्बन्ध जीवंत है।" देखो, यह जीवंत सम्बन्ध!! आत्मा का अपने ज्ञानादि के साथ एकता का सम्बन्ध जीवंत है, किन्तु पर के साथ कर्ताकर्मपने का सम्बन्ध किंचित् भी जीवंत नहीं है। यदि परद्रव्य आत्मा का कार्य हो अर्थात् आत्मा पर का कार्य करे, तो वह परद्रव्य आत्मा ही हो जाये; क्योंकि जो जिसका कार्य हो वह उससे पृथक् नहीं होता। किन्तु ज्ञायकआत्मा का पर के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि जो पर के साथ कर्ताकर्म का सम्बन्ध मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात कर देता है और मुर्दे को जीवित करना चाहता है, वह मूढ़-मिथ्यादृष्टि है। सभी द्रव्य स्वयं परिणमित होकर अपनी क्रमसर पर्यायों में तद्रूपतापूर्वक वर्तते हैं—ऐसी जीवंत वस्तुव्यवस्था है; उसके बदले दूसरे के द्वारा उसमें कुछ फेरफार होना माने, तो उससे कहीं वस्तुव्यवस्था तो नहीं बदल जायेगी किन्तु वैसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि होगा।

चारों ओर से एक ही धारा की बात है; किन्तु जो पात्र होकर समझना चाहे उसीकी समझ में आती है। द्रव्य के क्रमबद्धप्रवाह को कोई दूसरा बीच में आकर बदल दे—ऐसा जीवन्त वस्तु में नहीं है, इसलिये स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ, उसे ज्ञायकभाव की परिणमनधारा में बीच में राग का कर्तृत्व आ जाये—ऐसा ज्ञायक के जीवन में नहीं है; तथापि ज्ञायक को राग का कर्ता माने तो वह जीवंतवस्तु को नहीं जानता —ज्ञायक के जीवन को नहीं जानता।

ज्ञायकजीव को अपने निर्मलज्ञानपरिणाम का कर्तापना हो—ऐसा संबंध जीवित है, किन्तु ज्ञायकजीव को अजीव का कर्तृत्व हो —ऐसा संबंध जीवित नहीं है। ज्ञानी को ज्ञायकभाव के साथ का संबंध जीवित है और मोह के साथ का संबंध मर गया है;—ऐसा है ज्ञाता का जीवन!

(१६३) कर्ताकर्मपना अन्य से निरपेक्ष है, इसलिये जीव अकर्ता है, ज्ञायक है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जीव कर्ता और अजीव उसका कर्म—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कर्ता–कर्म की अन्य से निरपेक्षतया सिद्धि है; एक वस्तु के कर्ता–कर्म में बीच में दूसरे की अपेक्षा नहीं है। क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होनेवाला द्रव्य ही कर्ता होकर अपने पर्यायरूप कर्म को करता है; वहाँ "यह हो तो ऐसा हो"—इस प्रकार अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। पर की अपेक्षा के बिना अकेले स्वद्रव्य में ही कर्ताकर्म की सिद्धि हो जाती है। यह निश्चय है,—ऐसी निश्चय वस्तुस्थिति का ज्ञान हो गया, तब दूसरे निमित्त को जानना वह व्यवहार है। वहाँ भी, इस वस्तु का कार्य तो उस निमित्त से निरपेक्ष ही है—निमित्त के कारण इस कार्य में कुछ हुआ—ऐसा नहीं है। व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहा जाता है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि उसने कार्य में कुछ भी कर दिया! "व्यवहार–कर्ता" का अर्थ ही "वास्तव में अकर्ता" है। कर्ता-कर्म अन्य से निरपेक्ष हैं, इसलिये निमित्त से भी निरपेक्ष हैं; अन्य किसी की अपेक्षा बिना ही पदार्थ को अपनी पर्याय के साथ कर्ता-कर्मपना है। प्रत्येक द्रव्य के छहों कारक (कर्ता–कर्म–करणादि) अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष हैं, और अपने स्वद्रव्य में ही उनकी सिद्धि होती है। कर्ता–कर्म–कारण–संप्रदान–अपादान और अधिकरण,—यह छहों कारक जीव के जीव में हैं और अजीव के अजीव में हैं।—ऐसा होने से जीव को अजीव का कर्तापना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, किन्तु जीव अकर्ता ही है—ज्ञायक ही है—ऐसा बराबर सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(१६४) यह "क्रमबद्धपर्याय के पारायण का सप्ताह" आज पूरा होता है......

(१६५) यह समझ ले उसे क्या करना चाहिये ?—सारे उपदेश का निचोड़ !

प्रश्नः—लेकिन यह बात समझने के बाद क्या ?

उत्तर :— भीतर ज्ञायक में स्थिर होना इसके सिवा और क्या करना है ? क्या तुझे बाह्य में उछल–कूद करना है ? या पर का कुछ कर देना है ? यह ज्ञायकस्वरूप समझने से स्वय ज्ञायकसन्मुख होकर ज्ञातारूप से रहा, और राग के कर्तारूप नहीं हुआ—यही इस समझ का फल है। "मैं ज्ञायक हूँ" ऐसा समझा, वहाँ ज्ञायक क्या करेगा ? ज्ञायक तो ज्ञाता दृष्टापने का ही कार्य करता है। ज्ञायक को पर का या राग का काम करने का जो मानता है वह ज्ञायक-स्वभाव को समझा ही नहीं है और न क्रमबद्धपर्याय को समझा है। भाई ! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर उसमें एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की क्रमबद्धपर्याय विकसित होती जाती है,—और यही सभी उपदेश का निचोड़ है। सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार की इन चार गाथाओं में आचार्य देव ने सारा निचोड़ भर दिया है। "सर्वविशुद्धज्ञान" अर्थात् ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा ! उसकी प्रतीति कर, और क्रमबद्धपर्याय को यथावत् जान।

(१६६) ज्ञायकभगवान जागृत हुआ....वह क्या करता है ?

इस ज्ञायक की प्रतीति की वहाँ उस ज्ञायकभूमि में ही पर्याय उछलती है,—ज्ञायक का ही आश्रय करके निर्मलरूप से उत्पन्न होती है, किन्तु रागादि का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होती। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई वहाँ पर्याय उछलती है—अर्थात् निर्मल–निर्मल-रूप से बढ़ती ही जाती है। अथवा—द्रव्य उछलकर अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय में कूदता है,—उस पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है, किन्तु कहीं बाह्य में नहो कूदता। पहले ज्ञायक के भान बिना मिथ्यात्व-दशा में सोता था, उसके बदले अब स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायक-

भगवान जागृत हुआ वहाँ वह अपनी निर्मल पर्याय में उछलने लगा; अब बढ़ती हुई निर्मलपर्याय में कूदते–कूदते वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

(१६७) "क्रमबद्ध" के ज्ञाता को मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय तो अज्ञानी को भी है न?

उत्तरः—भाई, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप जो समझे उसे अपने में अज्ञान रहता ही नहीं। वह ऐसा जानता है कि ज्ञानी को, अज्ञानी को या जड़ को,—सभी को क्रमबद्धपर्याय है; किन्तु उसमेंः—

—ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मल–निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है,

—अज्ञानी को विपरीतदृष्टि में मलिन क्रमबद्धपर्याय होती है, और

—जड़ की क्रमबद्धपर्याय जड़रूप होती है।

—ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अपनेमें तो मिथ्यात्वादि मलिन पर्याय का क्रम रहता ही नहीं है, क्योंकि उसका पुरुषार्थ तो अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिये उसे तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का क्रम प्रारंभ हो गया है। यदि ऐसी दशा न हो तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का रहस्य नहीं समझा है—मात्र बातें करता है।

(१६८) "चैतन्यचमत्कारी हीरा"

यहाँ आचार्यभगवान ने जीव को उसका ज्ञायकपना समझाया है—भाई! तेरा आत्मा ज्ञायक है...."चैतन्यचमत्कारी हीरा" है; तेरा आत्मा प्रतिसमय ज्ञाता–दृष्टापने की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होकर जाने—ऐसा ही तेरा स्वभाव है। किन्हीं पर पदार्थों की अवस्था को बदलने का स्वभाव नहीं है; इसलिये पर की कर्ताबुद्धि छोड़ और अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकरूप ही रह।

(१६६) चैतन्यराजा को ज्ञायकभाव की राजगद्दी पर बिठाकर सम्यक्त्व का तिलक होता है वहाँ विरोध करके पर को बदलना चाहता है, उसके दिन फिरे है !

अहो, ऐसी परम सत्य बात समझाकर आचार्यदेव आत्मा को उसके ज्ञायकस्वभाव को राजगद्दी पर बिठाते हैं....आत्मा में सम्यक्त्व का तिलक करते हैं...किन्तु विपरीतदृष्टिवाले मूढ़ जीव ऐसी सत्य बात का विरोध करते हैं, उन्हें ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु पर के कर्तृत्व का अभिमान करके अभी संसार में भटकना है। राजा नवघरण को एकबार एक सुन्दर चारण युवती तिलक करने आई। उस समय उस सुन्दरी का रूप देखकर राजा की दृष्टि बिगड़ी; इसलिये जब वह युवती तिलक करने लगी कि राजा ने अपना मुँह दूसरी दिशा में फेर लिया। युवती दूसरी दिशा में गई तो राजा ने तीसरी दिशा में मुँह कर लिया। अन्त में उस युवती ने अपनी सासू से कहा कि—सासूजी, "राय फिरते हैं।" उसकी सास राजा का हृदय समझ गई, इसलिये उसने उत्तर दिया कि—"बेटा ! राय नहीं फिरते..राय के दिन फिरते हैं।"

उसी प्रकार यहाँ श्री गुरु जीव को उसके ज्ञायकस्वभाव के सिंहासन पर बिठाकर, तीनलोक के ज्ञानसाम्राज्य का राजतिलक करते हैं..."अरे जीव ! अन्तर में ज्ञायकभगवान की प्रतीति करके राजस्थान में बैठने का (उत्कृष्ट स्वभाव में एकाग्र होने का) अवसर आया है, सम्यग्दर्शनरूपी राजतिलक करने का सुअवसर आया है...अरे चैतन्य-राजा ! बैठ अपने ज्ञायकस्वभाव की गद्दी पर...यह तुझे राजतिलक होता है।"

वहाँ जिन्हें विकार की रुचि है—ऐसे विपरीत दृष्टिवाले मूढ़ जीव (राय नवघण की भाँति मुँह फेरकर) कहते हैं कि—अरे ! ऐसा नहीं....ऐसा नहीं...हम तो पर को बदल देंगे..." यानी उन्हें

ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु विकारीदृष्टि रखकर पर को बदलना है। किन्तु अरे मूढ़ जीवो! तुम किसीकी पर्याय नहीं बदल सकते, तुम ज्ञायकसन्मुख नहीं होते और पर की ओर मुँह फेरते हो इसलिये तुम्हारे दिन फिरे हैं—तुम्हारी दृष्टि विपरीत हुई है। ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बैठकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र-रूपी तिलक करने का अवसर आया, उस समय ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके स्वसन्मुख होने के बदले अज्ञानी जीव उसे विपरीत मानते हैं और "एकान्त है, रे! एकान्त है..." ऐसा कहकर विरोध करते हैं। अरे! उनके दिन फिरे हैं; ज्ञायकोन्मुख होकर निर्मल स्वकाल होना चाहिये उसके बदले वे मिथ्यात्व का पोषण करते हैं इसलिये उनके दिन फिरे हैं।

(२००) "केवली के नन्दन" बतलाते हैं—केवलज्ञान का पथ

भगवान! तेरा आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है; वह ज्ञायक रागादि भावों का अकर्ता है। ज्ञायकोन्मुख होने से जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ तथा अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रगट हुआ उसका कर्ता–भोक्ता आत्मा है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता–भोक्तापना उसमें नहीं है। ऐसे चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके ज्ञाताद्दष्टारूप रहना और उसमें स्थिर होना—यही करना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर अपने में स्थिर हुआ वहाँ जीव रागादि का अकर्ता ही है और कर्म का भी अकर्ता है वह कर्मबंधन का निमित्त-कर्ता भी नहीं है इसलिये उसे बंधन होता ही नही;—अब ज्ञायकस्वभाव-सन्मुख रहकर ज्ञाता–दृष्टापने के निर्मल–निर्मल परिणामोंरूप परिणमित होने से उसके रागादि सर्वथा दूर हो जायेंगे और केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा।—यही केवलज्ञान का पंथ है।

★

सूचना

इस अंक के साथ ही 'आत्मधर्म' का दसवाँ वर्ष पूरा हो रहा है, अतः ग्राहकों से निवेदन है कि आगामी वर्ष के लिये शीघ्र मनी-आर्डर द्वारा ३) रुपये भेजकर ग्राहक बन जायें! यदि जिन महानुभावों को किसी कारण से आगामी वर्ष ग्राहक न रहना हो, तो पत्र द्वारा अवश्य सूचित कर दें जिससे 'जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़' को व्यर्थ ही आर्थिकक्षति न हो। वी. पी. से अंक मंगाने में नौ आने अधिक खर्च होंगे।

यदि किसी महाशय ने मनीआर्डर भेज दिया हो और कार्यालय से वी. पी. हो गई हो, तो उसे स्वीकार कर सूचित कर दें जिससे आगामी वर्ष के लिये शुल्क निश्चित हो जाये।

'क्रमबद्धपर्याय-प्रवचन दूसरा भाग' ज्येष्ठ मास के अंक नं. १२२ में प्रकाशित हो रहा है।

—प्रकाशक

सम्यक्त्वी की परिणति

मैं अखण्ड ज्ञायक चिदानन्द स्वरूप हूँ—ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ हो उसके स्वभावसन्मुख उद्यम बना ही रहता है; वह स्वच्छन्दरूप से रागादि में प्रवर्तन नहीं करता; अभी अल्प विकार होता अवश्य है, किन्तु रुचि की सन्मुखता तो ज्ञानानन्द स्वभाव की ओर ही रहती है;—विकार की रुचि नहीं है—भावना नहीं है, इसलिये स्वच्छन्दरूप से विकार होता ही नहीं। जिसे अन्तर्दृष्टि हुई है ऐसे सम्यक्त्वी के तो ऐसी परिणति सदैव वर्तती ही रहती है।

—किन्तु जिसके अभी अन्तर्स्वभाव के सन्मुख दृष्टि नहीं है, विकार की रुचि दूर नहीं हुई है और अपने को सम्यक्त्वी मान कर स्वच्छन्दरूप से रागादि में वर्तता है ऐसे निश्चयाभासी जीव को ज्ञानी समझाते हैं कि अरे भाई! अपने परिणाम का तू विवेक कर।